गुणीभूतव्यङ्ग्य का सिद्धान्त
और
बृहत्त्रयी में उसका प्रयोग

(GUṆIBHŪTAVYANGYA KĀ SIDDHĀNTA
AUR
BṚHATRAYĪ MEN USAKĀ PRAYOGA)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिये प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

●

निर्देशिका
डॉ० (श्रीमती) ज्ञानदेवी श्रीवास्तव
एम० ए० (गोल्ड मेडलिस्ट) डी० फिल्०
रीडर, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इ ला हा बा द

शोधकर्त्री
(श्रीमती) नन्दिता श्रीवास्तव
एम० ए० (संस्कृत)

संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इ ला हा बा द
१ ९ ८ ७

प्राक्कथन

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का विषय-- "गुणीभूतव्यङ्ग्य का सिद्धान्त और बृहत्त्रयी में उसका प्रयोग" है । प्रारम्भ से ही मेरी "संस्कृत" के प्रति विशेष रुचि रही है । एम० ए० के पाठ्यक्रम में श्रीमदानन्दवर्धनाचार्य द्वारा प्रणीत "ध्वन्यालोक" के प्रथमोद्योत का अध्ययन करने पर , आनन्दवर्धन के "ध्वनि-सिद्धान्त" के प्रति मेरी विशेष रुचि उत्पन्न हो गई एवं इसी दिशा में शोध-कार्य करने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई ।

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास का अध्ययन करते हुए मैंने यह अनुभव किया कि आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित सर्वथा नवीन "ध्वनि-सिद्धान्त" , जिसमें "ध्वनि" को काव्य की आत्मा माना गया है , काव्यशास्त्र का मान्यतम सिद्धान्त है । इस क्षेत्र में अत्यधिक विस्तृत अध्ययन किया गया है एवं इस विषय से सम्बन्धित अनेक शोध प्रबन्ध भी प्रकाशित हो चुके हैं । आनन्दवर्धन ने काव्य के दो भेद माने हैं -- ध्वनि एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य । आनन्दवर्धन दोनों काव्य-भेदों को समान रूप से सुन्दर एवं चारुत्व-युक्त काव्य-भेद मानते हैं , दोनों काव्य-भेदों के विभाजन का आधार व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता एवं अप्रधानता ही है । आनन्दवर्धन ने किसी काव्य-भेद को उत्तम या मध्यम संज्ञा नहीं प्रदान की है परन्तु फिर भी विचारकों द्वारा गुणीभूत-व्यङ्ग्य काव्य-भेद के प्रति उपेक्षा का व्यवहार किया गया है एवं इस क्षेत्र में पर्याप्त अध्ययन नहीं किया गया है ।

दोनों काव्य-भेदों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए मैंने यह अनुभव किया कि गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य भी चारुत्व-युक्त होने के

कारण उच्चकोटि का काव्य है । चूँकि इस विषय पर अधिक विचार नहीं किया गया है अत: मैंने गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य -भेद पर ही शोध-कार्य करने का निश्चय किया ।

आचार्य आनन्दवर्धन की सरणि पर आचार्य मम्मट ने अपने मत का प्रतिपादन कियाहै तथा अधिकांश परवर्ती आचार्यों ने मम्मट के मत का अनुसरण ही किया है । अत: प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में ध्वनिकार, एवं मम्मट के मतों का विस्तृत विवेचन करने के अनन्तर परवर्ती आचार्यों का विवेचन संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में तीन अध्याय हैं । प्रथम अध्याय में ध्वनिकार, मम्मट एवं मम्मटोत्तर प्रवीन आलंकारिकों के मतानुसार "गुणीभूतव्यङ्ग्य का सैद्धान्तिक विवेचन" प्रस्तुत किया गया है । द्वितीय अध्याय में "बृहत्त्रयी का सामान्य परिचय" प्रस्तुत किया गया है, जिसमें बृहत्त्रयी के रचयिताओं का पौर्वापर्य निर्धारित करने की दृष्टि से काल-निर्णय एवं बृहत्त्रयी-संज्ञक महाकाव्यों की सामान्य विशेषताओं का उल्लेख किया गया है । तृतीय अध्याय में मम्मटकृत अष्टविध विभाजन के आधार पर गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य के आठ भेदों के कुछ स्थलों का बृहत्त्रयी संज्ञक महाकाव्यों से उदाहरण प्रस्तुत कर विवेचन किया गया है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का निर्देशन डा० ज्ञान देवी श्रीवास्तव, (रीडर संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद) ने किया है । उन्होंने अपने अथक परिश्रम एवं कुशल निर्देशन द्वारा ध्वन्यालोक एवं काव्य प्रकाश के दुरूह स्थलों का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत कर मेरा उचित मार्गदर्शन किया । अपने अति व्यस्त समय में भी प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का परीक्षण कर तथा उपयोगी सुझाव प्रस्तुत कर

इसका परिष्कार एवं परिमार्जन किया है , जिसके फलस्वरूप मैं इस दुष्कर कार्य को सम्पन्न करने में सफल हो सकी एतदर्थ मैं उनकी आत्मीयता, सहृदयता एवं प्रेरणा की चिरऋणी रहूँगी । इसके अतिरिक्त मैं अपने पूज्य गुरु प्रोफेसर सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, विभागाध्यक्ष संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद के प्रति भी अत्यन्त कृतज्ञ हूँ , जिन्होंने उचित मार्ग निर्देशन एवं प्रेरणाओं द्वारा शोध-कार्य को सफलता पूर्वक सम्पन्न कराने में सहयोग प्रदान किया । निष्काम-भाव से छात्र के सर्वाङ्गीण विकास को चाहने वाले आप जैसे गुरुजनों के अनुग्रह से ही प्रस्तुत शोध-कार्य पूर्ण हो सका है ।

इस शोध-प्रबन्ध को प्रस्तुत करने में मुझे अनेक ख्यातिलब्ध विद्वानों की कृतियों से जो बहुमूल्य सहयोग मिला है, उन सभी ग्रन्थकारों के प्रति भी मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के सफल समापन का श्रेय श्रद्धेय गुरुजनों एवं माता-पिता के शुभाशीष को ही दिया जाता है, जिनकी प्रेरणाओं एवं मार्ग निर्देशन के फलस्वरूप प्रस्तुत दुष्कर कार्य सम्पन्न हो सका ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का अत्यन्त सावधानी एवं श्रम से टंकण कार्य करने वाले श्री राम यज्ञ वर्मा एवं श्री राम कृपाल वर्मा जी के प्रति भी आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को अन्तिम रूप प्रदान किया ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में त्रुटियों का यथासम्भव परिमार्जन करने का प्रयास किया गया है किन्तु हिन्दी-टंकण यन्त्रजन्य कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं जैसे -- सिंगिल इनवरटेड कामा । ' ' । के स्थान पर डबल इनवरटेड कामा । "--" । का प्रयोग , अवग्रह । ऽ । एवं " ॠ " वर्ण न होना ।

अन्ततः अपने गुण दोषों के साथ प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, साहित्य के सुधी परीक्षकों के समक्ष परीक्षण-हेतु प्रस्तुत किया जा रहा है।

नन्दिता श्रीवास्तव

(श्रीमती नन्दिता श्रीवास्तव)
संस्कृत विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद।

दिनांक
९-१२-१९८८.

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय - पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

पृष्ठ संख्या

प्रथम अध्याय

गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्वरूप

****

"गुणीभूतव्यङ्ग्य का पूर्ववर्ती साहित्य में स्थान"

संस्कृत काव्याकाश के देदीप्यमान नक्षत्र श्रीमदानन्दवर्धनाचार्य द्वारा प्रतिपादित काव्य-प्रकारों में "गुणीभूतव्यङ्ग्य" नामक काव्य-विधा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है । इस गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य का उद्भव उतना ही प्राचीन है, जितना काव्य स्वयं, परन्तु इस काव्य- विधा का इस नाम से विवेचन करने वाले प्रथम आचार्य आनन्दवर्धन हैं । काव्य में व्यङ्ग्यार्थ को मान्यता देने वाले, आनन्दवर्धन प्रथम आचार्य हैं । काव्य में व्यङ्ग्यार्थ के प्राधान्य, एवं अप्राधान्य के आधार पर उन्होंने काव्य के दो भेद किये हैं -- (1) ध्वनि-काव्य, (2) गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य ।

(1) ध्वनि-काव्य - जिसमें व्यङ्ग्यार्थ प्रधान हो , शब्द एवं वाच्यार्थ गौण हों ।

(2) गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य -- जिस काव्य में व्यङ्ग्यार्थ, वाच्यार्थ का उपस्कारक हो एवं सौन्दर्य का पर्यवसान वाच्यार्थ में ही हो ।

इस प्रकार दोनों ही काव्य-भेद व्यङ्ग्यार्थ सापेक्ष हैं । यद्यपि पूर्वाचार्यों को व्यङ्ग्यार्थ अथवा ध्वनि (क्योंकि ध्वन्यते इति ध्वनिः इस व्युत्पत्ति से ध्वनि व्यङ्ग्यार्थ का भी पर्याय है) का किञ्चित् आभास था, परन्तु उन्होंने स्पष्ट रूप से उसका विवेचन नहीं किया था । ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका में ही कारिकाकार ने इस बात का स्पष्ट संकेत दिया है -

> " काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
> स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ।
> केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
> तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम् ।।" - ध्व० 1/1

इस कारिका में आये हुए "बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः पद से स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है कि काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वानों के द्वारा " ध्वनि नाम वाली काव्य की आत्मा " परम्परा से पहले ही समाम्नात[1] ।अर्थात् भली प्रकार चारों ओर से सभी दिशाओं में विचार करके प्रकट की गई ।थी । इस कारिका में प्रयुक्त "पूर्वः " पद से यह सुस्पष्ट होता है कि ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन पहले किया गया था, परन्तु ध्वनिकार के समय तक उस परम्परा का प्रायः लोप हो चुका था । आनन्दवर्धन से पहले आलोचना जगत् में मुख्य रूप से तीन सम्प्रदाय प्रतिष्ठित हो चुके थे - काव्यशास्त्र के क्षेत्र में - "अलंकारसम्प्रदाय "“एवं रीतिसम्प्रदाय,” नाट्यशास्त्र के क्षेत्र में - “ रससम्प्रदाय ”।

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास का आलोचनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि संस्कृत-समीक्षकों के अनेक सम्प्रदायों में विभक्त होने का मूल कारण प्रत्येक आचार्य का "काव्यात्मभूत-तत्त्वविषयक" मतभेद था ।

संस्कृत-समीक्षाशास्त्र के इतिहास में "भरत मुनि" द्वारा स्थापित रस-सम्प्रदाय सबसे प्राचीन है । उपलब्ध लक्षण-ग्रन्थों में उन्हीं का "नाट्यशास्त्र" जो कि रस-सिद्धान्त का प्रवर्तक ग्रन्थ है, प्राचीनतम प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाताहै । नाट्यशास्त्र में नाट्य के सभी अंगों-उपांगों का विस्तृत विवेचन किया गया है । नाट्य अभिनेय दृश्य-काव्य होता है । उसमें रस एवं भावों की अभिव्यक्ति अभिनय के माध्यम से होती है । नाट्य में "रस" को "प्राणभूत-तत्त्व" माना गया है।[2] भरतमुनि का --"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगद्रसनिष्पत्तिः" यह रस-सूत्र ही, रस-सिद्धान्त का आधार है । परवर्ती आचार्यों में महिमभट्ट , विश्वनाथ आदि रसवादी आचार्य हैं ।

1- परम्परया यः समाम्नातपूर्वः सम्यक् आ समन्तात् म्नातः प्रकटितः तस्य सहृदयजनमनः प्रकाशमानस्याप्यभावमन्ये जगदुः ।"ध्व0 वृत्ति पृ030, 1/1, पृ0 6

2- "न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते ।"-नाट्यशास्त्र, 6/31 पृ0 6 20

धीरे-धीरे नाट्य का आनुषंगिक काव्य संस्कृत प्राकृत आदि में महाकाव्यों, गद्य, पद्य, प्रबन्धों के प्रचुर निर्माण के कारण नाट्य से स्वतंत्र हो गया।[1] भामह ने "काव्य" को स्वतंत्र "शास्त्र" का रूप दिया तथा वे ही "अलंकार सम्प्रदाय" के प्रवर्तक माने जाते हैं।[2] उनका "काव्यालंकार" काव्यशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ है। भामह की दृष्टि में -- "अलंकार ही काव्य का सर्वातिशायी तत्त्व है"। उनके मत में "वक्रोक्ति से ही वाणी में सौन्दर्य आता है"।[3] अतः भामह इस बात पर विशेष बल देते हैं कि "प्रत्येक कवि को वक्रोक्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिए" क्योंकि उसके अभाव में कोई अलंकार सम्भव नहीं है।[4] रस, भावादि का भामह को आभास था, किन्तु उनका भी अन्तर्भाव उन्होंने अलंकारों के ही अन्तर्गत करके, रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्विन् और समाहित नाम के अलंकारों के मध्य, उनका विवेचन किया है।[5] दण्डी, उद्भट, प्रतिहारेन्दुराज, जयदेव आदि अलंकारवादी आचार्य हैं।

दण्डी, भामह के अनुयायी एवं समर्थक हैं। दण्डी के अनुसार -- "काव्य में "माधुर्य गुण" आवश्यक है, माधुर्य का अर्थ है -- "काव्यगत रसवत्ता।"[6] दण्डी ने भामह द्वारा मान्य तीन गुणों को[6] विस्तृत करके

1- भारतीय साहित्यशास्त्र-- अध्याय 3, पृ0 63 (जी0टी0देशपाण्डेय)

2- "भारतीय साहित्य शास्त्र" -- जी0टी0 देशपाण्डेय अध्या0 3

3- (क) "वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते"। काव्यालं0, 5/66

(ख) वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः। काव्यालं0 1/36

4- सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः अनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविभिः कार्यो कोऽलंकारोऽनया विना॥ --काव्यालं0 2/85

5- मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥ - काव्यादर्श 1/51

6- माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादञ्च सुमेधसः।
समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते॥
केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि। -- काव्यालं0 2/1, 2/2

दस गुण माने हैं एवं उनका मार्गों के साथ अभिन्न सम्बन्ध स्थापित किया । "गौड़ एवं वैदर्भ" को मार्ग नाम देने का श्रेय दण्डी को है ।[1]

आचार्य उद्भट ने भामह, दण्डी द्वारा निर्दिष्ट अलंकारों का परिवर्तन, परिवर्धन एवं वर्गीकरण किया है । उद्भट ने रसवत्, प्रेयस् आदि अलंकारों के विषय में नवीन दृष्टि प्रस्तुत की है । उनके रसवदादि काव्य के लक्षण में "ध्वनिकाव्य" का बीज निहित है ।[2] गुणालंकारों के भेद के विषय में उनका मत है कि दोनों शब्दार्थों में समवाय वृत्ति से रहते हैं । गुण, रस प्रतीति के "अव्यवधान-युक्त हेतु" होने के कारण काव्य को सरस तथा अलंकार - अलंकृत करते हैं ।[3]

रुद्रट ने अपने "काव्यालंकार" ग्रंथ में रस सहित काव्य के सभी अंगों की चर्चा की है । "अर्थालंकारों को वर्गीकृत करने" का उनका प्रथम प्रयास है, जो कि श्लाघ्य है ।[4] रुद्रट कृत "दोष-विवेचन" आलोचना जगत् के लिये महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है । अलंकार - ग्रन्थों में "रस- विवेचन" करने वाले वे प्रथम आचार्य हैं, जो शान्त और प्रेयान् को मिला कर दस रस मानते हैं[5]

1- श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्ति समाधयः ।।
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः ।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ।। -- काव्यादर्श 1/41, 1/42

2- रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः ।
यत्काव्यं बध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वदुदाहृतम् ।। --का०सा०सं०चतु०वर्ग 2/43

3- काव्यं खलु गुणसंस्कृतशब्दार्थशरीरत्वात्सरसमेव
भवति...... गुणाहितशोभे काव्ये अलंकाराणां
शोभातिशयविधायित्वात्लौकिकालंकारवत् । -- का०सा०सं०प्र० वर्ग पृ08।

4- अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेष ।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषा ।। -- काव्यालं० ।रुद्रट। 7/9

5- शृङ्गारवीरकरुणा बीभत्सभयानकाद्भुता हास्यः ।
रौद्रः शान्तः प्रेयानिति मन्तव्या रसाः सर्वे ।। -- काव्यालं०। रुद्रट।12/3

रुद्रट के अनुसार कोई भी आस्वाद्यमान चित्तवृत्ति रस हो सकती है ।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अलंकार-सम्प्रदाय में अनेक आचार्य हैं, जिन्होंने भामह के "काव्यात्मभूततत्त्व" के विषय में समानता रखते हुए भी अपने ग्रन्थों में काव्य के अन्य अंगों पर भी विचार प्रकट किया एवं भामह के मत का परिष्कार भी किया ।

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में आचार्य वामन द्वारा स्थापित "रीतिसम्प्रदाय" दूसरा महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय है, जिसमें " काव्य-शरीर" तथा "सौन्दर्याधायक-तत्त्व" के विवेचन की दृष्टि से, आचार्य वामन का चिन्तन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है । आचार्य वामन ने ही सर्वप्रथम काव्यलक्षण का व्यवस्थित स्वरूप स्थापित करते हुए, "अलंकृत शब्दार्थयुग्म को काव्य" की संज्ञा प्रदान की है[2], साथ ही अलंकारों को "सौन्दर्यमलङ्कारः" ।। ।काव्यालंकारसूत्राणि 1/2। के रूप में इस प्रकार समझाया है कि काव्य में सौन्दर्य ।के आधायक तत्त्व। अलंकार ही है ।[3] काव्य में यह सौन्दर्य रूप अलंकार, दोषों के परित्याग तथा गुणालंकारों के द्वारा ही सम्पादित होता है ।[4] इस प्रकार वामन के सम्पूर्ण विवेचन का सार है -- "गुण और अलंकार से संस्कृत शब्दार्थयुग्म का नाम काव्य है ।"[5]

1- रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः ।
   निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसाः ।।
   --काव्यालं०।रुद्रट। 12/4

2- काव्यं ग्राह्यम् अलंकारात् ।।-- का० सू० 1/1

3- अलंकृतिरलङ्कारः । -- का०सू० वृत्ति प्र०अध्या० पृ० 6

4- स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम् ।। --का०सू० 1/3
   वृत्ति- स खल्वलङ्कारो दोषहानाद् गुणालंकारादानाच्च सम्पाद्यः कवेः । --का०सू० वृत्ति प्र०अध्या० पृ० 8

5- काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते ।
   काव्यं खलु ग्राह्यमुपादेयं भवति अलंकारात् ।
   --का०सू० वृत्ति अध्या०प्र० 3, वृत्ति ।

आचार्य वामन ने काव्य में गुणों के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए गुणों के सम्बन्ध में लाक्षणिक प्रयोग किया है -- " रीतिरात्मा काव्यस्य "।[1]

यह "रीति" क्या है ? इस प्रश्न के समाधान में वामन का उत्तर है - " विशिष्ट पद - रचना रीति है "[2] यह वैशिष्ट्य गुण रूप है ।[3] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि काव्य रूपी शरीर की आत्मा सौन्दर्य है और यह सौन्दर्य उसमें गुणवत्ता से आविर्भूत होता है, अतः गुणों के सम्बन्ध में यह लाक्षणिक प्रयोग किया जाता है कि "रीति काव्य की आत्मा" है ।[4]

वामन द्वारा प्रतिपादित "गुण एवं अलंकारों का स्पष्ट भेद" भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । वामन यह मानते हैं कि " गुण " काव्य के "नित्य-धर्म" होते हैं क्योंकि माधुर्यादि गुणों के कारण ही काव्य में शोभा उत्पन्न होती है,[5] परन्तु वे "अलंकारों" को काव्य का "अनित्य-धर्म" मानते हैं[6] क्योंकि अलंकार, गुणों द्वारा उत्पादित शोभा के अभिवर्धक-मात्र होते हैं । वामन प्रत्येक "अर्थालंकार में उपमा सन्निहित" मानते हैं ।[7] अतः सम्पूर्ण अर्थालंकार

1- का० सू० वि०अ०, पृ० 14
2- विशिष्टा पदरचना रीतिः ।। -- का० सू० 2/7
3- ।अ। विशेषो गुणात्मा ।।- का० सू० 2/8
   ।ब। सा च त्रिधा वैदर्भी गौडी पाञ्चाली चेति ।-- का० सू० 2/9
4- अत्र रीतेरात्मत्वमिव शब्दार्थयुगलस्य शरीरत्वमौपचारिक -मित्यवगन्तव्यम् । -- का० सू० वृत्ति, पृ० 15
5- ।अ। काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः ।।-का०सू०वृ० अधि० प्र०अ०3/1
   ।ब। पूर्वे नित्याः ।। 3/3
   पूर्वे गुणाः नित्याः ।-- का०सू०वृ० अधि०, प्र०अध्या०
6- तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः ।।-- का०सू०वृ०अधि०, प्र०अध्या०, 3/2
7- सम्प्रत्यर्थालङ्काराणां प्रस्तावः । तन्मूलं चोपमेति सैव विचार्यते ।
   -- का०सू०वृ० अधि०, प्र० अध्या० ।

प्रपञ्च को उपमा का सामान्य रूप मानते हैं[1] जो कि ध्वनिकार की "अलंकार-व्यञ्जना" का परिचायक है ।

आचार्य वामन ने रसों के विषय में दण्डी का अनुकरण करते हुए रसों को "कान्ति" नामक अर्थ गुण" में अन्तर्भूत कर लिया है ।[2] केवल श्रृंगार रस का उल्लेख करके, शृंगार को अन्य रसों का उपलक्षक माना है । इस प्रकार स्पष्ट होता है कि रीति सम्प्रदाय के अनुसार, "विशिष्ट पदरचना" जिसमें रमणीय अर्थ की अभिव्यक्ति हो वही काव्यत्व की प्रयोजिका अर्थात् काव्यात्मा है ।

इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से उपर्युक्त सभी सम्प्रदायों का अवलोकन करने पर प्रतीत होता है कि पूर्ववर्ती रससम्प्रदाय, अलंकारसम्प्रदाय, तथा रीतिसम्प्रदायों ने " ध्वनिसम्प्रदाय" की सीमा का स्पर्श अवश्य किया था परन्तु सिद्धान्त रूप में इस काव्य-विधा का जन्म आनन्दवर्धनाचार्य के "ध्वन्यालोक" के साथ हुआ है ।

1- एभिर्निदर्शनैः स्वीकैः परकीयैश्च पुष्कलैः ।
शब्दवैचित्र्यगर्भेयमुपमैव प्रपञ्चिता ।। का०सू०वृ०अधि०सू०अध्या० 4/3/33

2- दीप्तरसत्वं कान्तिः ।। का० सू० 3/15
"दीप्ताः रसाः श्रृङ्गारादयो यस्य स दीप्तरसः ।
तस्य भावो दीप्तरसत्वं कान्तिः ।
एवं रसान्तरेष्वप्युदाहार्यम् ।" वृत्ति - का०सू०वृ० अधि०, द्वि०अध्या०

आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित "ध्वनि-सिद्धान्त" का विवेचन

काव्यशास्त्रीय जगत् में आचार्य आनन्दवर्धन के आविर्भाव के पूर्व काव्य के शरीर "शब्द एवं अर्थ, शब्दार्थ की चारुता के हेतु अलंकारों, माधुर्यादि गुणों, रस ~~रीति~~ आदि घटकों के विषय में पूर्ण एवं विस्तृत अध्ययन हो चुका था । ऐसे समय में श्रीमदानन्दवर्धनाचार्य द्वारा प्रतिपादित सर्वथा नवीन " ध्वनि-सिद्धान्त" ने काव्य-समीक्षा जगत् में एक अद्भुत क्रान्ति को जन्म दिया ।

ध्वनि-सिद्धान्त के पूर्व का काव्य-शास्त्रीय चिन्तन जैसे आनन्दवर्धन के अवतार की पूर्व-पीठिका थी । पूर्ववर्ती आचार्य जिस व्यङ्ग्यार्थ को भंगी-भणिति अथवा समासोक्ति, आक्षेप, अपह्नुति इत्यादि अलंकारों के रूप में ही देख रहे थे, उस "व्यङ्ग्यार्थ" के चारुत्व के वैशिष्ट्य को आनन्दवर्धन की तत्त्वाभिनिवेशिनी सूक्ष्म दृष्टि ने ही परखा ।

आनन्दवर्धनाचार्य का " ध्वनि-सिद्धान्त " पूर्ववर्ती सभी आचार्यों द्वारा प्रतिपादित मतों से सर्वथा भिन्न था । अभी तक आचार्यों ने केवल वाच्य-वाचक (अर्थ एवं शब्द) को ही काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया था एवं उन्हीं को अलंकृत करने वाले "अलंकारों" या गुणों को काव्य की आत्मा माना था, परन्तु आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा प्रतिपादित "ध्वनि -सिद्धान्त" "व्यङ्ग्य- व्यञ्जक भाव" पर ही पूर्ण रूप से आश्रित सिद्धान्त था, जिसमें "ध्वनि" को काव्य के आत्मभूततत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया गया ।[1] ध्वनि-सिद्धान्त

1- "काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति"। -- ध्व०प्र०उ०पृ०1, 1/1

का प्राण ही व्यङ्ग्यार्थ है जिसकी अभिव्यक्ति "व्यञ्जना-व्यापार" द्वारा होती है ।

प्रश्न उठता है कि "ध्वनि" क्या है ? प्रथम-उद्योत की तेरहवीं कारिका में ध्वनि को परिभाषित करते हुए आचार्य आनन्दवर्धन कहते हैं- "वह काव्य-विशेष "ध्वनि" है, जिसमें वाच्यार्थ स्वयं को गौण बना कर तथा शब्द अपने अभिधेयार्थ को गौण बना कर उस सहृदयश्लाघ्य अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ) को अभिव्यक्त करते हैं" —

"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ।"
--- ध्व० प्र० उ० 1/13

स्पष्ट है कि उक्त कारिका के अनुसार "ध्वनि" शब्द का अर्थ है "काव्यविशेष" । इसी कारिका की व्याख्या करते हुए, अभिनवगुप्त-पादाचार्य ध्वनि के- व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ, व्यङ्ग्यार्थ तथा व्यञ्जनाव्यापार ये चार अतिरिक्त अर्थ सिद्ध करते हुए भी, स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार करते हैं कि इस कारिका में "ध्वनि" शब्द "काव्यविशेष" के अर्थ में प्रयुक्त है ।[1]

ऐसी स्थिति में "काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति" में "ध्वनि" शब्द का क्या अर्थ है ? यह अनुत्तरित रह जाता है, क्योंकि काव्यविशेष का वाचक ध्वनि तो काव्य की आत्मा हो नहीं सकती । वह ध्वनि तो काव्य का एक भेदमात्र है । वास्तव में यहाँ पर ध्वनि शब्द का अर्थ है-"व्यङ्ग्यार्थ"

1- अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति, शब्दोऽप्येवम् ।
व्यङ्ग्यो वा ध्वन्यत इति व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति ।
कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम् । — ध्व०लो०प्र०उ०पृ० 173

क्योंकि प्रथम कारिका[1] में ध्वनि को काव्य का आत्मतत्त्व घोषित करने के अनन्तर द्वितीय से लेकर बारहवीं कारिका तक आचार्य आनन्दवर्धन निरन्तर व्यङ्ग्यार्थ की प्रशस्ति तथा स्थापना करते दिखाई देते हैं। द्वितीय कारिका में इस व्यङ्ग्यार्थ को "सहृदयश्लाघ्य"[2] बताते हैं, तो चतुर्थ कारिका में उस व्यङ्ग्यार्थ का "प्रतीयमान"[3] के रूप में उल्लेख करते हुए उसकी वाच्यार्थ से पृथकता सिद्ध करते हैं। पाँचवीं कारिका में इस व्यङ्ग्यार्थ को पुनः जोरदार शब्दों में "काव्य की आत्मा" कहते हैं।[4] इसी प्रकार आगे की कारिकाओं में भी निरन्तर इस व्यङ्ग्यार्थ की ही विविध दृष्टियों से समीक्षा करते हुए दिखाई देते हैं। इस प्रकार उनकी दृष्टि में काव्य का आत्मतत्त्व है --"व्यङ्ग्यार्थ"।

ध्वनिसिद्धान्त में वाच्य-वाचक को पूर्ण रूप से उपेक्षित नहीं कर दिया गया है वरन् व्यङ्ग्यार्थ के अभिव्यञ्जन में वाच्य-वाचक को आधार-भूमि का महत्त्व प्राप्त है। वाच्य-वाचक उस व्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यक्ति में सहायक होते हुए काव्यास्वादन काल में पृथक रूप में अनुभूत नहीं होते हैं, अपितु दोनों की एकरूपता के कारण ही चमत्कार उत्पन्न होता है।[5] ध्वनिकार की यह मान्यता है कि रसिक जनों को आस्वादन काल में दोनों की पृथकता का भान नहीं होता है।[6] तथापि सौन्दर्याधायक तत्त्व

1- "काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति।" -- ध्व0पृ0 ।।, 1/1

2- योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः-- ध्व0 1/2

3- काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा ..... । -- ध्व 1/5

4- तत्र ध्वनेरेव लक्षयितुमारब्धस्य भूमिकां रचयितुमिदमुच्यते----
"योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ" ।।-- ध्व0 1/2

5-(अ) स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रतिपादयन्।
यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते ।।-- ध्व0 1/11

(ब) बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते ... । -- ध्व0 1/12

व्यङ्ग्यार्थ ही होता है ।

इस प्रकार ध्वनिकार ने काव्य के अन्तस्तल में प्रवेश करके काव्य के सौन्दर्य के रहस्यमय मूलतत्त्व को खोज निकाला । यह तत्त्व "प्रतीतिगम्य" होने के कारण "प्रतीयमान" भी कहलाता है । यह तत्त्व काव्य में उसी प्रकार सुशोभित होता है जैसे-- अंगनाओं में प्रसिद्ध अवयवों से भिन्न "लावण्यनामक तत्त्व"[1] । यह व्यङ्ग्यार्थ समस्त महाकवियों के काव्य में अन्तर्लीन एवं रमणीय तत्त्व है, जो लक्ष्य ग्रन्थों में "प्रधान-तत्त्व" के रूप में विद्यमान था । प्राचीन आलंकारिकों की सूक्ष्म बुद्धि में उसका उन्मीलन नहीं हो पाया था, अतः वे लक्षणकार ही इससे सर्वथा अपरिचित हैं, काव्यतत्त्ववेत्ता सहृदय समाज नहीं ।[2]

इसी कारण महाकवियों के काव्य में सर्वत्र व्यङ्ग्यार्थ का ही सौन्दर्य रसिक जनों कोआह्लादित करता है । सामान्य कवि तो केवल वाच्य-वाचकमात्र से व्यवहार करते हैं परन्तु महाकवियों को इस व्यङ्ग्यार्थ के अभिव्यञ्जन के लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता है, वरन् उनकी वाणी में यह अर्थ स्वतः स्फुरित एवं प्रवाहित होता रहता है ।[3]

आनन्दवर्धन अभिधा, लक्षणा, एवं तात्पर्यवृत्तियों की अपेक्षा इस व्यङ्ग्यार्थ की बोधक व्यञ्जना-वृत्ति को अत्यन्त विलक्षण मानते हैं

1- प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ।।
-- ध्व० पृ० 30 1/4

2- यतो लक्षणकृतामेव स केवलं न प्रसिद्धः,
लक्ष्ये तु परीक्ष्यमाणे स एव सहृदयहृदयाह्लादकारि काव्यतत्त्वम् ।
-- ध्व० पृ०30पृ०177

3- सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःस्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ।।--ध्व०पृ०30 1/6
द्रष्टव्य लोचन--"निःस्यन्दमानेति । दिव्यमानन्दरसं स्वयमेव प्रस्नुवानेत्यर्थः ।"
--ध्व०लो०पृ-154

"तदेवं गुणवृत्तिवाचकत्वादिभ्यः शब्दप्रकारेभ्यः नियमेनैव तावद्विलक्षणं व्यञ्जकत्वम्" । ध्व० पृ० 457 उनके अनुसार इस व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति केवल व्याकरण, शास्त्र, शब्दार्थशासन के ज्ञानमात्र से नहीं होती है । वरन् इस व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के लिये रसिक अर्थात् सहृदय होना आवश्यक है ।[1] अपने मत की पुष्टि के लिए समुचित कारण भी आनन्दवर्धन ने प्रस्तुत किया है, कि सहृदयों की तत्त्वार्थदर्शिनी बुद्धि वाच्यवाचक मात्र पर विश्राम नहीं करती है, वरन् उनकी बुद्धि में प्रतीयमान् अर्थ एकदम अवभासित हो जाता है । यद्यपि वाच्यार्थ के अनन्तर ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है, परन्तु व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता के कारण, व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति की उत्कंठा में सहृदयों को वाच्यार्थ का पृथक् रूप से भान नहीं होता है ।[2]

ध्वनिकार ने "व्यङ्ग्यार्थ" के अस्तित्व को सिद्ध करते हुए प्रमाण रूप में "रामायण", "महाभारत" आदि लक्ष्य ग्रन्थों को उद्धृत किया है कि उन ग्रन्थों में भी सहृदयों के हृदयों को रसमग्न करने वाला वही "व्यङ्ग्यार्थ" काव्यात्मभूततत्त्व" है ।[3]

अनेक विपक्षी उस ध्वनि-तत्त्व की सत्ता का या तो निराकरण करते हैं,[4] या यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि काव्य में अनेक तत्त्व रमणीयता का आधान करते हैं, यदि ध्वनि, काव्य में रमणीयता का आधान करती है तो वाणी के अनन्त विकल्पों या तत्त्वों में से एक ही

1- शब्दार्थशासन ज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
   वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ।। -- ध्व०उ०1/7

2- तद्वत्सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम् ।
   बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते ।। --ध्व०उ०1/12

3- रामायण-महाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते ।--ध्व०उ०पृ055

4- अन्ये ब्रूयुः -"नास्त्येव ध्वनिः"। प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यत्वहानेः, सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्य लक्षणम् । --ध्व०उ०पृ० 35

सकती है ।[1]

परन्तु अलंकारवादियों के तर्क ध्वनि-सिद्धान्त के विशाल क्षेत्र एवं महत्त्व के समक्ष खरे नहीं उतरते हैं । अलंकारवादियों के अनुसार रमणीयता का आधान करने वाले तत्त्व-गुण, अलंकार, वृत्ति, रीति, शैली इत्यादि हैं, परन्तु ध्वनिकार के अनुसार उपर्युक्त सभी प्रस्थानों का प्राण "वाच्य-वाचक भाव" है, जबकि ध्वनि का प्राणभूत तत्त्व "व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव" है । दोनों में स्वरूप-भेद है- "ध्वनि अंगी है" तथा वाच्य-वाचक की चारुता के हेतु गुणालंकार उस अंगी के "अंगमात्र" हैं ।[2] दोनों में अत्यधिक अन्तर होने के कारण ध्वनि का अन्तर्भाव रमणीयता का आधान करने वाले गुणालंकार आदि तत्त्वों में कदापि नहीं हो सकता है ।

इस प्रकार से सहृदयों एवं काव्यतत्त्ववेत्ताओं के अनुभवों, महाकवियों के काव्यों के आधार पर निर्विवाद रूप से आनन्दवर्धन के मत को स्वीकार करना पड़ता है कि "काव्य में व्यङ्ग्यार्थ ही अभीष्ट एवं प्रधान होता है"। ध्वनिकार ध्वनि-तत्त्व को अत्यधिक महत्त्व देते हुए उससे रहित काव्य को काव्य-संज्ञा न प्रदान कर काव्य का "चित्रमात्र" कहते हैं क्योंकि उसमें काव्य के समान शब्द एवं अर्थ का योग तो अवश्य होता है, परन्तु सहृदयों को आह्लादित करने की क्षमता नहीं होती है । व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता के कारण ही काव्य में सरसता तथा

1- "कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तिष्वेव चारुत्वहेतुष्वन्तर्भावात" ।

-- ध्व०पु० उ०पृ० 39

2- वाच्यवाचकचारुत्वहेतवो हि तस्याङ्गभूताः, स त्वङ्गिरूप एवेति ।
परिकरश्लोक- व्यङ्ग्यव्यञ्जकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वनेः ।
वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वन्तःपातिता कुतः ।। ध्व० पु० उ० पृ० 179

आह्लादकता उत्पन्न होती है, जिसके कारण सहृदय श्रोता या पाठक को "ब्रह्मानन्द सहोदर" अलौकिक अनुभूति होती है । यह अलौकिक अनुभूति वाच्य-वाचक भाव प्रधान काव्यों से नहीं हो सकती है । इसी कारण ध्वनिकार केवल "ध्वनिकाव्य एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य को ही काव्य" कहते हैं, अन्य को काव्य का चित्रमात्र कहते हैं ।[1]

ध्वनिकार आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित इस ध्वनि-सिद्धान्त का साहित्यशास्त्र के इतिहास में अत्याधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है । इस नवीन प्रस्थान में काव्य के सभी अंगों पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया गया है । आनन्दवर्धनाचार्य का यह मत एक "प्रज्वलित प्रकाश-स्तम्भ" की भाँति है, जो पूर्ववर्ती लक्षणकारों द्वारा प्रतिपादित ग्राह्य अंशों को स्वीकार करते हुए नवीन सिद्धान्तों का मार्ग दर्शन करता है । परवर्ती समीक्षकों ने भी "ध्वनि-काव्य" को ही उच्चकोटि के काव्य की संज्ञा प्रदान की है ।

ध्वनि (व्यङ्ग्यार्थ) पर आधारित काव्य के दो भेद

" ध्वनि एवं गुणीभूत व्यङ्ग्य "

ध्वनि-सिद्धान्त में व्यङ्ग्यार्थ ही आत्मभूत तत्त्व है । इस कारण आनन्दवर्धन ने काव्य में व्यङ्ग्यार्थ के तारतम्य को ही अपने "काव्य-विभाजन" का आधारभूत तत्त्व माना है । आनन्दवर्धन काव्य में

1- प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते ।
काव्ये उभे ततोन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते ।।- ध्व0 3/41
केवल वाच्यवाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेणनिबद्धमालेख्यप्रख्यं
यदाभासते तच्चित्रम् -- ध्व0 पृ0 30 पृ0 495

व्यङ्ग्यार्थ को इतना अधिक महत्त्व देते हैं कि वाच्य-वाचक के सौन्दर्य से युक्त होने पर भी व्यङ्ग्यार्थ रहित काव्य को काव्य श्रेणी में सम्मिलित न करके उसको एक "चित्रकाव्य" मानते हैं ।

ध्वनि-सिद्धान्त में व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता एवं अप्रधानता की दृष्टि से काव्य के दो भेद किये गये हैं - ॥1॥ ध्वनि-काव्य, ॥2॥ गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य ।[1] उपर्युक्त दोनों ही काव्य भेद समान रूप से सुन्दर एवं चमत्कारपूर्ण हैं । इसी कारण ध्वनिकार ने दोनों ही काव्य भेदों को समान स्थान देते हुए उच्चकोटि का काव्य माना है ।

॥1॥ <u>ध्वनि-काव्य</u> - जैसा कि पहले ही देखा जा चुका है ध्वनिकार "ध्वन्यालोक" के प्रथमोद्योत में ध्वनि-काव्य का इस प्रकार लक्षण करते हैं --

" यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥"

-- ध्व०प्र०उ० 1/13

अपने इस ध्वनि काव्य-लक्षण में ध्वनिकार ने स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है कि जिसमें अर्थ स्वयं को और शब्द अपने अर्थ को गौण बनाकर, उस प्रतीयमान अर्थ ॥जिसका उल्लेख ध्वनिकार ने "प्रतीयमानंपुनरन्यदेव आदि कारिकाओं में किया है॥ को अभिव्यक्ति करते हैं, काव्य के उस विशेष प्रकार को "ध्वनिकाव्य" कहते हैं

इस प्रकार स्पष्ट है कि वाच्यार्थ एवं वाचक शब्द गौण होते हुए भी, व्यङ्ग्यार्थ के अभिव्यञ्जन में सहायक होते हैं । व्यञ्जना

1- प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते ।
काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते ॥ -- ध्व० 3/41
ततोऽन्यद्रसभावादितात्पर्यरहितं व्यङ्ग्यार्थ विशेष प्रकाशनशक्तिशून्य च काव्यं केवल वाच्यवाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्ध मालेख्य प्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम् -- ध्व० वृ० उ० 495

व्यापार में सर्वत्र शब्द एवं अर्थ दोनों का "ध्वनन-व्यापार" होता है ।[1]

जैसा कि आचार्य मम्मट ने स्पष्ट किया है कि शाब्दी व्यञ्जना में शब्द मुख्य रूप से व्यञ्जक होता है तथा अर्थ उसका सहकारी होता है क्योंकि व्यञ्जक शब्द दूसरे अर्थ के योग से [अपने मुख्यार्थ का बोधन करने के अनन्तर] दूसरे व्यङ्ग्य रूप अर्थ का व्यञ्जक होता है अतः शब्द के साथ सहकारी रूप से अर्थ भी व्यञ्जक होता है ।[2]

इसी प्रकार आचार्य मम्मट ने आर्थी व्यञ्जना में शब्द की सहकारिता स्पष्ट की है -- " शब्दप्रमाण से गम्य अर्थ ही अर्थान्तर को व्यक्त करता है, इसलिये अर्थ के व्यञ्जकत्व में शब्द भी सहकारी होता है ।[3]

इस प्रकार यह तथ्य सिद्ध होता है, कि व्यञ्जना व्यापार में सर्वत्र शब्द एवं अर्थ दोनों का "ध्वनन व्यापार" होता है

ध्वनि कारिका में प्रयुक्त ध्वनि शब्द का लोचनकार ने

1- सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वनन व्यापारः ।-ध्व0 लो0 प्र0उ0पृ0172

2- तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः । - का0 प्र0 सूत्र 33

यत् सोऽर्थान्तरयुक् तथा ।

अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितयामतः । सू0 34 का0प्र0द्वि0उ0, पृ081

3- शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः

अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ।। - का0प्र0तृ0उ0, पृ0 89, सू0 38

"पाँच अर्थ" ग्रहण किया है,[1] जो इस प्रकार है - (1) ध्वनतीति ध्वनिः व्यञ्जकः शब्दः अर्थश्च । (2) ध्वन्यते इति व्यङ्ग्यार्थः ध्वनिः ।
(3) ध्वन्यते अनेन इति व्यञ्जना व्यापारः ध्वनिः ।
(4) ध्वन्यते अस्मिन् इति काव्यविशेषः ध्वनिः ।

उपर्युक्त कारिकार्थ से स्पष्ट है कि ध्वनिकार ने उस "काव्यविशेष" को ध्वनि-काव्य माना है, जिसमें व्यङ्ग्यार्थ उपस्कार्य होने के कारण प्रधान हो तथा शब्द और वाच्यार्थ उपस्कारक होने के कारण गौण हो । इस काव्यविशेष में वाचक-शब्द, वाच्यार्थ, गुणालंकार तथा व्यञ्जना व्यापार आदि तत्त्वों का समुदाय व्यङ्ग्यार्थ के अभिव्यञ्जन में सहायक होते हुए गौण हो जाते हैं तथा प्रधान व्यङ्ग्यार्थ की व्यञ्जना में सहायक होते हैं ।[2]

इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ प्रधान काव्य को "ध्वनि-काव्य" कहते हैं । ध्वनिकार ने (अर्थशक्तिमूलक) ध्वनि-काव्य का निम्न उदाहरण प्रस्तुत किया है -

"एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ।"- ध्व०द्वि०उ०पृ० 198

यहाँ पर पार्वती के "लज्जारूप व्यभिचारी भाव" की व्यञ्जना अर्थसामर्थ्य से हो रही है । अर्थशक्तिमूलक ध्वनि में अर्थ अपने सामर्थ्य से शब्दव्यापार के बिना स्वतः तात्पर्य से अर्थान्तर को अभिव्यक्त

1- तेन वाच्योऽपि ध्वनिः, वाचकोऽपि शब्दो ध्वनिः, द्वयोरपि व्यञ्जकत्वं ध्वनतीति कृत्वा । ... व्यङ्ग्योऽपि ध्वनिः ध्वन्यतइति कृत्वा । शब्दव्यापारः ... ,अपि त्वात्मभूतः सोऽपि ध्वननं ध्वनिः । काव्यमिति व्यपदेश्यश्च योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः ।
ध्व० लो० प्र० उ० पृ० 25।

2- काव्यग्रहणाद्गुणालङ्कारोपस्कृतशब्दार्थपृष्ठपाती ध्वनिलक्षणश्च आत्मेत्युक्तम् । -- ध्व० लो० प्र० उ० पृ० 173

करता है।[1] यहाँ पर सप्तर्षियों के द्वारा निवेदित भगवान् शंकर के साथ विवाहवर्णन रूप विभाव, कमलपत्र-गणना तथा अधोमुखत्वरूप अनुभावों के द्वारा "लज्जारूप व्यभिचारी भाव" की प्रतीति नहीं हो रही है क्योंकि कमलपत्र गणना तथा अधोमुखत्व आवश्यक रूप से लज्जा के ही अनुभाव नहीं हैं, ये अनुभाव कुमारियों में दूसरे कारण से भी सम्भावित हैं। ये शीघ्र ही हृदय को लज्जा में विश्रान्त नहीं कर देता है[2] अर्थात् झटिति लज्जा की प्रतीति नहीं होती है। पार्वती के द्वारा शंकर को पतिरूप में प्राप्त करने के हेतु की गई तपस्या तथा नारदकृतविवाहादि प्रसंग के ज्ञान के अनन्तर ही "लज्जा रूप अर्थ व्यङ्ग्य" होता है तथा इसके अनन्तर ही पार्वती की शिवविषयक रति की प्रधानरूप से प्रतीति होती है। यहाँ कमलपत्र-गणना, अधोमुखत्व तथा लज्जा का मध्यवर्ती क्रम संलक्ष्य है, अतः यह "वस्तुध्वनि" का विषय है।

(2) गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य -

आनन्दवर्धन "ध्वन्यालोक" के तृतीय उद्योत में गुणीभूत-व्यङ्ग्य काव्य का इस प्रकार लक्षण करते हैं --

"प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते ।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत् " ॥
-- ध्व० 3/34

जिसका आशय है कि जहाँ व्यङ्ग्यार्थ प्रधान न होकर वाच्यार्थ के साथ अन्वित हो तथा व्यङ्ग्य के साथ अन्वय के कारण वाच्यचारुत्व अधिक प्रकृष्ट हो जाय, वह गुणीभूत व्यङ्ग्य नाम का दूसरा काव्य प्रकार है।

1- अर्थशक्त्युद्भवस्त्वन्यो यत्रार्थः स प्रकाशते ।
यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यद्व्यनक्त्युक्तिं विना स्वतः ॥ -ध्व० 2/22

2- इह तु पद्मदलगणनमधोमुखत्वं चान्यथापि कुमारीणां सम्भाव्य इति झटिति न लज्जायां विश्रमयति हृदयम्, अपि तु प्राग्वृत्ततपश्चर्यादिवृत्तान्तानुस्मरणेन तत्र प्रतिपत्तिं करोतीति क्रमव्यङ्ग्यतैव ।
--ध्व०लोचन द्वि०उ०पृ०202

"गुणीभूतव्यङ्ग्य" शब्द में गुण के अनन्तर प्रयुक्त "अभूत् तद्भावे च्विः" को देखते हुए यह स्पष्ट है कि -- यह वह काव्य है, जिसमें चारुत्वाधायकत्व के नाते प्रधानभूत व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ से व्यक्त होकर, लौटकर वाच्यार्थ का ही उपस्कारक होने के कारण गौण हो जाता है। काव्य की आत्मा होने के कारण " ध्वनि ही प्रधान " है, किन्तु समासोक्ति आदि के स्थल ऐसे देखे जाते हैं, जहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ का उपस्कारक होने के कारण, या वाच्चारुत्व की पुष्टि करने के कारण गौण अतएव अप्रधान हो जाता है।

यद्यपि ध्वनिकार ने वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ के समप्राधान्य के स्थलों पर गुणीभूतव्यङ्ग्यता का स्पष्ट निर्देश नहीं किया है परन्तु उनके लक्षण में आए हुए "चारुत्वप्रकर्षवत्" पद की व्याख्या करते हुए दीधितिकार ने कहा है --

"वाच्यस्य चारुप्रकर्षः इति चारुत्वसाम्यस्याप्युपलक्षणम् । "

-- दीधित व्याख्या पृ0 493

जिससे स्पष्ट होता है कि ध्वनिकार को भी समप्राधान्य स्थलों परगुणीभूत व्यङ्ग्यता स्वीकार्य थी ।

यह तथ्य आचार्य मम्मट के गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य के लक्षण से स्पष्ट हो जाती है -- " अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् । सूत्र-3

अतादृशि वाच्यादनतिशायिनि ।

- का0प्र0उ0 पृ0 2।

वाच्य से व्यङ्ग्य के अनतिशायी होने पर गुणीभूत-व्यङ्ग्य नामक मध्यम काव्य होता है । वाच्य से व्यङ्ग्य के अनतिशायी होने का तात्पर्य है -- व्यङ्ग्य का न्यून होना एवं तुल्य होना ।[1]

1- व्यङ्ग्यस्य वाच्यादनतिशयश्च न्यूनत्वेन तुल्यत्वेन चेति द्विविधः ।

— का0प्र0बा0बो0टीका पृ02।

इस प्रकार इन दोनों अवस्थाओं में भी व्यङ्ग्य का गुणीभाव हो जाता है ।

वाच्य एवं व्यङ्ग्य का प्राधान्याप्राधान्य विचार -

ध्वनिकार ने काव्य के दो भेद माने हैं -
{1} ध्वनिकाव्य, {2} गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य ।

दोनों काव्य भेदों के विभाजन का आधार प्रतीयमानार्थ की प्रधानता एवं अप्रधानता ही है । ध्वनिकार दोनों काव्य-भेदों को समान रूप से चारुतायुक्त तथा उत्कृष्ट कोटि के काव्य मानते हैं ।

ध्वनिकारिका में प्रयुक्त " उपसर्जनीकृतस्वार्थौ " पद "ध्वनि" के स्वरूप का निर्णायक होने के साथ ही, गुणीभूतव्यङ्ग्य से ध्वनि -काव्य का व्यावर्तक भी है । " उपसर्जनीकृतस्वार्थौ" पद से स्पष्ट है कि -- "जहाँ अर्थ अपने स्वरूप को और शब्द अपने वाच्यार्थ को गौण बनाकर प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करते हैं,[1] उस "काव्य विशेष" को ध्वनिकाव्य कहते हैं ।

इसके विपरीत जहाँ व्यङ्ग्यार्थ के साथ अन्वित होने के कारण वाच्यार्थ ही अधिक चारुत्वयुक्त, अतः प्रधान होता है ।[2] वहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य-काव्य होता है ।

ध्वनि-काव्य का गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य से स्पष्ट अन्तर प्रकट करते हुए ध्वनिकार ने कहा है --

"सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम् ।
यद्व्यङ्ग्यस्याङ्गिभूतस्य तत्पूर्णं ध्वनिलक्षणम् ।।"

-- ध्व0 2/33

1- अर्थो गुणीकृतात्मा गुणीकृताभिधेयः शब्दो वा यत्रार्थान्तरमभिव्यनक्ति स ध्वनिरिति । .. व्यङ्ग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः । --ध्व0पृ030पृ0 181
2- तस्य तु गुणीभावेन वाच्यचारुत्वप्रकर्षे गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम काव्यप्रभेदः प्रकल्प्यते । - ध्व0पृ030पृ0 1123

ध्वनि-काव्य में व्यङ्ग्य की प्रधानतया प्रतीति एवं स्फुटतया प्रतीति आवश्यक है ।

इस प्रकार ध्वनिकार ने स्पष्ट निर्देश दिया है कि वाच्य एवं व्यङ्ग्य में किसका प्राधान्य एवं किसका अप्राधान्य माना जाय इसका निर्णय अत्यन्त सावधानी पूर्वक करना चाहिए, जिससे ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य एवं अलंकारों का असंकीर्ण विषय भलीभाँति ज्ञात हो जाय ।[1]

समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्त, अप्रस्तुत प्रशंसा आदि कुछ ऐसे व्यङ्ग्यमूलक अलंकार हैं, जिसमें व्यङ्ग्य की स्पष्ट प्रतीति होती है । अतः कुछ लोग तर्क करते हैं कि ध्वनिकाव्य का अन्तर्भाव इन व्यङ्ग्यमूलक अलंकारों में कर दिया जाना चाहिए । ध्वनिकाव्य की अलग सत्ता मानने की आवश्यकता नहीं है ।[2]

प्रस्तुत तथ्य का ध्वनिकार ने स्पष्ट शब्दों मे निराकरण कर दिया है । सभी व्यङ्ग्यमूलक अलंकारों की गणना गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक काव्यकोटि में होती है, क्योंकि इनमें व्यङ्ग्यार्थ प्रधान न होकर वाच्योपस्कारक होता है । अतः वह उपकार्य न होकर उपकारक होता है ।[3]

1- वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्याप्राधान्यविवेके परः प्रयत्नो विधातव्यः । येन ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोरलंकाराणां चासंकीर्णो विषयः सुज्ञातो भवति । --ध्व0 तृ0उ0पृ0 ।197

2- "यत्र तु प्रतीतिरस्ति, यथा समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्तविशेषोक्ति-पर्यायोक्तापह्नुतिदीपकसङ्करालंकारादौ, तत्र ध्वनेरन्तर्भावो भविष्यतीत्यादि निराकर्तुमभिहितम् । --ध्व0प्र0उ0पृ0181

3- "यदा व्यङ्ग्योऽर्थः पुनरपि वाच्यमेवानुगामयन्नास्ते तदा तदुपकरणत्वादेव ततो वाच्यादेव तदुपस्कृताच्चमत्कारलाभ इति . . . . गुणीभूतव्यङ्ग्यतोक्ता" । --ध्व0लो0प्र0उ0पृ0 182

ध्वनि अपने विशाल क्षेत्र के कारण व्यापक एवं महाविषय वाला होता है तथा काव्य के समस्त अंगों की अपेक्षा प्रधान होने के कारण अंगी होता है,[1] परन्तु अलंकारों का अलंकरणत्व किसी का अलंकरण करने पर ही सिद्ध होता है। अत: अलंकार व्यापक नहीं हो सकते हैं काव्य के सौन्दर्यवृद्धि में सहायक होने के कारण अंग होते हैं।[2]

अत: ध्वनि-काव्य का अन्तर्भाव व्यङ्ग्यमूलक अलंकारों में असम्भव है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यञ्जनामूलक अलंकारों में वाच्य का ही चारुत्व प्रधान होता है तथा व्यङ्ग्यवाच्य का उपकारक होता है। अत: वे ध्वनिकाव्य नहीं वरन् गुणीभूत व्यङ्ग्य के विषय होते हैं, जैसे - दीपकादि अलंकार में, गम्य उपमा में चारुत्व का पर्यवसान न होकर वाच्य रूप दीपन में होता है। अत: व्यङ्ग्य उपमा उपकारकत्वेन अप्रधान होती है। जैसा कि ध्वनिकार ने स्वयं कहा है --

"अलंकारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते।
तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मत: ।। --ध्व 2/27

अलङ्कारान्तरेषु त्वनुरणनरूपालङ्कारप्रतीतौ सत्यामपि यत्र वाच्यस्य व्यङ्ग्यप्रतिपादनौन्मुख्येन चारुत्वं न प्रकाशते नासौ ध्वनेर्मार्ग:। तथाच दीपकादावलङ्कारे उपमाया गम्यमानत्वेऽपि तत्परत्वेन चारुत्वस्या-व्यवस्थानान्न ध्वनिव्यपदेश: ।" -- ध्व० द्वि० उ० पृ० 227

1- "ध्वनिर्हि महाविषय: सर्वत्र भावाद्व्यापक: समस्तप्रतिष्ठास्थानत्वा-च्चाङ्गी।" -- ध्व० लो० प्र० उ० पृ० 208

2- " न चालंकारो व्यापकोऽन्यालंकारवत्। न चाङ्गी, अलंकार्यत-न्त्रत्वात्।" -- ध्व० लो० प्र० उ० पृ० 208

वाच्य और व्यङ्ग्य के प्राधान्याप्राधान्य के विषय में ध्वनिकार ने एक स्थल पर स्पष्ट निर्देश किया है कि "चार स्थलों" पर व्यङ्ग्य की सत्ता होने पर भी ध्वनिकाव्य व्यवहार नहीं, अपितु गुणीभूतव्यङ्ग्यता ही होगी --

"व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः ।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालङ्कृतयः स्फुटाः ।।
व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा ।
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते ।।"

-- ध्व0 प्र0 उद्यो0 233

इस कथन का विश्लेषण करने पर व्यङ्ग्यार्थ की गुणीभूतता चार रूपों में स्पष्ट होती है -

1- वाच्यार्थ का अनुयायी होने के कारण, जहाँ व्यङ्ग्यार्थ अप्रधान हो गया हो, जैसे- समासोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसादि अलंकारों में, ये सभी गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल हैं ।

2- जहाँ व्यङ्ग्यार्थ का स्पष्ट आभास हो रहा हो, अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ अत्यन्त अगूढ़ हो, जैसे -- उपमादि अलंकारों के स्थल में, ऐसे स्थलों में वस्तु-व्यङ्ग्य की सत्ता अपरिहार्य है किन्तु केवल व्यङ्ग्य तत्परता के कारण ही चारुता नहीं होती है । अतः व्यङ्ग्यार्थ की अत्यन्त स्पष्ट प्रतीति होने पर ध्वनिकाव्यता नहीं वरन् गुणीभूतव्यङ्ग्यता होती है ।[1]

3- जहाँ वाच्य एवं व्यङ्ग्य का समप्राधान्य हो, जैसे संदेहसंकर में, ऐसे स्थलों पर गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यता होती है ।

1- 'यत्र प्रतीयमानोऽर्थः प्रम्लिष्टत्वेन भासते ।
वाच्यस्याङ्गतया वापि नास्यासौ गोचरो ध्वनिः ।।
--- ध्व0 2/31

4- जहाँ व्यङ्ग्यार्थ का अस्फुट प्राधान्य हो याप्राधान्य प्रतीत न हो रहा हो, वहाँ भी गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यता ही होती है ।

इस प्रकार ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने ध्वनिकाव्य एवं गुणीभूत-व्यङ्ग्य का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है कि उपर्युक्त स्थलों के अतिरिक्त, स्थलों में व्यङ्ग्य की प्रधान रूप से तथा स्फुट प्रतीति होने पर ही ध्वनि-काव्यता होती है । जहाँ शब्द और अर्थ व्यङ्ग्यार्थ बोधन के लिये तत्पर रहते हैं, संकर से रहित, वहीं ध्वनिकाव्य का विषय होताहै --

" तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ ।
ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः संकरोज्झितः ।।"

-- ध्व० पृ० उ० पृ० 233

विवेचक दृष्टि से काव्यात्मभूत-तत्त्व का अन्वेषण करने पर दोनों काव्य-भेदों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है, परन्तु रसप्रतीति के अवसर पर रसध्वनि में ही अन्ततः पर्यवसान होने के कारण दोनों काव्य-भेद समान रूप से आह्लादक प्रतीत होते हैं ।[1] ध्वनिकाव्य में व्यङ्ग्यार्थ अन्य तत्त्वों की अपेक्षा प्रधान होता है, परन्तु जहाँ व्यङ्ग्यार्थ प्रधान न होकर वाच्यार्थ का अलंकरण करता है एवं व्यङ्ग्यार्थ से अलंकृत होने के कारण ही वाच्यार्थ में चारुता उत्पन्न होती है , वहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण होने के कारण "मध्यम कक्षा " में सन्निविष्ट हो जाता है । इस कारण स्वतंत्र रूप से रस प्रतीति कराने में समर्थ नहीं होता है, वाच्यार्थ का " उपकारकमात्र" रहता है, फिर भी काव्य विशेष का पर्यवसान भी

1- "प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम् ।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः ।। "

--- ध्व० 3/40

रसध्वनि में होता है, उस काव्य विशेष को ध्वनिकार ने "गुणीभूत व्यङ्ग्य-काव्य " की संज्ञा दी है ।[1]

गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य का स्वरूप

"गुणीभूतव्यङ्ग्य" इस काव्यविधा का उसके जन्मदाता श्रीमदानन्दवर्धनाचार्य ने, जो कि इसे समान रूप से सुन्दर एवं उच्चकोटि का द्वितीय काव्यभेद मानते हैं, ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में इस प्रकार लक्षण दिया है --

"प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते ।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात्प्रकर्षवत् ।।"

-- ध्व० सू० 3/34

प्रस्तुत कारिका में ध्वनिकार ने स्पष्ट रूप से इस काव्य-भेद को "दूसरे काव्यभेद" के रूप में वर्णित किया है, यह नहीं कहा है कि यह "मध्यम" या ध्वनिकाव्य की अपेक्षा "निकृष्ट-काव्य" है ।

ध्वनिकार गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं, कि " जिस काव्य में व्यङ्ग्यार्थ प्रधान न हो वरन् व्यङ्ग्यार्थवाच्यार्थ के साथ अन्वित हो, व्यङ्ग्यार्थ के अन्वय के कारण वाच्य-चारुता ही अधिक प्रकृष्ट हो, वह " गुणीभूतव्यङ्ग्य" नामक काव्य का दूसरा प्रकार दिखाई देता है । "

1- यदा व्यङ्ग्योऽर्थः पुनरपि वाच्यमेवानुप्राणयन्नास्ते तदा तदुपकरणत्वादेव । ततो वाच्यादेव तदुपस्कृताच्चमत्कारलाभ इति । ... तथापि मध्यमकक्षानिविष्टोऽसौ व्यङ्ग्योऽर्थो न रसोन्मुखीभवति स्वातन्त्र्येणापि तु वाच्यमेवार्थं संस्कर्तुं धावतीति गुणीभूतव्यङ्ग्यतोक्ता ।

-ध्वन्या० पृ० 182

प्रस्तुत कारिका में प्रयुक्त "व्यङ्ग्यान्वये" पद का तात्पर्य है कि "जहाँ व्यङ्ग्य के सन्निवेश के कारण वाच्यार्थ अंश एवं प्रधानत्वेन चारुत्वव्यापी होता है, वहाँ व्यङ्ग्यार्थ प्रधान न होकर वाच्यार्थ का उपस्कार करता है।"[1] अर्थात् स्वयं अप्रधान होकर वाच्य के सौन्दर्य में वृद्धि करता है और इस प्रकार स्वयं उपकार्य न होकर "उपकारक" बन जाता है।

ध्वनिकार ने व्यङ्ग्यार्थ के विषय में कहा है, कि जहाँ भी व्यङ्ग्यार्थ होता है, वहाँ वह स्वयं तो सुशोभित होता ही है तथा वाच्यार्थ को भी सुशोभित करता हुआ काव्यात्मा बन जाता है, क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ सदैव प्रधान होता है। "जिस काव्य में प्रधान व्यङ्ग्यार्थ गौण बना दिया जाता है, उसे गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य कहते हैं।" इसी अर्थ को प्रकट करने के लिये यहाँ "गुण" शब्द के अनन्तर "च्विः प्रत्यय" प्रयुक्त किया गया है।[2]

इस प्रकार "गुणीभूतव्यङ्ग्य" से ध्वनिकार का यह आशय है कि "प्रधानत्व से वाच्यार्थ की चारुता का प्रकर्ष होने के कारण, व्यङ्ग्यार्थ के गुणीभाव हो जाने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य प्रकार होता है।[3]

आनन्दवर्धनाचार्य ने सम्पूर्ण ध्वन्यालोक में कहीं भी "उत्तम" या "मध्यम" काव्य" पद का प्रयोग नहीं किया है क्योंकि उनकी दृष्टि में दोनों काव्य-भेद उच्चकोटिक एवं सहृदय-श्लाघ्य हैं। ध्वनिकाव्य के

1- व्यङ्ग्येनान्वयो वाच्यस्योपस्कार इत्यर्थः। -- ध्व० लो० पृ०30 पृ० ।।23

2- अभूत तद्भावेच्विः ।गुण + √भू + च्विः =गुणीभूतः ।

3- तस्य तु गुणीभावेन वाच्यचारुत्वप्रकर्षे गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम काव्य प्रभेदः प्रकल्प्यते । -- ध्व० पृ० 3०पृ० ।।23

विषय में तो उन्होंने कहा ही है कि महाकवियों की वाणी रसध्वनि इत्यादि रूप प्रतीयमान अर्थ को स्वयं ही प्रवाहित करने वाली होती है, जो कवि प्रतीयमान अर्थ को इस रूप में प्रवाहित करने वाला होता है, उसी को महाकवित्व की संज्ञा प्राप्त होती है ।[1] गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल पर भी वे यह स्पष्ट करते हैं कि यदि कविगण व्यङ्ग्यार्थ को गुणीभूत रूप में भी निबद्ध करते हैं, तब भी वह व्यङ्ग्य कविवाणी को शोभित करता है[2] अर्थात् गुणीभूत व्यङ्ग्य का भी इतना अधिक महत्त्व है कि उसका अपने काव्य में वर्णन करने से कवि को प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।

ध्वनिकार यह मानते हैं कि व्यङ्ग्यार्थ तीन प्रकार का होता है - वस्तु रूप, अलंकार रूप एवं रसादिरूप[3], यहाँ आदि पद से भाव, भावाभास, भावशबलता, भावसन्धि का ग्रहण होता है । व्यङ्ग्यार्थ इन तीनों रूपों में वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न प्रकार का होता है ।

काव्य में व्यङ्ग्यार्थ की जिस रूप में प्रधानता होती है वहाँ वहीं ध्वनि होती है जैसे वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि एवं रसादि ध्वनि ।

1- सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ।।
-- ध्व० प्र० उ० 1/6

2- अधुना तु गुणीभूतोऽप्ययं व्यङ्ग्यः कविवाचः पवित्रयतीत्यमुनाद्वारेण तस्यैवात्मकत्वं समर्थयितुमाह । -- लो० तृ० उ०पृ० 1123

3- स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रमलङ्काररसादयश्चेत्यनेकप्रभेद-प्रभिन्नो दर्शयिष्यते । सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु वाच्यादन्यत्वम् ।
-- ध्व० प्र० उ०पृ० 73

व्यङ्ग्यार्थ के उपर्युक्त तीनों प्रकार वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण होकर गुणीभूतव्यङ्ग्य का रूप भी धारण करते हैं परन्तु गुणीभूत भी व्यङ्ग्य वाच्यसामर्थ्य से आक्षिप्त होकर सुशोभित होताहै, परन्तु प्रत्येक गुणीभूत व्यङ्ग्यप्रकार वाच्य से सर्वथा भिन्न होता है। इस प्रकार वस्तु व्यङ्ग्य के समस्त भेद, अलंकार व्यङ्ग्य के समस्त भेद एवं रसादि व्यङ्ग्य के समस्त भेद, काव्य में तिरस्कृत वाच्यार्थ के कारण प्रतीयमान [illegible] होकर, जब वाच्यार्थ की अपेक्षा अप्रधान गौण हो जाते हैं, तब वह गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का रूप धारण करते हैं।[1]

आनन्दवर्धन ने वस्तु-व्यञ्जना के गुणीभाव को इस रूप में दिखाया है कि कभी-कभी वाचक शब्दों का अर्थ, स्वार्थ में सर्वथा अनुपपन्न होने के कारण अत्यन्त तिरस्कृत हो जाताहै, अतएव उस काव्य में अत्यन्त तिरस्कृत-वाच्य से प्रतीयमान वस्तुमात्र-व्यङ्ग्य के कारण सौन्दर्य आता है परन्तु वह वाच्य रूप वाक्यार्थ की अपेक्षा अप्रधान रहता है।

इस प्रकार आनन्दवर्धन वस्तुमात्र-व्यङ्ग्य के गुणीभाव को स्पष्ट करते हुए प्रस्तुत उदाहरण देते हैं, जो कि गुणीभूतव्यङ्ग्य का एक प्रकार है--

> "लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र यत्रोत्पलानि शशिना सह सम्प्लवन्ते।
> उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र यत्रापरे कदलीकाण्डमृणालदण्डाः॥
> -- ध्व० तृ० उ० पृ० ॥25

1- (अ) तत्र वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यस्य तिरस्कृतवाच्येभ्यः प्रतीयमानस्य कदाचिद्वाच्यरूपवाक्यार्थापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यता।
-- ध्व०तृ०उ०पृ० ॥23

(ब) व्यङ्ग्यं वस्त्वादित्र्यं तत्र वस्तुनो व्यङ्ग्यस्य ये भेदा उक्तास्तेषां क्रमेण गुणभावं दर्शयति। --लो० तृ०उ०पृ० ॥23

उपर्युक्त उदाहरण का तात्पर्य है कि " यह यहाँ पर दूसरा ही कौन लावण्य का समुद्र है, जिसमें चन्द्रमा के समान उत्पल तैर रहे हैं, जिसमें हाथी के मस्तक के तट ऊपर को उठ रहे हैं और जहाँ दूसरे कदली के स्तम्भ और मृणाल दण्ड विद्यमान हैं ।"

ध्वनिकार के प्रस्तुत उदाहरण में "सिन्धु शब्द से "परिपूर्णता", "उत्पल" शब्द से "कटाक्षच्छटा", "शशि" शब्द से "मुख", "करिकुम्भतटी" शब्द से "दो स्तन", "कदलीकाण्ड" शब्द से "दोनों उरु" और "मृणाल दण्ड" से "दोनों बाँहें" रूप व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होताहै, परन्तु यहाँ सिन्धु, उत्पल शशि आदि शब्दों का वाच्यार्थ इसलिये तिरस्कृत होने से कारण उपपन्न नहीं होता है क्योंकि किसी भी नदी में कमल एवं चन्द्रमा एक साथ दृष्टिगत नहीं हो सकते हैं । अतः अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-व्यञ्जना के कारण ही मुख, कटाक्ष इत्यादि के सौन्दर्य की प्रतीति होती है ।

प्रस्तुत उदाहरण " इसमें लावण्य भरा हुआ है , उसका मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है" इत्यादि वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ, "अपरैव हि केयमत्र" इस विस्मय रूप वाच्यार्थ की अपेक्षा कम चारुत्वयुक्त है तथा वाच्यार्थ की चारुता को ही अधिक प्रकृष्ट करता है । अतः चारुत्व का पर्यवसान वाच्यार्थ में ही होता है ।

वाच्यार्थ का सौन्दर्य यह है कि संसार के सुन्दरता के सारतत्त्वभूत चन्द्रमा एवं कमल दोनों कभी भी एक साथ दृष्टिगत नहीं होते हैं, परन्तु वे अपने परस्पर विरोध को छोड़कर एक अद्वितीय रमणी रूप आलम्बन को प्राप्त करके एक साथ दृष्टिगत होने के कारण "विस्मय का विभाव" बन रहे हैं । इस प्रकार पहले विस्मय की विभावरूपता प्राप्त होती है, फिर व्यङ्ग्यार्थ से उपस्कृत वाच्यार्थ इत्यादि का बोध होता है ।

इस प्रकार यहाँ नायिका के लिए प्रयुक्त विभिन्न विशेषणों द्वारा व्यञ्जित परिपूर्णता, नेत्र कटाक्षच्छटा एवं मुख इत्यादि व्यङ्ग्यार्थ

अपने में अप्रतिष्ठित रहते हुए "अपरैव हि केयमत्र" इस विस्मयरूप वाच्यार्थ की सिद्धि के साधन बन रहे हैं। अतः वाच्यार्थ ही पर्यवसायी होने के कारण चमत्कारपूर्ण हैं। इस प्रकार यहाँ वाच्य के उन्मज्जन एवं व्यङ्ग्य के निमज्जन में ही सौन्दर्य झलक रहा है।[1]

यहाँ वाच्यार्थ के ही अधिक चमत्कारी होने के कारण, चन्द्रमा एवं कमल का विविक्तत्व का विरोध शान्त हो जाने पर, नायिका का मुख, चन्द्र, नेत्र, कमल जो पहले विस्मय का विभाव बन रहे थे, अभिलाष के विभाव बन जाते हैं।[2]

रस के प्रसंग में सर्वत्र विभावानुभावादि वाच्य ही होते हैं। क्योंकि रसादि, वाच्य सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर प्रकाशित होता है।[3] यहाँ नायिका का विस्मय का विभाव बनने से लेकर अभिलाष का विभाव बनने तक सारा वाच्यांश होगा और उसी वाच्यांश में सौन्दर्य का पर्यवसान होने के कारण प्रधानता है, व्यङ्ग्यार्थ केवल उपस्कारक होने के कारण अप्रधान है। अतः प्रस्तुत उदाहरण क में कटाक्ष, वदन इत्यादि "वस्तु व्यङ्ग्य" की अपेक्षा " अपरैव हि केयमत्र" इस वाच्य के चारुत्वस्थानी होने के कारण, इस काव्य को गुणीभूत व्यङ्ग्य माना जाना उचित है।

इसके पश्चात् वाच्यार्थ स्थानीय नायिकारूप विभाव प्रतीति के अनन्तर, "नायक की रति" अभिव्यक्त होकर, प्रतीत होने वाले

1- स च प्रतीयमानोऽप्यर्थविशेषः " अपरैव हि केयमत्र" इत्युचितगर्भीकृते वाच्यार्थे चारुत्वच्छायां विधत्ते, वाच्यस्यैव स्वात्मोन्मज्जनया निमज्जितव्यङ्ग्यजातस्य स्वात्मोन्मज्जनया निमज्जितव्यङ्ग्यजातस्य सुन्दरत्वेनावभासनात्। -- ध्व० लो० पृ०उ०पृ० ।।26

2- व्यङ्ग्यार्थोपस्कृतस्य तथा विविक्तस्यैव वाच्यस्योन्मज्जनेनाभिलाषादिविभाव-त्वात्। -- ध्व० लो० पृ०उ०पृ० ।।26

3- ॥अ॥ रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते।-ध्व०पृ०उ०पृ०।30
॥ब॥ यत्राप्यस्ति तद् तत्रापि विशिष्टविभावप्रतिपादनमुखेनैवास्य प्रतीतिः -- ध्व०लो० पृ०उ०पृ० ।31

विप्रलम्भ शृङ्गाररस रूप व्यङ्ग्य के प्रति वाच्यांश के गौण होने के कारण, इस काव्य का पर्यवसान ध्वनि में ही होगा ।

गुणीभूतव्यङ्ग्य के सभी स्थलों में यह सिद्धान्त घटित होता है कि पहले एक बार व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण रहता है । अन्तत: वाच्यार्थ रसध्वनि में समर्पित हो जाने के कारण रसध्वनि प्रधान एवं वाच्यार्थ गौण हो जाता है, क्योंकि काव्य का पर्यवसान रसध्वनि में होता है ।[1]

गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य-भेद के स्थल -

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य-भेद के क्षेत्र के विषय में स्पष्ट निर्देश किया है कि जहाँ भी व्यङ्ग्य अप्रधान होकर, अन्य वाच्यार्थ का उत्कर्षाधायक बने तथा वाच्य प्रधान हो, वह सम्पूर्ण स्थल गुणीभूतव्यङ्ग्य का है । जैसा कि पीछे प्रतिपादित किया जा चुका है, आनन्दवर्धन के अनुसार व्यङ्ग्य तीन प्रकार का होता है --

1- वस्तु व्यङ्ग्य
2- अलंकार व्यङ्ग्य
3- रसादि व्यङ्ग्य

उपर्युक्त तीनों प्रकार अप्रधान या उपस्कारक होकर गुणीभूतव्यङ्ग्य का रूप धारण करते हैं । तीनों प्रकार के व्यङ्ग्य विभिन्न प्रकार से प्रधानभूत, अन्य वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण होकर गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य-भेद के क्षेत्र को विस्तृत एवं सुशोभित करते हैं ।

1- यद्यपि वाच्यस्य प्राधान्यं तथापि रसध्वनौ तस्यापि गुणतेति सर्वस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य प्रकारे मन्तव्यम् । अतश्च ध्वनेरेवात्मत्वमित्युक्तपूर्वं बहुश: ।

--- ध्व0 लो0 तृ0 उ0 पृ0 1126

1- वस्तुरूप व्यङ्ग्य की गुणीभूतता

ध्वनिकार के अनुसार इसके दो प्रमुख प्रकार होते हैं --

(क) तिरस्कृतवाच्य गुणीभूतव्यङ्ग्य

(ख) अतिरस्कृतवाच्य गुणीभूतव्यङ्ग्य

(क) तिरस्कृतवाच्य गुणीभूतव्यङ्ग्य

वस्तुरूप व्यङ्ग्य के प्रथम प्रकार का तिरस्कृतवाच्य गुणीभूत-व्यङ्ग्य उस स्थल पर होताहै "जहाँ वाचक शब्दों से निकलने वाले स्वार्थ के परस्पर विरोध के कारण वाच्य तिरस्कृत हो जाता है ।" इस प्रकार के तिरस्कृतवाच्य शब्दों से व्यञ्जित व्यङ्ग्यार्थ, वाच्यार्थ को ही उपस्कृत करता है [1] तथा व्यङ्ग्यार्थ के उपस्कार के कारण वाच्यार्थ का विरोध समाप्त हो जाता है और उसी की प्रधानता, व्यङ्ग्यार्थ की अप्रधानता रहती है । इस प्रकार वाच्यार्थ व्यङ्ग्यार्थ को नियन्त्रित करके चारुत्वस्थानी होता है । जैसा कि ध्वनिकारके " लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र" उदाहरण से स्पष्ट है कि पहले " शशि उत्पल" आदि वाचक शब्दों का अर्थ तिरस्कृत हो जाता है क्योंकि चन्द्रमा एवं कमल कभी भी एक साथ दृष्टगत नहीं होते हैं परन्तु उनसे व्यञ्जित व्यङ्ग्यार्थ "मुख एवं कटाक्ष" वाच्यार्थ में ही शोभा का आधान करता है । जिससे सौन्दर्य का पर्यवसान वाच्यार्थ में होता है तथा व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा कम चारुत्वयुक्त होने के कारण गुणीभूत हो जाता है ।

(ख) अतिरस्कृतवाच्य गुणीभूतव्यङ्ग्य -

वस्तुव्यङ्ग्य के गुणीभूत होने पर द्वितीय प्रकार का

1- "तत्र वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यस्य तिरस्कृतवाच्येभ्यः प्रतीयमानस्य कदाचिद्वाच्यरूपवाक्यार्थापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यता ।"
---ध्व0पृ03030 ।।23

अतिरस्कृतवाच्य गुणीभूतव्यङ्ग्य उस स्थल पर होता है, जहाँ वाचक शब्दों के अर्थों में परस्पर विरोध न होने के कारण वाच्यार्थ तिरस्कृत नहीं होता है किन्तु " अतिरस्कृतवाच्य शब्दों से व्यक्त व्यङ्ग्यार्थ प्रधानीभूत वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण हो जाता है । [1] प्रतीयमान व्यङ्ग्यार्थ काव्यचारुत्व की दृष्टि से वाच्यार्थ के ही सौन्दर्य में वृद्धि करता है, जैसा कि ध्वनिकार ने प्रस्तुत उदाहरण में स्पष्ट किया है --

" अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः ।
अहो दैवगतिः कीदृक्तथापि न समागमः " ।।[2]

प्रस्तुत पद्य में " संध्या एवं दिवस के समागम न होने का वर्णन वाच्य" है । वाचक शब्दों के अर्थों में परस्पर विरोध न होने के कारण वाच्यार्थ "अतिरस्कृत" है । इस अतिरस्कृत वाच्य से नायक-नायिका के व्यवहार की व्यञ्जना होती है परन्तु नायक-नायिका का वर्णन रूप व्यङ्ग्यार्थ प्रधान न होकर, " संध्या-दिवस वर्णन रूप वाच्यार्थ को चमत्कारयुक्त बनाता है। अतः सौन्दर्य का पर्यवसान वाच्यार्थ में ही रहा है ।

संध्या के पक्ष में "अनुराग" शब्द का अर्थ है" लालिमायुक्त" तथा "अनुराग" का नायक-नायिका पक्ष में " अभिलाषयुक्त" अर्थ है । "अभिलाष" में अनुराग शब्द का अर्थ, निरूढ़ा लक्षणा से किया गया है

1- अतिरस्कृतवाच्येभ्योऽपि शब्देभ्यः प्रतीयमानस्य व्यङ्ग्यस्य कदाचिद्वाच्यप्राधान्येन काव्यचारुत्वापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यता ।

---ध्व०तृ०उ०पृ० ।129

2- ध्व० तृ० उ० पृ० ।129

अतः वाच्य तिरस्कृत नहीं होता है[1]। अतिरस्कृतवाच्य शब्दों से व्यञ्जित नायक-नायिका वर्णन रूप व्यङ्ग्यार्थ, संध्या-दिवस वर्णन रूप वाच्यार्थ को उपस्कृत करने के कारण अप्रधान हो जाता है तथा वाच्यार्थ ही अधिक सौन्दर्ययुक्त होने के कारण प्रधान है। अतः यहाँ वस्तु-व्यङ्ग्य, वाच्य के सौन्दर्य का पोषक होकर, स्वयं रसोन्मुख होने में असमर्थ होने के कारण गुणीभूत हो गया है।

इस प्रकार वस्तुमात्र-गुणीभूतव्यङ्ग्य के तिरस्कृतवाच्य एवं अतिरस्कृतवाच्य गुणीभूतव्यङ्ग्य, दोनों भेदों में वाच्य की प्रधानता होती है परन्तु रसध्वनि में उसकी भी गुणीभूतता हो जाती है।[2]

गुणीभूतव्यङ्ग्य के समस्त प्रकारों का अन्ततः रसध्वनि में पर्यवसान होने के कारण, प्रधानवाच्यार्थ रसध्वनि के प्रति गौण हो जाता है।

1- अनुरागशब्दस्य चाभिलाषे तद्रूपरक्तत्वलक्षणया सामान्यशब्दवत् प्रवृत्तिरित्यभिप्रायेणातिरस्कृतवाच्यत्वमुक्तम्।

----ध्व०लो०तृ०उ०पृ० 129

2- यद्यपि वाच्यस्य प्राधान्यं तथापि रसध्वनौ तस्यापि गुणतेति सर्वस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य प्रकारे मन्तव्यम्।

-- ध्व०तृ०उ०पृ० 126

अलंकाररूप व्यङ्ग्य की गुणीभूतता -

ध्वनिकार व्यङ्ग्य अलंकार के गुणीभाव के स्थल में भी गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य-भेद मानते हैं ।[1] व्यङ्ग्य अलंकार के प्रधान होने पर अलंकार ध्वनि एवं अप्रधान रहने पर गुणीभूतता होती है ।[2] ध्वनिकार के अनुसार अलंकार व्यञ्जना दो प्रकार से होती है - वस्तु से अलंकार व्यञ्जना एवं अलंकार से अलंकार व्यञ्जना ।[3] यदि वस्तुमात्र द्वारा अलंकार व्यक्त होते हैं तो वहाँ निश्चित रूप से अलंकारध्वनि होती है कदापि गुणीभूतव्यङ्ग्य नहीं होते हैं क्योंकि वस्तु की अपेक्षा अलंकार सर्वदा अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं । अतः जहाँ काव्य में वस्तु से अलंकार व्यङ्ग्य होता है, वहाँ व्यङ्ग्य अलंकार ही काव्य का प्रवृत्तनिमित्त होता है ।[4] व्यङ्ग्य अलंकार के प्रधान होने पर "अलंकारध्वनि" एवं अप्रधान होने पर वह गुणीभूतव्यङ्ग्य नहीं होता है वरन् उसकी काव्य संज्ञा ही नहीं होती है एवं "वाच्यमात्र" होता है ।[5]

1- व्यङ्ग्यालंकारस्य गुणीभावो दीपकादिविषयः ।

--ध्व०पृ०उ०पृ० ।।29

2- अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते ।

तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः ।।

-- ध्व० 2/27

3- कदाचिद्वस्तुमात्रेण व्यज्यन्ते कदाचिदलंकारेण । --ध्व०द्वि०उ०पृ०636

4- "~~अल~~ व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालंकृतयस्तदा ।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां
अत्र हेतु :
काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात् ।।" - ध्व० 2/29

5- यस्मात्तत्र तथाविधव्यङ्ग्यालंकारपरत्वेनैव काव्यं प्रवृत्तम् अन्यथा तु तद्वाक्यमात्रमेव स्यात् । - ध्व० द्वि०उ०पृ० 636

अलंकार से अलंकार व्यङ्ग्य होने पर वाच्य एवं व्यङ्ग्य अलंकारों में से जिसमें चारुत्व का पर्यवसान होता है उसी की प्रधानता होती है क्योंकि प्रधानता मानने में एकमात्र हेतु "चारुत्व का उत्कर्ष" है ।[1] यदि व्यङ्ग्यालंकार की अपेक्षा वाच्यालंकार में चारुत्व का उत्कर्ष हो अतएव उसकी प्रधानता हो तो व्यङ्ग्यालंकार की गुणीभूत-व्यङ्ग्यता होती है ।[2]

यही अलंकार-ध्वनि एवं अलंकार की गुणीभूतव्यङ्ग्यता में अन्तर है कि "जहाँ व्यङ्ग्य अलंकार की प्रधानता हो, वाच्यालंकार व्यङ्ग्यालंकार का सौन्दर्य-पोषक हो चारुत्व का पर्यवसान व्यङ्ग्य अलंकार में हो वहाँ अलंकार-ध्वनि होती है"।[3] इसके विपरीत जहाँ "व्यङ्ग्य अलंकार की प्रतीति तो हो रही हो परन्तु वाच्यालंकार गौण होकर व्यङ्ग्यालंकार के चारुत्व हेतु रूप में अवभासित न हो वरन् वाच्यालंकार में सौन्दर्य का पर्यवसान होने के कारण उसी की प्रधानता हो एवं व्यङ्ग्यालंकार के द्वारा ही वाच्यालंकार में सौन्दर्य उत्पन्न हो रहा हो तो वहाँ अलंकार गुणीभूत-व्यङ्ग्य" की कोटि में आता है ।[4]

1- चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा इति ।

-- ध्व0लो0पृ0637

2- तदप्राधान्ये तु वाच्यालंकार एव प्रधानमिति गुणीभूतव्यङ्ग्यतेति भावः।

-- ध्व0दि030 लो0 पृ0 638

3- अलङ्कारान्तरव्यङ्ग्यभावे पुनः ध्वन्यङ्गता भवेत् ।
चारुत्वोत्कर्षतो व्यङ्ग्यप्राधान्यं यदि लक्ष्यते ।।

-- ध्व0 2/30

4- अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते ।
तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः ।।-- ध्व02/27

ध्वनिकार के अनुसार " समस्त वाच्यालंकारों में चारुता व्यङ्ग्यांश के अनुगमन के कारण ही " उत्पन्न होती है ।[1] यह व्यङ्ग्य वस्तुरूप , अलंकार-रूप एवं रसादिरूप हो सकता है । अतः "व्यङ्ग्य" ही वाच्यालंकारों का मूलभूत सारतत्त्व है । जिन अलंकारों में गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्पर्श नहीं होता है उन अलंकारों में वाच्यता तो आ जाती है परन्तु मूलतत्त्व " रमणीयता" नहीं आती है ।[2] यदि चारुताविहीन केवल कथन युक्त काव्यों को ही अलंकार की संज्ञा दी जाय तो -- "यथा गौस्तथा गवयः" तथा "कैवाली पुष" ।लो०धु०उ०पृ० ।।57। इत्यादि स्थानों पर भी उपमा तथा रूपक अलंकार मानने पड़ेंगे परन्तु वे अलंकार न होकर अलंकार का चित्रमात्र होते हैं क्योंकि ध्वनिकार की अलंकार-विषयक धारणा ही यह है कि जिन अलंकारों में व्यङ्ग्यांश के स्पर्श के कारण रमणीयता की वृद्धि होती है, वे ही अलंकार वास्तव में अलंकार कहे जा सकते हैं ।

ध्वनिकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि यह उनका स्वतः कल्पित मत नहीं है परन्तु लक्ष्य ग्रन्थों के अवलोकन से यह बात स्पष्ट होती है कि "सर्वत्र जिन वाच्यालंकारों में व्यङ्ग्यांश या व का अनुगमन हो जाता है उन , अलंकारों में अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है ।"[3] अलंकाररहित

1- वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं व्यङ्ग्यांशानुगमे सति ।
   प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते ।। -- ध्व० 3/36

2- तथातिशयोक्तिरयमलङ्कारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात्तस्य चारुत्वातिशययोगोऽन्यस्य त्वलङ्कारमात्रतैवेति । --ध्व०वृ०उ०पृ०।।42
   ।ध्वनिकार अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों में व्यङ्ग्य मानते हैं ।।

3- वाच्यालंकारवर्गोऽयं व्यङ्ग्यांशस्यालङ्कारस्य वस्तुमात्रस्य वा यथायोगमनुगमे सति छायातिशयं बिभ्रल्लक्षणकारैरेकदेशेन दर्शितः स तु तथारूपः प्रायेण सर्व एव परीक्ष्यमाणो लक्ष्ये निरीक्ष्यते ।
   -- ध्व०वृ०उ०पृ० ।।39
   एकदेशेन एकदेशविवर्तिरूपकमेव दर्शितम् । -- ध्व०लो०वृ०उ०पृ० ।।40

होने पर भी वाच्यप्रधान काव्य व्यङ्ग्यांश के स्पर्श के कारण उच्चकोटि के काव्य बन जाते हैं ।[1] यद्यपि वाच्यालंकारों में वाच्य की प्रधानता होती है । अतः व्यङ्ग्य गुणीभूत हो जाता है । अन्य वाच्यालंकार जिनमें अन्य कोई व्यङ्ग्य नहीं रहता तथा वाच्य ही अधिक उत्कृष्ट रहता है वे तुच्छ कोटि के काव्य बन जाते हैं ।

प्राचीन आचार्यों के "एकदेशविवर्ति रूपक" (जिसमें कुछ रूपक वाच्य एवं कुछ व्यङ्ग्य होते हैं) की व्याख्या से स्पष्ट होता है कि पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी व्यङ्ग्य के उस रूप की सत्ता स्वीकारी थी जो वाच्य का उपकारक होता है ।[2]

ध्वनिकार के अनुसार रूपक, दीपक , समासोक्ति, अर्थान्तरन्यास इत्यादि चारुता-युक्त सभी अलंकारों में "चारुता व्यङ्ग्यांश हेतुक" होती है । चारुतारहित उपमादि अलंकार, अलंकार पद भाजन ही नहीं बन पाते हैं क्योंकि अलंकारों का सामान्य लक्षण ही चारुता है और यह चारुत्व चूंकि व्यङ्ग्यार्थ निमित्तक होता है, अतः व्यङ्ग्यार्थ उपस्कारक होने के नाते वाच्यालंकारों की अपेक्षा गुणीभूत हो जाता है ।[3] इस प्रकार उपमादि

1- एवं निरलङ्कारेभ्युन्नतानतायां तुच्छत्वेन भासमानममुनांशेन सारेण काव्यं चारुतीकृतमित्युक्त्वालङ्कारस्यापि व्यङ्ग्येनैव रम्यतरत्वम् इति दर्शयति ।
--ध्व०लो०द्वि०उ०पृ० ।।40

2- "राजहंसैरवीज्यन्त शरदेव सरोन्नृपाः ।"इत्यत्र हंसानां चामरत्वं प्रतीयमानं तन्नृपाः इति वाच्येऽर्थे गुणतां प्राप्तमलङ्कारवर्गेऽपि दर्शितं तावदमुना द्वारेण सूचितोऽयं प्रकार इत्यर्थः । अन्ये त्वेकदेशेन वाच्यमानवैचित्र्यमात्रेणोत्प्रेक्षाबुद्धिभिन्नमेव व्याचचक्षिरे व्यङ्ग्यं यदलङ्कारान्तरं वस्त्वन्तरं संस्पृशन्ति ये स्वात्मनः संस्कारायातिशय-मीति ते तथा ।
-- ध्व०लो० द्वि०उ० पृ० ।।40

3- न चातिशयोक्तिवक्रोक्त्युपमादीनां सामान्यलक्षणत्वं चारुताहीनानाम् उपपद्यते । चारुता तु चेतदायत्तेत्येतदेव गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं सामान्य-लक्षणम् ।
-- ध्व०लो०द्वि०उ० पृ० ।।60

अलंकारों में यह चारुता गुणीभूतव्यङ्ग्य द्वारा ही सम्पन्न की जाती है परन्तु व्यङ्ग्य में स्वतः ही चारुता सम्पादन एवं रसाभिव्यक्ति द्वारा अपूर्व आनन्दानुभूति प्रदान करने की योग्यता होती है, व्यङ्ग्य के कारण ही कोई काव्य सहृदयात्मक हो सकता है , रसानुभूति कराना ही व्यङ्ग्य का प्राण है । अतः गुणीभूतव्यङ्ग्य में किसी अन्य तत्त्व द्वारा चारुता का सम्पादन नहीं किया जाता है ।[1] इसी कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य सभी वाच्यालंकारों का रमणीयताधायक होने के कारण , सभी अलंकार गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के अन्तर्गत आते हैं -

"तदेवं व्यङ्ग्यांशसंस्पर्शे सति चारुत्वातिशययोगिनो रूपकादयोऽलंकाराः सर्व एव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य मार्गः । " - ध्व0वृ03उ0पृ0 156

इस प्रकार "वाच्यार्थ का पोषक होने के कारण, उपकारकत्वात् व्यङ्ग्य का अप्रधान होना ही गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का लक्षण है ।"[2] चूँकि यह व्यङ्ग्यार्थ वस्तु, अलंकार एवं रस भेद से त्रिविध होता है, इसलिये गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य में तीनों की ही वाच्य अलंकार के प्रति गुणीभूतता अभीष्ट है । यद्यपि प्रसंगोपात्त रूपक आदि अलंकारों में जो व्यङ्ग्यार्थ गुणीभूत होता है, वह अलंकार रूप ही होता है ।[3]

1- व्यङ्ग्यस्य च चारुत्वं रसाभिव्यक्तियोग्यतात्मकम्, रसस्य स्वात्मनैव विश्रान्तिधामानन्दात्मकत्वमिति नानवस्था काचिदिति तात्पर्यम् ।
-- ध्व0 लो0 तृ0उ0 पृ0 160

2- "प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते ।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत् ।।" - ध्व0 3/34

1- नैवम्, वस्तुमात्रं वा रसो वा व्यङ्ग्यं तद्गुणीभूतं भविष्यति ।
--ध्व0 तृ0उ0 पृ0 164

अलंकारों में जैसे- रूपक अलंकार में व्यङ्ग्य उपमालंकार के कारण सौन्दर्य उत्पन्न होता है परन्तु उपमा अर्थात् "सादृश्य" प्रधान नहीं होता है क्योंकि वह वाच्य रूपक में चारुतासम्पादन करता है । यहाँ चारुता का पर्यवसान "व्यङ्ग्य-सादृश्य" में न होकर, "उपमानोपमेयभाव के अभेद-वर्णन" में होता है ।

अतः गुणीभूतव्यङ्ग्य "चारुतायुक्त" सभी वाच्यालंकारों का "सामान्य लक्षण" होता है । उसी को भलीभाँति समझकर सभी अलंकारों को लक्षित एवं संगृहीत किया जा सकता है ।[1] क्योंकि गुणीभूत व्यङ्ग्य के अभाव में अलंकारों में चारुता नहीं उत्पन्न होती है । गुणीभूत व्यङ्ग्य सभी अलंकारों का "सामान्य लक्षण" है । ध्वनिकार का यह तात्पर्य है कि अलंकार, वाणी के विकल्प हैं और वाणी के विकल्प अनन्त प्रकार के हैं । इसलिये हर अलंकार का "विशेष लक्षण" किसी एक व्यक्ति के द्वारा प्रस्तुत किया जाना असम्भव है । अलंकारों के नये-नये भेद तो युग-युगान्तर तक लोगों के मस्तिष्क में जन्म लेते रहेंगे इसलिए अलंकारों को सीमाबद्ध करना उसी तरह असम्भव है जिस तरह शब्दों का प्रतिपद-पाठ । अतएव अलंकारों का सामान्य लक्षण प्रस्तुत करना अधिक सुरक्षित एवं सुकर उपाय है ।[2] और अलंकारों का सामान्य लक्षण है "व्यङ्ग्य की गुणीभूतता" अर्थात् जहाँ भी व्यङ्ग्यार्थ गुणीभूत हो वह

1- गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं च तेषां तथा जातीयानां सर्वेषामेवोक्तानुक्तानां सामान्यम् । तल्लक्षणे सर्वे एवैते सुलक्षिता भवन्ति ।-ध्व०सू०उ०-पृ० 1156

2- एकैकस्य स्वरूपविशेषकथनेन तु सामान्यलक्षणरहिते प्रतिपादपाठेनेव शब्दा न शक्यन्ते तत्त्वतो निर्ज्ञातुम्, आनन्त्यात् ।
अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालङ्कारा: ।
-- ध्व०सू०उ०पृ० 1156

अलंकार का क्षेत्र है । अतः ध्वनिकार के अनुसार "सम्पूर्ण अलंकार - प्रपञ्च गुणीभूतव्यङ्ग्य का मार्ग है ।"

इस प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्य का क्षेत्र निर्धारित करने के अनन्तर ध्वनिकार ने विभिन्न अलंकारों में व्यङ्ग्यांश के अनुगमन के आधार पर अलंकारों का वर्गीकरण करके उनका स्वरूप स्पष्ट किया है । अलंकारों में व्यङ्ग्य रूप अर्थ की अनेक अवस्थाएं हो सकती हैं ।

कुछ अलंकारों में कोई अलंकार-विशेष, सामान्य रूप से गर्भित रहता है जैसे- "उपमा," कोई एक अलंकार सभी अलंकारों में सामान्य रूप से अनुप्रविष्ट होकर रमणीयता का सम्पादन करता है जैसे- "अतिशयोक्ति", कुछ अलंकारों का प्राण ही वस्तु व्यञ्जना होती है जैसे- "समासोक्ति" आदि, कुछ अलंकार परस्पर गर्भित रहते हैं जैसे- "दीपक में उपमा एवं मालोपमा में दीपक," किसी अलंकार-विशेष में कोई अलंकार-विशेष व्यङ्ग्य रहता है जैसे- "व्याजस्तुति में प्रेयोऽलंकार" इत्यादि । इस प्रकार अलंकारों में व्यङ्ग्य अर्थ अनेक प्रकार से वाच्य की अपेक्षा गुणीभूत हो जाता है ।

ध्वनिकार के अनुसार इसके छह प्रमुख भेद होते हैं --

(क) सर्वालंकार गर्भित अलंकार
(ख) सादृश्यमूलक अलंकार
(ग) वस्तुव्यञ्जनामूलक अलंकार
(घ) विशेषालंकार गर्भित अलंकार
(ङ) सामान्य अलंकार गर्भित अलंकार
(च) परस्पर गर्भित अलंकार

(क) सर्वालंकार गर्भित अलंकार

व्यङ्ग्यालंकारों में अतिशयोक्ति अलंकार सबसे महत्त्वपूर्ण है, जिसका क्षेत्र सर्वाधिक व्यापक है । अन्य अलंकार भी दूसरे अलंकारों में

व्यङ्ग्य रूप में चारुता वृद्धि करते हैं परन्तु अतिशयोक्ति में यह विलक्षणता है कि यह सभी अलंकारों में व्यङ्ग्य रूप में रह कर उनका पोषण करती है, अतिशयोक्ति जिस अलंकार का स्पर्श करती है उस काव्य में अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है । अन्य अलंकार विशेष अलंकारों में ही अनुप्रविष्ट होते हैं, सभी में नहीं, यही अतिशयोक्ति की अन्य अलंकारों से विलक्षणता है इसी कारण अतिशयोक्ति का पहले विवेचन किया गया है ।[1]

सभी अलंकारों में अतिशयोक्तिगर्भता मानने का कारण यह भी है कि आचार्य भामह ने, जो कि प्रथम अलंकार-वादी आचार्य हैं कहा है कि अतिशयोक्ति के बिना कोई अलंकार हो ही नहीं सकता है[2]। भामह ने अतिशयोक्ति को सभी "अलंकारों का सामान्य रूप" कहा है । सामान्य कहने का तात्पर्य यह है कि "अतिशयोक्ति जिस अलंकार की पोषिका बन जाती है, उसी में रमणीयता उत्पन्न हो जाती है ।" इसके अभाव में अलंकारों में प्राणभूततत्त्व रमणीयता नहीं आती है वरन् केवल जातीयता आ जाती है ।[3]

1- यत: प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्यक्रिया ।
कृतैव च सा महाकविभि: कामपि काव्यच्छायां पुष्यति ।
--- ध्व0लृ030 पृ0।।39

2- "सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्य: कोऽलङ्कारोऽनया विना।।
--- काव्यालं0 2/85

3- तत्रातिशयोक्तिर्यमलङ्कारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात्तस्य
चारुत्वातिशययोगोऽन्यस्य त्वलङ्कारमात्रतैवेति ।
---ध्व0लृ030पृ0 ।।42

अतिशयोक्ति का शाब्दिक अर्थ है - "अतिशयता" अर्थात् "लोकोत्तर उक्ति" । सारे अलंकार "भंगी-भणिति" अथवा "विचित्रोक्ति रूप" होने के कारण लोकोत्तर रूप होते हैं । इसी लोकोत्तरता के कारण अतिशयोक्ति रूप होते हैं, इसीलिये अतिशयोक्ति को समस्त अलंकारों का सामान्य-लक्षण स्वीकार किया गया है ।[1] इस अतिशयोक्ति के कारण दृष्ट पूर्व भी, अर्थ काव्य में नवीनता ग्रहण किये हुए विचित्र से दिखाई पड़ते हैं और प्रमदा उद्यानादि में "विभावत्व" उत्पन्न होता है ।[2]

अतिशयोक्ति के योग से रमणीयता उत्पन्न होती है परन्तु अनुचित रूप से गुम्फित होने पर काव्य-शोभा नष्ट हो जाती है । वस्तु-व्यञ्जना, अलंकार-व्यञ्जना का ध्यान करके, औचित्य के अनुसार प्रतिपादन करने पर काव्य उत्कृष्ट कोटि का हो जाता है ।[3] जबकि अतिशयोक्ति अन्य अलंकारों में गौणरूप में व्यङ्ग्य, अतएव अप्रधान रूप में अनुप्रविष्ट होकर वाच्य की उपस्कारक, रमणीयताकारक-तत्त्व होती है, तब गुणीभूतव्यङ्ग्य का रूप धारण करती है ।

।ब। सादृश्यमूलक अलंकार

सभी सादृश्यमूलक अलंकारों जैसे- उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता, निदर्शना आदि में गुणीभूतव्यङ्ग्यता का प्रतिपादन

1- लोकोत्तरतैव चातिशयः, तेनातिशयोक्तिः सर्वालंकारसामान्यम् ।
-- ध्व० लो० तृ०उ०पृ० ।।45

2- अनया अतिशयोक्त्या अर्थः सकलजनोपभोगपुराणीकृतोऽपि विचित्रतया भाव्यते । तथा प्रमदोद्यानादिः विभावतां नीयते । विशेषेण भाव्यते रसमयी क्रियते । -- ध्व० लो०तृ०उ०पृ० ।।45

3- कथं ह्यतिशयोक्तिः स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्येनोत्कर्षमावहेत् । -- ध्व० लो०तृ०उ०पृ० ।।39

करते हुए ध्वनिकार कहते हैं कि सभी सादृश्यमूलक अलंकारों में गम्यमान धर्मों के कारण उपलब्ध, जो सादृश्य होता है, वहीं शोभातिशयशाली होता है। उसी के संस्पर्श के कारण वाच्य में चारुत्व एवं अलंकारत्व की प्राप्ति होती है। अतः सभी सादृश्यमूलक अलंकार, व्यङ्ग्य सादृश्य के संस्पर्श के कारण निर्विवाद रूप से गुणीभूतव्यङ्ग्य के विषय होते हैं।[1]

कुछ सादृश्यमूलक अलंकारों का स्वरूप-विवेचन करके ध्वनिकार के मत का परीक्षण किया जा सकता है कि "उनमें व्यङ्ग्य सादृश्य" के कारण ही चारुत्व उत्पन्न होता है।

[अ] ध्वनिकार ने गुणीभूतव्यङ्ग्य के क्षेत्र में उपमालंकार का भी उल्लेख किया है कि "उसमें व्यङ्ग्य-सादृश्य ही शोभातिशयशाली होता है, जिसके कारण वाच्य रूप उपमा में चारुत्व उत्पन्न होता है। उपमालंकार में [उपमान तथा उपमेय का] भेद होने पर [उनके] साधर्म्य का वर्णन किया जाता है।"[2] व्यङ्ग्य सादृश्य के कारण ही उपमान एवं उपमेय के साधर्म्य वर्णन रूप "वाच्यभूता उपमा" में चारुत्व उत्पन्न होता है।

1- तेषु चालंकारेषु सादृश्यमुखेन तत्त्वप्रतिलम्भः यथा रूपकोपमा-तुल्ययोगितानिदर्शनादिषु तेषु गम्यमानधर्ममुखेनैव यत्सादृश्यं तदेव शोभातिशयशालि भवतीति ते सर्वेऽपि चारुत्वातिशययोगिनः सन्तो गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यैव विषयाः।

-- ध्व० तृ० उ० पृ० 1149

2- "साधर्म्यमुपमा भेदे"।

-- का०प्र०द०उ०पृ० 443

" प्रतीयमानेन विना यद्यपि नोक्तेर्वैचित्र्यम्, वैचित्र्यं चालङ्कारः तथापि न ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यव्यवहारः । न खलु व्यङ्ग्यसंस्पर्शपरामर्शादत्र चारुत्वप्रतीतिः अपि तु वाच्यवैचित्र्यप्रतिभासादेव "।

-- का०प्र०द०उ०पृ० 448

आचार्य मम्मट की प्रस्तुत पंक्तियों से भ्रमित होकर कुछ लोग कहते हैं कि " मम्मट उपमा के स्थलों में गुणीभूतव्यङ्ग्य का निषेध कर रहे हैं ।" लेकिन उनकी दृष्टि में यहाँ पर गुणीभूतव्यङ्ग्यता का निषेध कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? जब वे स्वयं [गुणीभूत] व्यङ्ग्यार्थ से संस्पर्श को ही चारुत्व का हेतु मान रहे हैं -

"प्रतीयमानेन विना यद्यपि नोक्तेर्वैचित्र्यम् ।"

"तथापि न ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यव्यवहारः ।" मम्मट की पंक्ति का आशय केवल इतना है कि "गुणीभूतव्यङ्ग्य" के रहते हुए भी प्रस्तुत स्थल को गुणीभूतव्यङ्ग्य के नाम से नहीं व्यवहृत किया जाता है । "प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति" न्याय से इस स्थल को "उपमा" के नाम से व्यवहृत किया जाता है क्योंकि यहाँ वाच्यभूता उपमा का प्राधान्य है । यह गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है, तथापि चारुत्व की झटिति प्रतीति उपमाजन्य है, उपमा का प्राधान्य है, उस प्रतीयमान की तुलना में, जो चारुत्व-हेतु होते हुए भी विलम्ब से प्रतीति-पथ में आने के कारण गुणीभूत हो गया है ।

इस प्रकार उपमालंकार के स्थल में "व्यङ्ग्य सादृश्य" के कारण वाच्यभूता उपमा में चारुत्व उत्पन्न होता है एवं व्यङ्ग्य सादृश्य गुणीभूत हो जाता है ।

[ब] अनन्वय अलंकार में स्वयं उपमेय को ही उसका उपमान प्रतिपादित करते हुए[1] "उपमानान्तर के व्यवच्छेद" में चमत्कार हुआ

1- उपमानोपमेयत्वे एकस्यैववाक्यगे । अनन्वयः ।-का०प्र० 10/134

करता है । इसलिये यहाँ भी व्यङ्ग्य साम्य, वाच्य-भूत अनन्वय के प्रति गुणीभूत होता हुआ वाच्य में ही चारुत्वाधान करता है ।

॥ग॥ उपमेयोपमा अलंकार में "व्यङ्ग्य-सादृश्य" के कारण उपमान का उपमेय रूप में तथा उपमेय का उपमान रूप में वर्णन होता है ।[1] व्यङ्ग्य सादृश्य वाच्यभूता उपमेयोपमा के प्रति गुणीभूत रहता है ।

॥द॥ ससन्देह अलंकार में भी व्यङ्ग्य सादृश्य के कारण ही उपमेय में उपमान का संशय किया जाता है,[2] जो कि सादृश्य के अभाव में असम्भव है । व्यङ्ग्य सादृश्य, वाच्य रूप संशय का उपस्कारक होने के कारण गुणीभूत हो जाता है ।

॥य॥ अपह्नुति अलंकार में व्यङ्ग्य सादृश्य के कारण "उपमेय का निषेध करके, उपमान की स्थापना" की जाती है ।[3] रमणीयता का पर्यवसान वाच्य रूप " उपमेय को असत्य सिद्ध करके उपमान की सत्यरूपेण" स्थापना अपह्नव में होता है तथा व्यङ्ग्य रूप सादृश्य सौन्दर्यवर्धक एवं उपस्कारक अवश्य होता है परन्तु गौण होता है । अतः गुणीभूतव्यङ्ग्य की कोटि में आता है ।

॥र॥ प्रतिवस्तूपमा अलंकार में "एक ही साधारण-धर्म दो वाक्यों में दो बार भिन्न शब्दों द्वारा कहा जाता है ।"[4] इसमें व्यङ्ग्य सादृश्य के कारण ही दोनों वाक्यों में "एक धर्म का कथन" सम्भव होता है परन्तु

1- विपर्यासः उपमेयोपमा तयोः -- का0प्र0 10/135 सू0

3- प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः ।--का0प्र0 10/145सू0

2- ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः । -- का0प्र0 10/137 सू0

4- प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥101॥ -- सू0

सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः ।

-- का0प्र0 10/153 सू0

सौन्दर्य का पर्यवसान " एक धर्म के भिन्न शब्दों द्वारा कथन रूप" वाच्य में होता है एवं औपम्य गम्य होता है ।

।ल।   रूपक अलंकार में व्यङ्ग्य सादृश्य के कारण ही "उपमान एवं उपमेय का अभेद" रूप में वर्णन किया जाता है ।[1] परन्तु रमणीयता सादृश्य रूप उपमा में न होकर "अभेद वर्णनरूप" रूपक अलंकार में रहती है ।

।व।   उत्प्रेक्षा अलंकार में व्यङ्ग्य सादृश्य के कारण उपमेय की उपमान के साथ सम्भावना की जाती है[2] व्यङ्ग्य सादृश्य के अभाव में यह "सम्भावना" रूप वाच्य सौन्दर्य सम्भव नहीं होता है परन्तु व्यङ्ग्य वाच्योपस्कारक होकर, गौण अतएव अप्रधान होता है ।

।श।   निदर्शना अलंकार में व्यङ्ग्य सादृश्य के कारण " दो वस्तुओं का असम्भव सम्बन्ध ।प्रकृत की अप्रकृत के साथ। उपमा का परिकल्पक ।उपमा में पर्यवसित। होता है ।"[3] यद्यपि वाक्यार्थों या पदार्थों के उपमानोपमेय भाव का उपमा में पर्यवसान होता है, परन्तु सौन्दर्य व्यङ्ग्य रूप "सादृश्य" में न हो कर वाच्य रूप " दृष्टान्त द्वारा असम्भव वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध" में होता है । अतः उपमा गुणीभूत हो जाती है ।

।ष।   तुल्ययोगिता अलंकार में व्यङ्ग्य-सादृश्य के कारण ही "या तो केवल अप्रस्तुतों या केवल प्रस्तुतों का एक धर्म के साथ सम्बन्ध सम्भव होता है ।"[4] यहाँ उपमा व्यङ्ग्य है, वाच्य तुल्ययोगिता है, उपमा का मूलाधार है सादृश्य- विधान तथा तुल्ययोगिता में केवल प्रस्तुतों या केवल

1- तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः ।   -- का०प्र० 10/138 वृ०

2- सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।   -- का प्र० 10/136 वृ०

3- निदर्शना । अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः ।

-- का० प्र० 10/148 वृ०

4- नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ॥ -- का० प्र० 10/157 वृ०

अप्रस्तुतों का एक धर्म के साथ सम्बन्ध होता है । यहाँ सौन्दर्य का पर्यवसान व्यङ्ग्य उपमा में न होकर वाच्यरूप "नियत का एक धर्म के साथ सम्बन्ध" में होता है । इस प्रकार तुल्ययोगिता में गम्य सादृश्य गुणीभूत हो जाता है ।

॥ख॥ दृष्टान्त अलंकार में व्यङ्ग्य सादृश्य के कारण ही "उपमान की उपमेय के साथ, उपमान के विशेषणों की उपमेय के विशेषणों के साथ, साधारण धर्म की साधारण धर्म के साथ समानता दिखाई जाती है ।"[1] सादृश्य के अभाव में दो भिन्न साधारण धर्म, उपमान वाक्य एवं उपमेय वाक्य के औपम्य के प्रयोजक नहीं हो सकते हैं परन्तु वह औपम्य वाच्य रूप "बिम्बप्रतिबिम्ब -भाव" की अपेक्षा गौण होता है ।

इसी प्रकार अन्य सादृश्यमूलक अलंकारों में भी व्यङ्ग्य सादृश्य के कारण ही चारूत्व की वृद्धि होती है । व्यङ्ग्य सादृश्य वाच्य रूप अलंकार का उपस्कारक होता है परन्तु सौन्दर्य का पर्यवसान वाच्य-रूप अलंकार में ही होता है । इस कारण सादृश्यमूलक अलंकार निर्विवाद रूप से गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य के भेद होते हैं ।

॥ग॥ वस्तुव्यञ्जनामूलक अलंकार

ध्वनिकार के अनुसार समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अलंकारों का मूलाधार ही " वस्तुव्यञ्जना है, वस्तु व्यञ्जना के अभाव में इन अलंकारों का स्वरूप ही नहीं सिद्ध हो सकता है तथा ये अलंकार नहीं कहे जा सकते हैं । इन अलंकारों में अत्यन्त अनिवार्य, " वस्तु व्यञ्जना" वाच्यार्थ की उपकारक होने के कारण गौण हो जाती है तथा चारूत्व का पर्यवसान वाच्य में ही होने

1- दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् ।।

-- का० प्र० 10/154सू०

के कारण से अलंकार निर्विवाद रूप से गुणीभूतव्यङ्ग्य -काव्य के विषय होते हैं ।[1]

कुछ वस्तुव्यञ्जनामूलक अलंकारों का स्वरूप विवेचन करके ध्वनिकार के मत का परीक्षण किया जा सकता है कि वस्तु व्यञ्जना इन अलंकारों का अनिवार्य धर्म है ।

।अ। समासोक्ति अलंकार में श्लिष्ट विशेषणों के द्वारा प्रस्तुत के व्यवहार का इस रूप में कथन होता है कि उससे अप्रस्तुत के व्यवहार की व्यञ्जना" होती है ।[2] इस प्रकार व्यङ्ग्य "अप्रस्तुत के व्यवहार की व्यञ्जना ही" समासोक्ति का प्राण है जो अन्ततः वाच्य का ही उपस्कारक होता है क्योंकि विशेष्य श्लिष्ट न होने के कारण व्यङ्ग्यार्थ अपर्यवसित, अतः गौण होता है । अतः व्यङ्ग्यार्थ गुणीभूत हो जाता है ।

।ब। आक्षेप अलंकार में " वाच्यार्थ में विशेष उत्कर्ष प्रकट करने के लिये अभीष्ट कथन का निषेध-सा कर दिया जाता है, ।1। यह वक्ष्यमाणविषयक । आगे कही जाने वाली बात का पहले से निषेध-सा। एवं ।2। उक्तविषय । पूर्वकथित बात का निषेध । दो प्रकार का होता है ।"[3] यहाँ पर "अशक्यवक्तव्यत्व" अथवा "अतिप्रसिद्धत्व" रूप व्यङ्ग्यार्थ

1- समासोक्त्याक्षेपपर्यायोक्तादिषु तु गम्यमानांशाविनाभावेनैव तत्त्वव्यवस्थानाद्गुणीभूतव्यङ्ग्यता निर्विवादैव ।

--ध्व0पृ0उ0पृ0।149

2- परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः ।। -- का0पृ0 10/147पृ0

3- निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ।।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ।।

-- का0 पृ010/160पृ0

के कारण ही अभीष्ट कथन का निषेध किया जाता है ।" इस प्रकार शब्दतः प्रतिपादित "प्रतिषेध रूप" जो वाच्यार्थ है, वह व्यङ्ग्य विशेष का आक्षेप करता हुआ ही चमत्कारकारक बन जाता है । अतः चारुत्वोत्कर्षाधायक होने के कारण यहाँ भी "आक्षिप्त व्यङ्ग्यार्थ गुणीभूत" हो जाता है तथा "निषेध रूप वाच्यार्थ" उपकार्यत्वात् प्रधान हो जाता है ।[2]

।स। विशेषोक्ति अलंकार में "कार्योत्पत्ति के समस्त कारणों के उपस्थित रहने पर भी, कार्य का कथन नहीं होता है ।[3] विशेषोक्ति के अनुक्तनिमित्ता, उक्तनिमित्ता एवं अचिन्त्यनिमित्ता तीनों ही भेद[4] गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल नहीं बन सकते हैं । "उक्तनिमित्ता" नामक भेद में तो "कार्याभाव का निमित्त उक्त होने के कारण व्यङ्ग्य का अस्तित्व ही नहीं सिद्ध हो सकता है ।" अचिन्त्यनिमित्ता में "वह व्यङ्ग्य निमित्त, अचिन्त्य हो जाता है अर्थात् निमित्त अत्यन्त गुप्त होने के कारण व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति ही नहीं होती है ।" जब व्यङ्ग्य निमित्त का "अस्तित्व ही नहीं सिद्ध होगा तो उसकी गुणीभूतता के आधार पर इन स्थलों को गुणीभूत व्यङ्ग्य का स्थल कैसे कहा जायेगा ?[5] अतः ध्वनिकार

1- अवक्तव्यवक्तव्यत्वमतिप्रसिद्धत्वं वा विशेषं वक्तुं निषेधो निषेध इव यः ।

--का०प्र०द०उ०पृ० 497

2- आक्षेपेऽपि व्यङ्ग्यविशेषाक्षेपिणोऽपि वाच्यस्यैव चारुत्वं प्राधान्येन वाक्यार्थ आक्षेपोक्तिसामर्थ्यादेव जायते । तथा हि-तत्र शब्दोपारूढो विशेषाभिधानेच्छया प्रतिषेधरूपो य आक्षेपः स एव व्यङ्ग्यविशेषमाक्षिपन् मुख्यं काव्यशरीरम् । चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा । -- ध्व०प्र०उ०पृ० 189

3- विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः । -- का०प्र०10/162सू०

4- अनुक्तनिमित्ता उक्तनिमित्ता अचिन्त्यनिमित्ता च ।--का०प्र०पृ०498

5- इयं चाचिन्त्यनिमित्तेति नास्यां व्यङ्ग्यस्य सद्भावः । उक्तनिमित्तायामपि वस्तुस्वभावमात्रत्वे पर्यवसानमिति तत्रापि न व्यङ्ग्यसद्भावशङ्का । -- ध्व०लो०प्र०उ०पृ०-199

की दृष्टि में केवल "अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति" ही गुणीभूतव्यड्ग्य का स्थल है । यहाँ "कारणों के सद्भाव में ही कार्य के अभाव का व्यड्ग्य निमित्त अनुक्त रहता हुआ, वाच्य में चारुता का उत्कर्ष करता है, और इस प्रकार वह वाच्य का उपस्कारक होते हुए गुणीभूत हो जाता है । जैसे कि प्रस्तुत उदाहरण में -

"आहूतोऽपि सहायैरोमित्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि ।
गन्तुमना अपि पथिकः सड्.कोचं नैव शिथिलयति ।।"

प्रस्तुत पद्य मे "निद्रासंकोच को शिथिल" करने के समस्त कारणों के उपस्थित होते हुए भी, "निद्रासंकोच का शिथिल होना" रूप कार्य का अभाव है । यहाँ पर "शीतकृत आर्ति" व्यड्ग्य निमित्त अनुक्त है ।[1] प्रकरणसामर्थ्य से व्यड्ग्य निमित्त की प्रतीति मात्र हो रही है, परन्तु उस प्रतीति से किसी प्रकार की चारुत्व की निष्पत्ति नहीं हो रही है, अपितु व्यड्ग्यनिमित्त से उपस्कृत वाच्य रूप विशेषोक्ति ही चारुत्वयुक्त होने के कारण प्रधान है[2] एवं व्यड्ग्य, वाच्य का उपस्कारक होते हुए गुणीभूत हो गया है ।

।द। अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार में "अप्रस्तुत अर्थ के कथन के द्वारा, प्रस्तुत अर्थ का आक्षेप, कर लिया जाता है, इसमें कार्य, कारण, सामान्य, विशेष के प्रस्तुत होने पर तद्भिन्न एवं तुल्य के प्रस्तुत होने पर उससे भिन्न

1- व्यड्ग्यस्येति- शीतकृता खल्वार्तिरिति भट्टोद्भटः ।
तदभिप्रायेणाह- न त्वत्र काचिच्चारुत्वनिष्पत्तिरिति ।
-- ध्व०लो०प्र०उ०पृ० 202

2- इत्यादौ व्यड्ग्यस्य प्रकरणसामर्थ्यात् प्रतीतिमात्रम् न तु तत्प्रतीतिनिमित्ता काचिच्चारुत्वनिष्पत्तिरिति न प्राधान्यम् ।
--ध्व०लो०प्र०उ०पृ०199

तुल्य का कथन किया जाता है ।[1]

अप्रस्तुत प्रशंसा में, अप्रस्तुत कथन का पर्यवसान प्रस्तुत में होता है । अतः जब सामान्य-विशेषभाव एवं निमित्तनैमित्तिकभाव से अप्रस्तुत के कथन के द्वारा व्यङ्ग्यरूप प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होती है, तो वाच्य एवं व्यङ्ग्य रूप दोनों अर्थों का समप्राधान्य होता है ।[2] सामान्य-विशेष एवं कारण-कार्य में "व्यापक-व्याप्यभाव का सम्बन्ध" होता है । अतः अविनाभाव-सम्बन्ध के कारण सामान्य के बिना विशेष नहीं रह सकता है । अतः विशेष का प्रधानतया कथन होने पर सामान्य की भी प्रधानता होती है ।[3] इस प्रकार यहाँ वाच्य एवं व्यङ्ग्य का समप्राधान्य होने के कारण, आक्षिप्त व्यङ्ग्य रूप प्रस्तुत अर्थ गुणीभूतव्यङ्ग्य की कोटि में आता है ।

(घ) पर्यायोक्त अलंकार में "व्यङ्ग्य रूप अर्थ को व्यङ्ग्य न रख कर भङ्ग्यन्तर द्वारा वाच्य बना दिया जाता है" और इस प्रकार भङ्ग्यन्तर द्वारा व्यङ्ग्य को वाच्य बनाने में ही चारुत्व का पर्यवसान होता

1- "अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया"।। --का०प्र० 10/150सू०

कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति ।

तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा ।। --का०प्र०द०उ०पृ० 511

2- अप्रस्तुतप्रशंसायामपि यदा सामान्य विशेषभावान्निमित्तनिमित्ति-भावाद्वा अभिधीयमानस्याप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनाभिसम्बन्धः तदाभिधीयमानप्रतीयमानयोः सममेव प्राधान्यम् ।

-- ध्व०लो०प्र०उ०पृ० 221

3- तदा विशेषप्रतीतौ सत्यामपि प्राधान्येन तत्सामान्येनाविनाभावात् सामान्यस्यापि प्राधान्यम् । -- ध्व०लो०प्र०उ०पृ० 221

है[1] । भङ्ग्यन्तर द्वारा वाच्य बनाये गये व्यङ्ग्य में कोई चारुता नहीं रह जाती है और वह वाच्य का ही उत्कर्षाधायक होता हुआ वाच्य से पुनः गुणीभूत हो जाता है ।

कुछ पूर्वपक्षियों का कथन है कि पर्यायोक्त अलंकार में व्यङ्ग्यार्थ की स्पष्ट प्रतीति होती है जो प्रधान होती है, अतः इसे "ध्वनि कहना चाहिए न कि गुणीभूतव्यङ्ग्य ।"

उक्त शंका का समाधान करते हुए ध्वनिकार का कथन है कि "यदि पर्यायोक्त के उदाहरण में व्यङ्ग्यार्थ का प्राधान्य होता है तो वह ध्वनि का स्थल कहा जा सकता है ।[2]" किन्तु भामह ने पर्यायोक्त का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है उसमें न तो व्यङ्ग्यार्थ का प्राधान्य है और न ही वाच्य की गौणता विवक्षित है । अतः उन उदाहरणों में वाच्य के प्रधान होने के कारण व्यङ्ग्य गुणीभूत हो गया है ।

1.1 "पर्यायोक्तं बिना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः । -- का0प्र0 10/174वृ0
वाच्यवाचकभावव्यतिरिक्तेनावगमनव्यापारेण यत्प्रतिपादनं तत्पर्यायेण भङ्ग्यन्तरेण कथनात् पर्यायोक्तं । -- का0प्र0 पृ05।।

1.2 पर्यायेण प्रकारान्तरेणावगमात्मना व्यङ्ग्येनोपलक्षितं सद्यदभिधीयते तदभिधीयमानमुक्तमेवं तत्पर्यायोक्तमित्यभिधीयत इति लक्षणपदम्
--ध्व0लो0प्र0उ0पृ0 203

1.3 शब्देनोच्यते तेन यदेवोच्यते तदेव व्यङ्ग्यम् । यथा तु व्यङ्ग्यं न तथोच्यते । --का0प्र0 द्वि0उ0पृ0 51।।

2- पर्यायोक्तेऽपि यदि प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वम्, तद्भवतु नाम तस्य ध्वनावन्तर्भावः ।
-- ध्व0प्र0उ0पृ0 203

इसलिये यह गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल हो गया है ।[1]

सादृश्यमूलक तथा वास्तुव्यञ्जनामूलक अलंकारों के अतिरिक्त कुछ विभिन्न प्रकार के स्थल भी गुणीभूतव्यङ्ग्य के विषय होते हैं ।

(च) विशेषालंकार गर्भित अलंकार

कुछ अलंकारों में कोई विशेष अलंकार व्यङ्ग्य रहता है जैसे- व्याजस्तुति अलंकार में सर्वदा प्रेयोऽलंकार व्यङ्ग्य रहता है ।[2] व्याजस्तुति में चाटूक्तियों के गर्भित रहने के कारण प्रेयोऽलंकार सर्वदा व्यङ्ग्य रहता है ।[3] व्याजस्तुति में जहाँ प्रारम्भ में निन्दा की प्रतीति होती है, वहाँ स्तुति में पर्यवसान होता है एवं जहाँ प्रारम्भ में स्तुति की प्रतीति होती है, वहाँ निन्दा में पर्यवसान होता है ।[4]

1- न पुनः पर्यायोक्तौ भामहोदाहृतसदृशे व्यङ्ग्यस्यैव प्राधान्यम् । वाच्यस्य तत्रोपसर्जनभावेनाविवक्षितत्वात् । -- ध्व0पृ030पृ0 203

2- तत्र च गुणीभूतव्यङ्ग्यतायामलङ्कारणां केषाञ्चिदलङ्कारविशेषगर्भतायां नियमः । यथा-व्याजस्तुतेः प्रेयोऽलङ्कारगर्भत्वे ।

-- ध्व0पृ030पृ0 1149

3- प्रेयोऽलंकारेति । चाटूपर्यवसायित्वात्तस्याः ।--ध्व0लो0तृ030पृ01153

4.1-व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा ।--का0प्र0 10/168

4.2-यत्र मुखे निन्दा तत्र स्तुतौ पर्यवसानम् यत्र मुखे स्तुतिस्तत्र निन्दायां पर्यवसानमित्यर्थः ।

का0प्र0सारबोधिनी टीका पृ0 670

व्याजस्तुति का भेद, जिसमें प्रारम्भ में "निन्दा" की प्रतीति होती है, उसमें "रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः भावः प्रोक्तः"[1] सूत्र से भाव के अंग होने के कारण प्रेयोऽलंकार व्यङ्ग्य रहता है, इसी कारण नायिकादिविषयक "स्तुति" में पर्यवसान होता है, परन्तु वाच्य रूप व्याजरूपा स्तुति ही अधिक चमत्कारयुक्त होने के कारण प्रधान होती है, प्रेयोऽलंकार उपकारक होने के कारण गुणीभूत हो जाता है ।

(ड.) सामान्य अलंकार गर्भित अलंकार

कुछ अलंकारों का अलंकारमात्रगर्भता का नियम है जैसे - सन्देह अलंकार में उपमा गर्भित रहती है ।[2] ध्वनिकार के अनुसार "औपम्य सर्वसामान्य" होता है । इसी कारण सभी सादृश्यमूलक रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार सन्देह अलंकार में व्यङ्ग्य रहते हैं ।[3]

संकर अलंकार के तीन भेद होते हैं । इनमें से एकाश्रयानुप्रवेश संकर में एक ही पद में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार स्पष्ट और अलग-अलग व्यवस्थित रूप से रहते हैं ।[4] अतः इस भेद में व्यङ्ग्य के सद्भाव की शंका

1- का0 प्र0 पृ0 140, 4/48 सू0

2- केषाञ्चिदलङ्कारमात्रगर्भतायां नियमः यथा -
सन्देहादीनामुपमागर्भत्वे । -- ध्व0 तृ0उ0पृ0 1149

3- "उपमागर्भत्वे" इत्युपमाशब्देन सर्वे एवं तद्विशेषा रूपकादयः,
अथवौपम्यं सर्वसामान्यमिति ते तेन सर्वमाक्षिप्तमेव ।
-- ध्व0लो0 तृ0उ0पृ0 1153

4- स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालङ्कृति द्वयम् व्यवस्थितं च ।
-- का0प्र0पृ0 563

ही नहीं की जा सकती है ।[1]

सन्देह संकर में दो या अधिक अलंकारों की एक साथ सम्भावना होने पर साधक-बाधक प्रमाणों के अभाव में किसी एक अलंकार की वाच्यता निर्धारित न होने के कारण प्रधानता भी नहीं निर्धारित हो सकती है । दोनों अलंकारों में कोई भी अलंकार वाच्य हो सकता है एवं कोई भी व्यङ्ग्य हो सकता है । अतः दोनों अलंकारों का समप्राधान्य होता है ।[2]

अनुग्राह्य-अनुग्राहक अलंकारों में, अनुग्राहक अलंकार, अनुग्राह्य अलंकार का उपस्कार होते हुए गौण हो जाता है । इसमें व्यङ्ग्य अनुग्राहक अलंकार से उपस्कृत, अनुग्राह्य अलंकार में ही चारुत्व का पर्यवसान होने के कारण, वाच्य रूप अनुग्राह्य अलंकार की प्रधानता होती है ।[3] अतः यह व्यङ्ग्य अलंकार का उपस्कारक होने के कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य की कोटि में आता है । जैसे-

"प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या ।
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः ।।"

--ध्व०लो०प्र०उ०पृ०218

प्रस्तुत उदाहरण में व्यङ्ग्य उपमा सन्देह को जन्म देती हुई

1- शब्दार्थालङ्कारणामेकत्र भाव इति तत्रापि प्रतीयमानस्य का शंका ।

--ध्व०लो०प्र०उ०पृ० 215

2.1- एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावादनिश्चयः ।-- का०प्र० 10/208वृ०

2.2- अलंकारद्वयसम्भावनायां तु वाच्यव्यङ्ग्ययोः समं प्राधान्यम् ।

--ध्व०लो०प्र०उ०पृ० 214

3- संकरालंकारेऽपि यदालङ्कारोऽलंकारान्तरच्छायामनुगृह्णाति,
तदा व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न ध्वनिविषयत्वम् ।

--ध्व०प्र०उ०पृ० 214

सन्देह की ही पोषिका होने के कारण गुणीभूत हो गई है ।[1]

।घ। परस्परगर्भित अलंकार

कभी कुछ अलंकार परस्पर एक दूसरे में भी गर्भित रहते हैं जैसे - दीपक अलंकार में उपमा व्यङ्ग्य रूप से गर्भित रहती है एवं उपमा भी कभी-कभी दीपक की छाया को ग्रहण करती है, जैसे - मालोपमा ।[2]

दीपक अलंकार दो प्रकार का होता है । ।1। जहाँ प्रकृत एवं अप्रकृत के क्रियादि रूप धर्मों का एक ही बार ग्रहण किया जाय अर्थात् एक क्रियादि रूप धर्म का अनेक कारकों के साथ सम्बन्ध होता है वहाँ "क्रियादीपक" नामक भेद होता है । ।2। जहाँ बहुत सी क्रियाओं में एक ही कारक ग्रहण किया जाय अर्थात् अनेक क्रियाओं के साथ एक कारक का सम्बन्ध होता है वहाँ "कारकदीपक" नामक भेद होता है ।[3]

"कारकदीपक" में केवल अनेक क्रियाओं का एक साथ वर्णन होने के कारण उपमा व्यङ्ग्य नहीं रहती है अतः यहाँ उपमा की गुणीभूतता सम्भव नहीं होती है ।

1- अत्र मृगाङ्गनावलोकनेन तदवलोकनस्योपमा यद्यपि व्यङ्ग्या, तथापि वाच्यस्य सा सन्देहालंकारस्याभ्युत्थानकारिणीत्वेना- नुग्राहकत्वाद्गुणीभूता, अनुग्राह्यत्वेन हि सन्देहे पर्यवसानम् ।

--ध्व0लो0पृ030पृ0218

2- केषाञ्चिदलंकाराणां परस्परगर्भतापि सम्भवति । यथा-दीपकोपमयोः । दीपकमुपमागर्भत्वेन प्रसिद्धम् । उपमापि कदाचिद्दीपकच्छायानुयायिनी यथा-मालोपमा ।

--ध्व0पृ030पृ0 1149

3- "सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ।।"

--का0प्र0 10/155

"क्रियादीपक" में व्यङ्ग्य उपमा के कारण ही प्रस्तुत एवं अनेक अप्रस्तुतों का एक क्रियादि रूप धर्म के साथ सम्बन्ध सम्भव होता है। यहाँ व्यङ्ग्य उपमा की प्रतीति होने पर भी, वह उपकारकत्वात् गौण हो जाती है एवं वाच्य दीपक में ही चारुत्वोत्कर्ष होने के कारण दीपक का प्राधान्य होता है एवं व्यङ्ग्य उपमा गुणीभूतव्यङ्ग्य का विषय होती है।[1]

मालोपमा में दीपक अलंकार व्यङ्ग्य रहता है क्योंकि एक ही साधारण-धर्म के कारण या भिन्न साधारण-धर्म के कारण एक उपमेय कीअनेक उपमानों से तुलना की जाती है।[2] मालोपमा में दीपक "एक क्रिया या धर्म का अनेक कारकों के साथ सम्बन्ध" व्यङ्ग्य रूप से वर्णित होता है परन्तु रमणीयता का पर्यवसान वाच्य रूप सादृश्य "सभी उपमानों में साधारण-धर्म की समानता" में होने के कारण उपमा प्रधान तथा व्यङ्ग्य दीपक गौण हो जाता है।

इस प्रकार अलंकारों में प्रयुक्त होने वाला व्यङ्ग्यार्थ, वाच्यार्थ का उपस्कारक होने के कारण अप्रधान होता है, यद्यपि उसका भी अन्ततः पर्यवसान रसध्वनि में ही होता है परन्तु वह मुख्य रूप से वाच्यार्थ का संस्कार करने के कारण "मध्यम-कक्षा" में सन्निविष्ट हो जाता है तथा प्रधान रूप से रसानुभूति कराने में समर्थ नहीं होता है। अतः अलंकारों में आने वाला व्यङ्ग्यार्थ गुणीभूतव्यङ्ग्य की कोटि में आता है।[3]

1- अपह्नुतिदीपकयोः पुनर्वाच्यस्य प्राधान्यं व्यङ्ग्यस्य चानुयायित्वं प्रसिद्धमेव। --ध्व०पृ०उ०पृ०211

2.1-इत्यभिन्ने साधारण धर्मे। इति भिन्ने च तस्मिन् एकस्यैव बहूपमानोपादाने मालोपमा। --का०प्र०द०उ०पृ० 459

2.2-दीपस्थानीयेन दीपनाद्दीपकमत्रानुप्रविष्टं प्रतीयमानतया साधारण-धर्माभिधानं ह्येतदुपमायां स्पष्टेनाभिधाप्रकारेणैव।--ध्व०लो०तृ०उ०पृ०1153

3- यदा व्यङ्ग्योऽर्थः पुनरपि वाच्यमेवानुग्राहयन्नास्ते तदा तदुपकरणत्वादेव। ततो वाच्यादेव तदुपस्कृताच्चमत्कारलाभ इति। यद्यपि पर्यन्ते रसध्वनिरस्ति, तथापि मध्यमकक्षानिविष्टोऽसौ व्यङ्ग्योऽर्थो न रसोन्मुखीभवति स्वातन्त्र्येणापि तु वाच्यमेवार्थं संस्कर्तुं धावतीति गुणीभूतव्यङ्ग्यतोक्ता। --ध्व०लो०प्र०उ०पृ० 182

रसादिरूप व्यङ्ग्य की गुणीभूतता

ध्वनिकार एवं उत्तरवर्ती मम्मट आदि आचार्यों के अनुसार रसभावादि रूप व्यङ्ग्य के अलंकाररूप अथवा अप्रधान होने पर गुणीभूत-व्यङ्ग्यता मानी गई है, जो चार रूपों में होती है -

(क) रस के अलंकार रूप होने पर- रसवत् अलंकार ।

(ख) भाव के अलंकार रूप होने पर - प्रेयोऽलंकार ।

(ग) रसाभास एवं भावाभास के अलंकार रूप होने पर- ऊर्जस्वि अलंकार,

(घ) भावोदय, भावशान्ति, भावशबलता एवं भावसन्धि के अलंकाररूप होने पर - समाहित अलंकार होता है ।[1]

रस-भाव रसाभास- भावाभास - भावशान्ति आदि भी जब प्रधानीभूत अन्य किसी वाक्यार्थ के उपकारक होने के कारण अंगरूप हो जाते हैं, तब उनकी गुणीभूतव्यङ्ग्यता होती है ।[2] जहाँ रसादि अंगरूप होकर उपस्थित होते हैं, वहाँ वे उपमादि अलंकारों के समान अलंकार्य-तत्त्व को अलंकृत करके आनन्दास्वादन में कारण बनते हैं । गुणीभूत रसादि प्रधान वाक्यार्थ के सौन्दर्याभिवर्धक होने के कारण अलंकार संज्ञा को प्राप्त करते हैं[3] तथा रसादि की रसवत् अलंकारादि संज्ञा होती है । रसादि की गुणीभूतव्यङ्ग्यता रसवदलङ्कार के लक्षण में स्पष्ट ही है --

---

1.1- यत्र तु प्राधान्येनार्थान्तरस्य वाक्यार्थीभावे रसादिभिश्चारुत्व-निष्पत्तिः क्रियते स रसादेरलङ्कारताया विषयः ।--ध्व0दि030पृ0420

1.2- अनेन भावालङ्कारा प्रेयस्व्यूर्जस्विसमाहिता गृह्यन्ते ।
--ध्व0लो0दि030पृ0 421

2- यस्मिन् काव्ये प्रधानतयान्योऽर्थो वाक्यार्थीभूतस्तस्य चाङ्गभूता ये रसादयस्ते रसादेरलङ्कारस्य विषया इति मामकीनः पक्षः ।
--ध्व0दि030पृ0403

3- रसादिरूप व्यङ्ग्यस्य गुणीभावो रसवदलंकारे दर्शितः ।
--ध्व0दि030पृ0 1129

"प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः ।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ।।"--ध्व02/5

ध्वनिकार ने इस कारिका में स्पष्ट निर्देश किया है कि जहाँ रसादि प्रधान न हो परन्तु अन्य कोई वाक्यार्थ प्रधान हो और रसादि उसके अंगभूत होकर प्रधान वाक्यार्थ के उपकारक होने के कारण अप्रधान हो जाते हैं, वहाँ रसवदलंकार होता है । प्रधान वाक्यार्थ का तात्पर्य है, जिसमें चमत्कार का पर्यवसान हो।[1] जब रसादि अंगभूत होते हैं, तब वे अंगी के चारुत्ववर्धक होने के कारण अलंकार्य न होकर अलंकार होते हैं क्योंकि जो अंगी होता है वह प्रधान होता है तथा अंग, अलंकरणत्व के कारण अंगभूत अथवा अप्रधान होता है । कोई अंगी या प्रधानीभूत तत्त्व स्वयं अपना अलंकरण करने में समर्थ नहीं होता है क्योंकि अलंकार का अर्थ है चारुत्व-हेतु ।[2] अलंकारता का प्रयोजक चमत्कार ही होता है । प्रधान वाक्यार्थ स्वयं अपनी चारुता का हेतुभूत अलंकार नहीं हो सकता है वह, सदैव अलंकार्य ही होता है तथा अंगभूत अन्य अप्रधान तत्त्व ही, अलंकार होता है ।

जहाँ रसाभिव्यक्ति हो रही हो, सौन्दर्य या चमत्कार रस के कारण ही उत्पन्न हो रहा हो, परन्तु सौन्दर्य का पर्यवसान अन्ततः अन्य किसी प्रधानीभूत वाक्यार्थ में हो रहा हो, वहाँ उस काव्य के

1- यदि वा वाक्यार्थत्वं प्रधानत्वम् चमत्कारकारितेति यावत् ।
--ध्व0लो0द्वि0उ0पृ0405

2- अलंकारो हि चारुत्वहेतुः प्रसिद्धः । यत्र हि रसस्य वाक्यार्थीभावस्तत्र कथमलङ्कारत्वं । न स्वसावात्मैवात्मनश्चारुत्वहेतुः ।
--ध्व0वृत्ति द्वि0उ0पृ0417

अंगभूत रसादि की रसवत् आदि संज्ञा होती है ।[1] रस अलंकार तथा प्रधान वाक्यार्थ अलंकार्य होता है ।

लोचनकार ने स्पष्ट रूप से रसध्वनि एवं रसवत् अलंकार की पृथक्-पृथक् सीमाओं का निर्देश किया है । जिस प्रकार समासोक्ति आदि अलंकारों एवं वस्तुध्वनि में अलंकारक-अलंकार्य का स्पष्ट अन्तर होता है, उसी प्रकार रसध्वनि एवं रसवदलंकार में स्पष्ट अन्तर होता है ।[2] कारिकारूप में दोनों की विषय विविक्तता इस प्रकार निर्दिष्ट की गई है कि जहाँ वाचक शब्द एवं वाच्यार्थ गुणालंकार, वृत्ति, रीति आदि काव्य चारुता के समस्त तत्त्व रसादि के अभिव्यञ्जन में सहायक होते हुए उसकी अपेक्षा गौण हो जाते हैं एवं रसादि की प्रधानता होती है वहाँ रसध्वनि-काव्य होता है ।[3] रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति आदि के अंगीरूप में वर्णित होने पर ध्वनि संज्ञा होती है एवं वे काव्य की आत्मा के रूप में स्थित होते हैं ।

जब काव्य के समस्त तत्त्व रसादिपरक न हों वरन् रस ही प्रधानभूत वाक्यार्थ का अंग होकर वाक्यार्थ का चारुता-वर्धक, चमत्कार हेतु होता है, चमत्कार का पर्यवसान अन्य प्रधानीभूत वाक्यार्थ में होता है, उस काव्य का सम्बन्धी रस, रसवत् अलंकारादि कहलाता है अर्थात्

1- यस्मिन् काव्ये प्रधानतयान्योऽर्थो वाक्यार्थीभूतस्तस्य चाङ्गभूता ये रसादयस्ते रसादेरलङ्कारस्य विषया इति मामकीनः पक्षः ।

--ध्व0लो0दि030पृ0403

2- रसवदादिष्वलङ्कारेषु रसादिध्वनेर्नान्तर्भाव इति सूचयति । पूर्वं समासोक्त्यादिषु वस्तुध्वनेर्नान्तर्भाव इति दर्शितम् ।

--ध्व0लो0दि030पृ0381

3- रस-भाव-तदाभास भावशान्त्यादिरक्रमः ।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः ।।--ध्व0 2/3

जो अंगभूत होता है वहीं अंगी का चमत्कारवर्धक होने के कारण अलंकार होता है ।[1] रसवद् अलंकार में रस अप्रधान या अंग होता है, अतः गुणीभूतव्यङ्ग्य कहलाता है ।

रसवदादि अलंकार में रस को अलंकार संज्ञा प्रदान करने का तात्पर्य है कि उपमादि अलंकारों के समान इस अलंकार को अलंकारता प्रदान करने के लिये अलंकार्य का होना आवश्यक है, अन्ततः काव्य का अलंकार्य रसभावादि ही होते हैं :--

"रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम् ।
अलंकृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम् ।।"--ध्व०लो०उ०पृ०417

जिस प्रकार लोक में कटक कुंडलादि सभी अलंकार चेतन आत्मा को ही अलंकृत करते हैं । उचित चेतन के अभाव में अलंकारों का अलंकरणत्व सिद्ध नहीं हो सकता है, उसी प्रकार उपमा इत्यादि अलंकारों के स्थल में भी चाहे वहाँ वस्तु ही अलंकार्य हो, अन्ततः विभावादि रूप में तात्पर्य की विश्रान्ति होने के कारण सर्वत्र रसध्वनि ही काव्यात्मा होती है अतः प्रधान अलंकार्य होती है । रसादि तथा उपमादि अलंकारों का वाच्यार्थ को अलंकृत करने का तात्पर्य है उसमें व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यक्त करने की शक्ति उत्पन्न करना क्योंकि रसपूर्ण कथन ही सहृदयाह्लादक होते हैं । रसाभिव्यक्ति के अभाव में काव्य, काव्य न होकर वाक्य-मात्र हो जाता है अतः रसादि अलंकारों में भी उपमादि के समान रस ही अलंकार्य होता है ।

1- तस्मादत्र रसादयो वाक्यार्थीभूताः स सर्वः न रसादेरलंकारस्य विषयः, स ध्वनेः प्रभेदः, तस्योपमादयोऽलंकाराः । यत्र तु प्राधान्येनार्थान्तरस्य वाक्यार्थीभावे रसादिभिश्चारुत्वनिष्पत्तिः क्रियते स रसादेरलंकारतायाः विषयः ।

---ध्व०लो०उ०पृ० 420

इसका यह तात्पर्य नहीं है कि रसादि अलंकारों के स्थल में सर्वत्र उपमादि अलंकार आवश्यक होते हैं। जहाँ एक रस अलंकार्य होता है एवं दूसरे अलंकारक रस की उपमा सहगामिनी होती है, वहाँ अलंकारक रस एवं उपमा की संसृष्टि होती है। जहाँ कोई रस प्रधान वाक्यार्थ होता है कोई दूसरा रस उसका अंग नहीं होता, वहाँ कभी-कभी केवल उपमादि अलंकार ही अलंकार्य रस का अलंकरण करते हैं।[1] इस प्रकार उपमादि अलंकारों का कहीं-कहीं स्वतंत्र स्थल होता है और कहीं रसवदादि अलंकारों के साथ संसृष्टि होती है।

रसवदादि के विषय में भामहादि आचार्यों की भिन्न धारणा

भामहादि प्राचीन आचार्यों ने रसवदादि को अलंकार माना था। यह ध्वनिकार की मौलिक कल्पना नहीं है ध्वनिकार उन्हीं की सरणि पर प्रेयस्, रसवत् को अलंकार संज्ञा प्रदान कर आलंकारिकों से विरोध न करके अपनी उदारता का परिचय देते हैं। चूंकि पूर्ववर्ती आलंकारिकों ने रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वि, समाहित का अलंकार रूप में वर्णन किया है अतः उनके मत का ध्वनिकार के मत से तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है।

भामह आदि प्राचीन आलंकारिकों की यह धारणा थी कि काव्य-सौन्दर्य-वर्धक-तत्त्व अलंकार होते हैं।[2] रस से काव्य में अपूर्व

1- यत्र रसस्यालङ्कार्यता रसान्तरं चाङ्गभूतं नास्ति तत्र शुद्धा एवोपमादयः। तेन संसृष्ट्य नोपमादीनां विषयापहार इति भावः।

--ध्व०लो०दि०उ०पृ०422

2- सौन्दर्यमलङ्कारः॥ --का० सू० 1/2

चमत्कार एवं शोभा उत्पन्न होती है । अतः उन्होंने रस, भावादि को शुद्ध अलंकार रूप मानते हुए उनकी प्रधानता तथा अप्रधानता को कोई महत्त्व नहीं दिया है । आलंकारिकों के अनुसार जहाँ भी रसादि की प्रतीति होती है, वहाँ रसवदादि अलंकार होते हैं, चाहे रस प्रधान हो अथवा अप्रधान ।

भामह के अनुसार जिसमें शृङ्गारादि रस स्पष्ट रूप से दिखाये गये हों वह रसवत् अलंकार का विषय होता है अर्थात् शृङ्गारादि रस की प्रतीति ही रसवत् होती है ।[1] भामह ने प्रेयस्, ऊर्जस्वि, समाहित आदि अलंकारों का लक्षण नहीं दिया है, केवल उदाहरण प्रस्तुत किये हैं,[2] किन्तु उन उदाहरणों को देखते हुए स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में इन अलंकारों का स्वरूप वही था, जो दण्डी ने दिया है ।

लोचनकार अभिनवगुप्त ने स्पष्ट निर्देश किया है कि भामह प्रीति-वर्णन को ही प्रेयोऽलंकार मानते थे -- "भामहेन हि गुरुदेवनृपतिपुत्रविषयप्रीतिवर्णनं प्रेयोऽलंकार इत्युक्तम् ।"--ध्व0लो0उ03पृ0404

1- रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसं यथा ।
देवी समागमद्धर्ममस्करिण्यतिरोहिता ।। -- काव्यालं0 3/6

2.1-प्रेयो गृहागतं कृष्णमवादीद्विदुरो यथा ।
अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते ।
कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः ।। -- काव्यालं0 3/9

2.2-ऊर्जस्वि कर्णेन यथा-पार्थाय पुनरागतः ।
द्विः सन्दधाति किं कर्णः शल्येत्यहिरपाकृतः ।।--काव्यालं03/9

2.3-समाहितं राजमित्रे यथा क्षत्रिययोषिताम् ।
रामप्रसत्त्यै यान्तीनां पुरोऽदृश्यत नारदः ।।--काव्यालं03/10

दण्डी भी भामह के मत का अनुसरण करते हैं परन्तु वे प्रथम आचार्य हैं जिनने, इनमें से प्रत्येक अलंकार का लक्षण किया है। दण्डी के अनुसार प्रीतिकर भाव [देवादि विषयक रति इत्यादि भाव] के कथन को प्रेयोऽलंकार, रति इत्यादि भावों के द्वारा परिपुष्ट श्रृंगारादि रसयुक्त सहृदयानन्द कथन को रसवत् अलंकार, गर्व, अहंकार आदि व्यभिचारी भावों की स्पष्ट प्रतीति ऊर्जस्वि अलंकार है[1] तथा किसी कार्य को प्रारम्भ करने के लिये दैवयोग से कार्य का अन्य साधन मिल जाय तो वहाँ समाहित अलंकार होता है।[2]

इस प्रकार दण्डी के रसवत् आदि अलंकारों के लक्षण-उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि उनके अनुसार भी विभावानुभाव के द्वारा आस्वाद्यमान श्रृंगारादि रसवत् अलंकार तथा भगवद् विषयक प्रेम या रति भाव का कथन "प्रेयोऽलंकार" आदि कहलाता है।

इस प्रकार भामह एवं दण्डी रस, भावादि की स्पष्ट प्रतीति को ही रसवत् आदि अलंकार की संज्ञा देते हैं। ध्वनिकार ने उनके अनुसरण पर रसवत् आदि को अलंकार संज्ञा तो प्रदान की है परन्तु वे रस की प्रधान प्रतीति को रसध्वनि का स्थल मानते हैं एवं रस की अप्रधान प्रतीति को रसवत् अलंकार का स्थल मानते हैं। इस अप्रधान होने पर ही चारुत्व-हेतु होता है, प्रधान होने पर अलंकार्य होता है, अलंकार नहीं हो सकता है। इस प्रकार ध्वनिकार के अनुसार रसवत् अलंकारादि गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य-भेद होते हैं।

1- प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद् रसपेशलम्।
ऊर्जस्वि रूढाहंकारं युक्तोत्कर्षं च तत् त्रयम्॥ --काव्यादर्श 2/275

2- किञ्चिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात् पुनः।
तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहुः समाहितम्॥ -- काव्यादर्श 2/298

उद्भट का रसवत् आदि अलंकार विषयक मत भामह, दण्डी से सर्वथा भिन्न है तथा उसमें ध्वनिकार के मत की कुछ झलक मात्र मिलती है। उद्भट, भामह के समान रस को अलंकार मानते हैं परन्तु रसवत् को काव्य-विशेषण मानते है अर्थात् उन्होंने रसवत् अलंकार युक्त काव्य को रसवत् की संज्ञा दी है।[1] इसी प्रकार "प्रेयस्" को अलंकार मानते हैं, उद्भट के मत में "प्रेय" का अर्थ है "भाव"[2] एवं भावों के सूचक विभावानुभावों से युक्त काव्य को प्रेयस्वत् काव्य कहते हैं।[3]

भामह, दण्डी से भिन्न सरणि पर उद्भट रसाभास से युक्त बन्ध को ऊर्जस्वि कहते हैं। रसाभास, भावाभास के प्रशम से युक्त बन्ध को समाहित अलंकार कहते हैं।[4] उद्भट के मत में रस एवं भावों की अनौचित्य प्रवृत्ति को ही उनका "आभास" कहते हैं। जिस काव्य में रसाभास एवं भावाभास का वर्णन हो, उसे ऊर्जस्वि कहते हैं।[5]

ध्वनिकार भी ऐसे ही स्थलों पर ऊर्जस्वि एवं समाहित अलंकार मानते हैं परन्तु वहाँ रसाभास एवं भावाभास, तथा उनके प्रशम की अप्रधानता होने के कारण अलंकारता होती है, प्रधान वाक्यार्थ दूसरा होता है। उद्भट के समान ध्वनिकार ने भी रसवत्, ऊर्जस्वि आदि को

1- रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसोदयम् । --काव्यालं०सा०सं०4/3
येन काव्येन स्फुटतया शृङ्गारादिरसाविर्भावो दृश्यते तत्काव्यं रसवत् । रसाः खलु तस्य अलंकारः । --काव्यालं०सा०सं०वृत्ति पृ० 53

2- उद्भटमते हि भावालंकार एव प्रेय इत्युक्तः । प्रेम्णा भावानामुपलक्षणात् --ध्व०लो०दि०उ०पृ०405

3- रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः ।
यत्काव्यं बध्यते तद्भिः तत्प्रेयस्वदुदाहृतम् ।।--काव्यालं०सा०सं०4/2

4- रसभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम् ।
अन्यानुभावनिःशून्यरूपं यत्तत्समाहितम् । -- काव्यालं०सा०सं०4/7

5- अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात् ।
भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते ।।--काव्यालं०सा०सं०4/5

काव्य कोटिक माना है परन्तु उपस्कारक होने के कारण तथा अप्राधान्येन व्यञ्जना होने के कारण उन्हें गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य की संज्ञा दी है ।

इस प्रकार ध्वनिकार ने पूर्ववर्ती आचार्यों के अलंकार प्रपञ्च को स्वीकार करते हुए भी रसादि की गुणीभूतता के विषय में अपना स्वतंत्र मत रखते हुए दोनों मतों में सामञ्जस्य स्थापित किया है । रस के गुणीभूत होने पर रसवत् अलंकार, भाव के गुणीभूत होने पर, प्रेयस् अलंकार, रसाभास-भावाभास के अप्रधान होने पर ऊर्जस्वि अलंकार, भावशान्ति के गुणीभूत होने पर समाहित अलंकार होता है ।[1]

(क) रसवदलंकार

ध्वनिकार ने रसवदादि अलंकारों के स्वरूप को उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है । ध्वनिकार ने रसवत् अलंकार के शुद्ध एवं संकीर्ण दो प्रकार माने हैं ।[2] पूर्ववर्ती आचार्यों ने रसवत् का रस की स्पष्ट प्रतीति रूप एक ही भेद माना था । ध्वनिकार ने रसवत् अलंकारों के दोनों प्रकारों का नाम निर्देशमात्र किया है लोचन में उनका लक्षण इस प्रकार दिया गया है --
" शुद्ध इति । रसान्तरेणाऽङ्गभूतेनालङ्कारान्तरेण वा न मिश्रः आमिश्रस्तु संकीर्णः ।" -- ध्व०लो० हि०उ०पृ० 409

1.1- अङ्गत्वमस्ति रसादीनां रसवत्प्रेय ऊर्जस्विसमाहितालंकाररूपतायामिति भावः । --ध्व०लो०हि०उ०पृ० 381

1.2- रसस्यांगत्वे रसवदलंकारः । भावस्यांगत्वे प्रेयोलंकारः रसाभास-भावाभासस्यांगत्वे ऊर्जस्विनामलंकारः । भावशान्तेरंगत्वे समाहितः । --का०प्र०वा०बो०टीका पृ० 205

2- स च रसादिरलङ्कारः शुद्धः संकीर्णो वा ।

-- ध्व०हि०उ०पृ० 409

शुद्ध रसवत् से तात्पर्य है कि केवल कोई रस ही प्रधान वाक्यार्थ का अलंकरण करता है, उसमें किसी अन्य अलंकार, भाव या अन्य किसी रस की अंगता का संकर नहीं होता है ।

संकीर्ण रसवत् अलंकार में प्रधान वाक्यार्थ के उपस्कारक अंगभूत रस में दूसरे अलंकार अथवा रस, भाव का संकर रहता है ।

शुद्ध रसवद् अलंकार जैसे --

" किं हास्येन न मे प्रयास्यसि पुनः प्राप्तश्चिराद्दर्शनम्,
केयं निष्करुण प्रवासरुचिता केनासि दूरीकृतः ।
स्वप्नान्तेष्विति ते वदन् प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो,
बुद्ध्वा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तारं रिपुस्त्रीजनः ।।"--ध्व0द्वि0उ0पृ0 510

प्रस्तुत उदाहरण में कवि की राजविषयक रति प्राधान्येन व्यक्त होने के कारण यह भाव का स्थल है ।[1] पूरे पद्य में व्यक्त "करुण रस" प्रधान वाक्यार्थ "भाव" का उपस्कारक होने के कारण अंग अतएव गौण हो गया है ।

प्रस्तुत उदाहरण में शोक स्थायी भाव स्वप्न-दर्शन के द्वारा उद्दीप्त होकर करुण रस के रूप में अनुभूत हो रहा है परन्तु मुख्य वर्ण्य विषय राजा की प्रभावशालिता का वर्णन है, जो कि वाच्यार्थ है । करुण रस राजा के प्रभाव-वर्णनरूप प्रधान वाक्यार्थ का चारुत्वहेतु होने के कारण गौण हो गया है तथा अन्य कोई रस अथवा अलंकार करुण का (सहायक)

1- रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः भावः प्रोक्तः ।।4/35पृ0
आदिशब्दात्मुनिगुरुनृपपुत्रादिविषया कान्ताविषया तु व्यक्ता
शृङ्गारः ।

--का0प्र0च0उ0पृ0 140

अंग नहीं है अतः यह शुद्ध रसवत् अलंकार का उदाहरण है ।[1]

संकीर्ण रसवत् अलंकार जैसे --

" क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं,
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः संभ्रमेण ।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रु नेत्रोत्पलाभिः,
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ।।"--ध्व0द्वि0उ0पृ0414

प्रस्तुत उदाहरण में "शंकर भक्तिविषय रति" में कवि की प्राधान्येन विवक्षा है अतः वहाँ त्रिपुररिपु का प्रभावातिशय प्रधानीभूत वाच्यार्थ है । श्लिष्ट धर्मों से उपमालंकार की अभिव्यक्ति होती है, जो ईर्ष्याविप्रलम्भ की अभिव्यक्ति में सहायक है ।

श्लेष से अनुगृहीत उपमा, दोनों से युक्त ईर्ष्याविप्रलम्भ श्रृंगार, शराग्नि रूप वाच्यार्थ काउपस्कारक होने के कारण अलंकार हो गया है । श्लेष, उपमा से रहित विप्रलम्भ श्रृंगार, वाच्यार्थ को अलंकृत करने में समर्थ नहीं हो सकता है, तथा अकेले श्लेष से अनुगृहीत उपमा से भी सौन्दर्य उत्पन्न नहीं हो सकता है, तीनों के संकर में ही सौन्दर्य उत्पन्न हो रहा है ।

यद्यपि प्रस्तुत उदाहरण में करुणरस की किञ्चित छाया का भी आभास होता है परन्तु सौन्दर्य करुण रसाश्रित नहीं है तथा करुण की अपेक्षा विप्रलम्भ श्रृंगार की प्रधानता है । अतः यहाँ पर श्लेष, उपमा के संकर के साथ विप्रलम्भ श्रृंगार प्रधानीभूत "भाव" का अंग है अतएव अलंकार होने के कारण यह संकीर्ण रसवत् अलंकार का उदाहरण है ।

यहाँ करुण के किञ्चित आभास में दोष नहीं है क्योंकि अभी

1- अत्र शोकस्थायिभावेन स्वप्नदर्शनोद्दीपितेन करुणरसेन चर्व्यमाणेन सुन्दरीभूतो नरपतिप्रभावो भातीति करुणः शुद्ध रसालङ्कारः ।
--ध्व0लो0द्वि0उ0पृ0 410

अंग रूप में संकर है ।[1] यदि किसी एक रस की प्रधानता होती तो दूसरे किसी रस का समावेश नहीं हो सकता था ।[2]

ध्वनिकार ने रसवदादि अलंकारों के प्रसंग में, केवल रसवत् अलंकार का सम्यक् विवेचन करके स्थालीपुलाकन्याय से प्रेयस्, ऊर्जस्वि तथा समाहित आदि अलंकारों का ज्ञान कराया है परन्तु लोचनकार अभिनवगुप्त ने भाव, रसाभास एवं भावाभास की अंगता उदाहरण द्वारा स्पष्ट की है ।[3]

(क) <u>प्रेयोऽलंकार</u> : भाव के गुणीभूत होने पर प्रेयोऽलंकार होता है जैसे ---

" तव शतपत्रसुदृगताम्रतलस्य परणस्वलकाल्हंसनूपुरकलध्वनिनामुखर: ।
महिषासुरस्य शिरसि प्रसभं निहित: कनकमहामहीध्रगुरुतां कथमम्ब गत: ।।"

--- ध्व०दि०उ०पृ० 423

प्रस्तुत उदाहरण में कवि की विवक्षा "देवीगत रतिभाव" में है अत: वही प्रधानीभूत वाक्यार्थ है । विस्मय, वितर्क इत्यादि भाव उसी देवी के माहात्म्य को ही अलंकृत करने के कारण अंगभूत अतएव अप्रधान हो गये हैं । भावों के चारुत्वहेतु होने के कारण प्रस्तुत प्रसंग भावों के अंगरूप प्रेयोऽलंकार का स्थल है ।[4]

(ख) <u>ऊर्जस्वि अलंकार</u> :

रसाभास एवं भावाभास के चारुत्व हेतु होने पर उनको ऊर्जस्वि

1- ईर्ष्याविप्रलम्भस्य श्लेषसहितस्याङ्गभाव इति । . . . . . .
अतएव चेर्ष्याविप्रलम्भकरुणयोरङ्गत्वेनु व्यवस्थानात्समावेशो न दोष: ।

--ध्व०दि०उ०पृ० 414

2- यदि ह्यन्यतरस्य रसस्य प्राधान्यमभविष्यन्न द्वितीयो रस: समाविक्षेत् ।

--ध्व०लो०दि०उ०पृ० 415

3- अनेन भावाद्यलङ्कारा प्रेयस्वदूर्जस्विसमाहिता सूच्यन्ते ।

--ध्व०लो०दि०उ०पृ० 422

4- इत्यत्र देवीरतौ वाक्यार्थीभूते वितर्क विस्मयादिभावस्य चारुत्व - हेतुत्वेति तस्याङ्गत्वाद्भावालङ्कारस्य विषय: ।।

--ध्व०लो०दि०उ०पृ० 423

अलंकार कहते हैं जैसे --

"समस्तगुणसम्पदः सममलङ्क्रियाणां गणैर्भवन्ति यदि भूषणं तव तथापि नो शोभते ।
शिवं हृदयपालकं यदि यथा तथा रञ्जये तदेव ननु वाणि ते भवति सर्वलोकोत्तरम् ।।"

--ध्व०द्वि०उ०पृ० 423

प्रस्तुत उदाहरण रसाभास की अंगता का उदाहरण है क्योंकि यहाँ कवि की "देवाधिदेव शंकर विषयक रति" प्राधान्येन व्यक्त होती है । परमेश्वर स्तुतिपरक वचन ही परम उपयोगी है । इस प्रधानीभूत वाक्यार्थ के प्रति श्लेषयुक्त वचनों से अभिव्यक्त नायिकापरक शृंगाररस उपस्कारक है अतः यह अंग होने के कारण अलंकार हो गया है ।[1]

अभिनवगुप्त के अनुसार रसाभास से तात्पर्य है कि " जहाँ रस पूर्ण रूप से अभिव्यक्त न हो वहाँ रस न होकर रसाभास होता है" । नायिका के निर्गुण एवं निरलंकार होने के कारण यहाँ शृंगार रस पूर्ण नहीं है, अतः यहाँ व्यक्त रस, रस न होकर रसाभास है । इस रसाभास की मुख्यार्थ के प्रति उपस्कारकता, अतः अप्रधानता है । रसाभास के अलंकाररूप होने के कारण यहाँ ऊर्जस्वि अलंकार है ।

रसाभास के समान भावाभास के वाच्य हेतु होने पर ऊर्जस्वि अलंकार होता है जैसे --

" स पातु वो यस्य हतावशेषास्तत्तुल्यवर्णाञ्जनरञ्जितेषु ।
लावण्ययुक्तेष्वपि वित्रसन्ति दैत्याः स्वकान्तानयनोत्पलेषु ।।"

--ध्व०लो०द्वि०उ०पृ० 425

प्रस्तुत उदाहरण में "त्रास" भाव का अनुचित प्रयोग होने से

1- अत्र हि परमेशस्तुतिमात्रं वाच्यः परमोपादेयमिति वाक्यार्थे शृङ्गाराभासवाच्यहेतुः ।

— ध्व०लो०द्वि०उ०पृ० 423

कारण "भावाभास" है क्योंकि दैत्यों के रौद्र प्रकृति प्रधान होने के कारण उनके विषय में "शान्त" भाव की कल्पना सर्वथा अनुचित है ।[1] यहाँ कवि की "भगवत् श्रीकृष्ण विषयक रति" की प्राधान्येन व्यञ्जना हो रही है अतः अंगी है । यह भावाभास श्रीकृष्ण विषयक वाच्यार्थ में चारुता का आधान कर रहा है, अतः मुख्य वाच्यार्थ का उपस्कारक होने के कारण अलंकार है । भावाभास के अलंकाररूप होने पर उसे ऊर्जस्वि अलंकार कहते हैं ।

ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त ने रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वि अलंकारों का उदाहरण प्रस्तुत करके रस, भाव, रसाभास, एवं भावाभास की अंगिता एवं अलंकाररूपता स्पष्ट की है परन्तु समाहित अलंकार का उदाहरण न ध्वनिकार ने प्रस्तुत किया है न अभिनवगुप्त ने, परन्तु उनके अनुयायी आचार्य मम्मट ने भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि एवं भावशबलता चारों के अप्रधान होने पर समाहित अलंकार माना है एवं उनके उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं ।[2]

(घ) समाहित अलंकार :

दण्डी, भामह आदि प्राचीन आचार्यों ने केवल भावशान्ति के भाव का अंग होने पर समाहित अलंकार माना है ।[3] भावोदय, भावसन्धि एवं भावशबलता को समाहित अलंकार नहीं माना है । इस विषय पर आचार्य मम्मट ने तर्क उपस्थित किया है, कि यद्यपि आचार्यों ने भावोदय, भावसन्धि एवं भावशबलता को अलंकाररूप नहीं माना है परन्तु रसवदादि

1- अत्र हि रौद्र प्रकृतीनामनुचितत्वात् शान्तौ भगवत्प्रभावकारणकृत इति भावाभासः ।

--ध्व0लो0दि0उ0पृ0 425

2- अत्र भावस्य प्रशमः (श्लोक सं0 120), अत्र भावोदयः (श्लोक सं0 121), अत्रावेगधैर्ययोः सन्धिः (श्लोक सं0 122), अत्र शङ्काऽसूयाधृति-स्मृतिश्रमदैन्यविबोधौत्सुक्यानां शबलता । एते रसवदाद्यलंकाराः ।

-- का0प्र0पं0 204

3- किञ्चिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात् पुनः ।
तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहुः समाहितम् ।।

-- काव्यादर्श 298

अलंकारों के समान इनमें भी अन्य किसी का उत्कर्ष होता है और भावोदय आदि दूसरे का अंग होने के कारण अलंकाररूप हो जाते हैं । रसवदादि के समान अलंकारता रूप लक्षण की समानता के कारण इनको भी समाहित अलंकार कहा जा सकताहै । इस प्रकार आचार्य मम्मट ने समाहित पद को भावोदय आदि शेष तीन का भी उपलक्षण माना है ।[1] आचार्य मम्मट ने भावोदय की अंगता इस प्रकार स्पष्ट की है --

" मावं कुरङ्गकदृशा मधुपानलीलां कर्तुं
सुहृद्भिरपि वैरिणि ते प्रवृत्ते ।
अन्याभिधायि तव नाम विभो ।
गृहीतं केनापि तत्र विषमरोदयवस्थाम् ।।" --का0प्र0उ0 ।21।

प्रस्तुत उदाहरण में कवि की "राजविषयक रति" अर्थात् "भाव" प्रधान है तथा विषम अवस्था द्वारा शत्रुओं में " त्रास रूप व्यभिचारी भाव का उदय" कविनिष्ठ राजविषयक रतिरूप "भाव" का उत्कर्षवर्धक अतएव अंग हो गया है ।[2] अतः यहाँ पर "भावोदय" के "भाव" का अंग होने के कारण समाहित अलंकार है ।

रसवदादि अलंकारों के अतिरिक्त रसादि की गुणीभूतता अनेक रूपों में हो सकती है । जब वाक्य में रसादि में तात्पर्य नहीं होता है तथा वाच्यार्थ गुणीभूतव्यङ्ग्य पदों से उद्भासित होता है । वाक्यगत सम्पूर्ण व्यञ्जना रसाभिव्यञ्जनपरक न होकर वाच्यनिष्ठ होती है, वहाँ रसादि गुणीभूत हो जाता है ।[3] अर्थात् जहाँ चमत्कार का पर्यवसान रस में न होकर वाच्यनिष्ठ

1- "यद्यपि भावोदयभावसन्धिभावशबलत्वानि नालङ्कारतया उक्तानि, तथाऽपि कश्चिद् ब्रूयादित्येवमुक्तम् ।" --का0प्र0पं0उ0पृ0 205

2- अत्र भावोदयः । --का0प्र0पं0उ0पृ0 202

3- "यत्र तु वाक्ये रसादितात्पर्यं नास्ति गुणीभूतव्यङ्ग्यैः पदैरुद्भासितेऽपि तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यतैव समुदाय धर्मः ।" --ध्व0पृ0उ0पृ0 ।195

हो, रसादि गुणीभूतव्यङ्ग्य होकर वाच्य को ही उपस्कृत करते हैं, वहाँ रसादि गुणीभूतव्यङ्ग्य की कोटि में आता है । जैसे --

" राजानमपि सेवन्ते विषमप्युपयुञ्जते ।
रमन्ते च सह स्त्रीभिः कुशलाः खलु मानवाः ।।[1]"

यहाँ आशय यह है किराजा की सेवा करना और स्त्रियों का उपभोग करना उतना ही विषम होता है जितना विष का सेवन करना । यहाँ पर "शान्त रस" की भी कल्पना की जा सकती है । सारा लौकिक व्यवहार ही नीरसप्राय, दुःख और क्लेश से भरा हुआ है । लोक राजाओं को महत्त्व देता है और स्त्रियों में लिप्त रहता है परन्तु इनके परिणाम विषभक्षण के समान मारक हो जाते हैं । इस प्रकार " यह वर्णन विश्ववैरस्य का प्रतिपादक" है, उससे शान्त रस की भी व्यञ्जना होती है । तथापि यहाँ पर " रस ध्वनि की कल्पना नहीं की जा सकती है " क्योंकि यहाँ पर चमत्कार वाच्यनिष्ठ ही है। सम्पूर्ण वाक्य से यह व्यञ्जना निकलती है कि राजा एवं स्त्री इनको जिस फल की आकांक्षा से स्वीकारो, ये विपरीत फल देते हैं, यह विषभक्षण के समान असम्भव कार्य है । सम्पूर्ण वाक्यगत व्यञ्जना चमत्कार पर्यवसायी नहीं है क्योंकि वाच्य का ही संस्कार करता है । अतः व्यङ्ग्य शान्त रस वाच्यार्थ को पुष्ट करने के कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य की ही कोटि में आता है ।

इस प्रकार ध्वनिकार ने उदाहरणों द्वारा अलंकाररूप रसादि गुणीभूतव्यङ्ग्य एवं रस ध्वनि का स्पष्ट विषय-निर्देश किया है । जब रस अलंकार्य, एवं प्रधान हो तथा काव्य के समस्त तत्त्व रस की अपेक्षा गौण होते हुए रस का ही उपकार करते हैं, तब रसध्वनि होती है । जब रस अप्रधान होकर, प्रधानीभूत अन्य किसी वाक्यार्थ का अलंकरण करने के कारण अंगभूत अतएव गौण हो जाता है तबरसादि की रसवदादि अलंकार संज्ञा होती है एवं वे

1- द्रष्टव्य - ध्व०पृ०उ०पृ० ।195

गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य कोटि मे आते हैं ।

रसादि को अलंकार रूप में वर्णित कर, प्रधानीभूत वाक्यार्थ का पोषक होने के कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य मानकर भी ध्वनिकार रसादि के महत्त्व को सर्वोपरि रखते हैं । प्रधान वाक्यार्थ की अपेक्षा रसादि के गुणीभूत होने पर उनका महत्त्व कम नहीं होता है । यह अवश्य है कि प्रधान वाक्यार्थ की अपेक्षा रसादि गौण रहता हुआ वाक्यार्थ का पोषक बन जाता है, परन्तु रसादि के कारण ही काव्य का सौन्दर्य बढ़ता है । गुणीभूत रस की स्थिति भृत्य के विवाह में भृत्यानुयायी राजा के समान होती है --

" तत्र च तेषामाधिकारिकवाक्यापेक्षया गुणीभावो विवाहप्रवृत्तभृत्यानुयायिराजवत् ।"

--ध्व०तृ०उ०पृ० ।।29

जिस प्रकार सदैव प्रधान रहने वाला राजा भृत्य वर की अपेक्षा गौण हो जाता है परन्तु राजा के भृत्य बारात में सम्मिलित होने से ही बारात की शोभा बढ़ती है उसी प्रकार रस के अप्रधान होने पर भी प्रधान वाक्यार्थ का सौन्दर्य रस के कारण ही उत्पन्न होता है ।

५- काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य की गुणीभूतता-

ध्वनिकार के अनुसार " जहाँ पर काकु के द्वारा अर्थान्तर की प्राप्ति होने पर, व्यङ्ग्य का गुणीभाव हो, वह गुणीभूतव्यङ्ग्य का विषय होता है ।[1] "काकु" (कक् लौल्ये+उण्) शब्द का तात्पर्य है

1- या चैषा काक्वा क्वचिदर्थान्तरप्रतीतिर्दृश्यते सा व्यङ्ग्यार्थस्य गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यलक्षणं काव्यप्रभेदमाश्रयते ।

--ध्व०तृ०उ०पृ० ।।7।

" विशेष प्रकार की कण्ठ-ध्वनि "[1] । भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते । अर्थात् यह शब्द का विशेष धर्म है । "भावावेश या विशेष-भाव की अभिव्यक्ति के लिए विशेष प्रकार की परिवर्तित ध्वनि " ही काकु कहलाती है । काकु द्वारा उच्चरित वाक्य से वाच्यार्थ के अतिरिक्त व्यङ्ग्यार्थ भी व्यञ्जित होता है ।[2]

ध्वनिकार के अनुसार " जहाँ काकु के द्वारा वाच्यार्थ के अतिरिक्त व्यङ्ग्यार्थ रूप दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है, व्यङ्ग्यार्थ के अभाव में वाच्यार्थ पर्यवसित नहीं होता है तथा वाच्योपस्कारक होने के कारण व्यङ्ग्य वाच्य की अपेक्षा गुणीभूत होता है, वहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य इस काव्य-भेद का विषय होता है --

"अर्थान्तरगतिः काक्वा या चैषा परिदृश्यते ।
सा व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता ।।"

--ध्व० 3/38

उपर्युक्त कारिका में प्रयुक्त "अर्थान्तरगतिः" पद का तात्पर्य है " वाच्यार्थ के अतिरिक्त व्यङ्ग्यार्थ रूप दूसरे अर्थ की प्रतीति वाला काव्य ।[3]"

" सा व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे " पद का तात्पर्य है कि

1- "कक् लौल्ये" इत्यस्य धातोः काकुशब्दः । ....
अतो शब्दः प्रकृतार्थातिरिक्तमपि वाञ्छतीति लौल्यमभिधीयते ।
--ध्व०लो०दु०उ०पृ० 117

2- तेन हृदयस्य वस्तुप्रतीतेरीषद्भूमिः काक्वा यार्थान्तरगतिः स काव्यविशेष इयं गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रकारमाश्रितः ।
--ध्व०लो०दु०उ०पृ० 117

3- अर्थान्तरगतिशब्देनात्र काव्यमेवोच्यते ।
--ध्व०लो०दु०उ०पृ० 117

" काकु द्वारा व्यञ्जित व्यङ्ग्यार्थ के गुणीभूत होने पर, ही गुणीभूत-व्यङ्ग्य काव्य-भेद होता है अन्यथा नहीं।"

ध्वनिकार ने काकु द्वारा आक्षिप्त व्यङ्ग्य की प्रधानता का स्पष्ट निर्देश नहीं किया है, परन्तु उनके विवेचन से स्पष्ट है कि काकु स्थल में कहीं-कहीं व्यङ्ग्य गुणीभूत न होकर प्रधान भी होता है, व्यङ्ग्य की प्रधानता होने पर उसकी ध्वनिता ही होगी तथा काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य के वाच्य की अपेक्षा गौण होने पर उसकी गुणीभूतव्यङ्ग्यता होगी ।

ध्वनिकार ने काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य के रूप में वेणीसंहार का पद्य उद्धृत किया है[1] जिसमें "स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः" भीम की इस उक्ति में काकु द्वारा व्यङ्ग्य रूप विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति होती है । व्यङ्ग्यार्थ के अभाव में वाच्यार्थ अविक्रान्त है तथा काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्यार्थ " मेरे जीवित रहते हुए यह असम्भव है कि धार्तराष्ट्र जीवित रहें" वाच्यार्थ को उपपन्न बनाता है । अतः वाच्य की सिद्धि का अंग होने के कारण व्यङ्ग्यार्थ गुणीभूत हो गया है । यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि " मम्मट ने प्रस्तुत पद्य को काकु पर आधारित ध्वनिकाव्य का उदाहरण प्रतिपादित किया है ।"

ध्वनिकार ने काक्वाक्षिप्त विशेष अर्थ को वाच्य रूप न कह कर व्यङ्ग्य रूप माना है क्योंकि काक्वाक्षिप्त विशेष अर्थ वाच्यार्थ के व्यक्त होने के अनन्तर अर्थ-सामर्थ्य से प्रतीत होता है । वक्ता विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये काकु द्वारा शब्दों का उच्चारण करता है । उन्हीं शब्दों से वाच्यार्थ के अतिरिक्त विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति, अभिधेय के सामर्थ्य से आक्षिप्त काकु की सहायता से होती है । विशेष

1- 'लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः, प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।
आकृष्य पाण्डववधूपरिधानकेशान्, स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः'।

-- वेणीसंहार

अर्थ की अभिव्यक्ति में काकु केवल सहायक-मात्र होता है । अर्थ की अभिव्यक्ति तो शब्द-शक्ति द्वारा होती है, क्योंकि बिना शब्दों का उच्चारण किये हुएकेवल काकु के द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है । अतः काकु द्वारा व्यक्त विशेषार्थ व्यङ्ग्य रूप होता है ।[1] कदाचित् ध्वनिकार को काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य की प्रधानता अभिप्रेत थी इस कारण उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है कि जब काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्यार्थ वाच्योपस्कारक, अप्रधान, वाच्य का अनुगामक अतएव गौण हो जाता है, काकुव्यङ्ग्य के अभाव में वाच्यार्थ विश्रान्त नहीं होता है, वक्ता के अभिप्राय की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं होती है, वहाँ वाच्य अपनी अभिव्यक्ति के लिए व्यङ्ग्यार्थ का आश्रय कर लेता है तथा वाच्यार्थ में ही रमणीयता का पर्यवसान होने के कारण व्यङ्ग्यार्थ गुणीभूत हो जाता है ।[2] ध्वनिकार द्वारा प्रयुक्त "यदा" पद के प्रयोग से स्पष्ट है कि ध्वनिकार को काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य की ध्वनिता भी अभीष्ट थी ।

ध्वनिकार की " सा व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता" पंक्ति का मम्मटाचार्य ने यह अर्थ लिया है कि " काकु स्थल में कदाचित् व्यङ्ग्य का प्राधान्य होने पर ध्वनिकाव्य तथा काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्यार्थ के गुणीभूत होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य" का विषय होता है । आचार्य मम्मट ने काकु द्वारा व्यञ्जित प्रधान एवं गौण व्यङ्ग्यार्थ का अन्तर इस रूप में स्पष्ट किया है कि जहाँ व्यङ्ग्यार्थ एवं वाच्यार्थ की अविलम्ब

1.1- शब्दशक्तिरेव हि स्वाभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तकाकुसहायासत्यर्थविशेष-
प्रतिपत्तिहेतुर्नतु काकुमात्रम् ।

1.2- स चार्थः काकुविशेषसहायशब्दव्यापारोपारूढोऽप्यर्थसामर्थ्यलभ्य इति
व्यङ्ग्यरूप एव । --ध्व०तृ०उ०पृ० 1176

2- वाचकत्वानुगमेनैव तु यदा तद्विशिष्टवाच्यप्रतीतिस्तदा गुणीभूतव्यङ्ग्यतया
तथाविधार्थद्योतिनः काव्यस्य व्यपदेशः ।--ध्व०तृ०उ०पृ० 1176

प्रतीति हो तथा व्यङ्ग्यार्थ के बिना वाच्यार्थ अपने में अविश्रान्त रहे[1] वहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाच्योपस्कारक होने के कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य प्रकार का आश्रय लेता है । जहाँ काकु द्वारा उच्चरित वाक्य में काकु से व्यञ्जित व्यङ्ग्यार्थ के बिना भी वाच्यार्थ पर्यवसित हो जाय तथा प्रकरणादि की पर्यालोचना करने के अनन्तर व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति विलम्ब से होने के कारण वह वाच्योपस्कारक नहीं अतएव प्रधान हो वहाँ ध्वनि काव्य होता है ।

मम्मट ने काव्य-प्रकाश के पञ्चम उल्लास में गुणीभूतव्यङ्ग्य का यह उदाहरण दिया है --

" मध्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ।।--का०प्र०पं०उ०पृ०210

यहाँ "नमध्नामि " यह पद "विशेष भाव" की अभिव्यक्ति के लिये काकु द्वारा उच्चरित किया गया है । यहाँ वाच्यार्थ बाधित-सा प्रतीत होता है तथा वाच्यार्थ अपने में अविश्रान्त है, उसके प्रकरणान्तर अविलम्ब रूप से व्यङ्ग्यार्थ " मैं अवश्य ही कौरवों का नाश कर डालूँगा" की प्रतीति होती है अतः वाच्यार्थ के पर्यवसान के लिये "मध्नाम्येव" इस व्यङ्ग्यार्थ के उपस्थापन द्वारा काकु ही समर्थ होता है । अतः वाच्योपस्कारक होने के कारण गुणीभूत हो गया है ।[2]

1- व्यङ्ग्यार्थवाच्यार्थयोर्युगपद् यत्र भानं तत्र वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वरूपगुणीभूत-व्यङ्ग्यविशेषत्वम् इति । --का०प्र०रत्नप्रकाश टीका पृ०उ०पृ०75

2- "मध्नामि कौरवशतम्" इत्यत्र तु प्रतिज्ञातकुलक्षयस्य भीमस्य "न मध्नामि" इत्युक्तौ बाधितत्वादर्थस्यानन्वयवाक्यार्थस्य पर्यवसानस्य तिद्ध्यै मध्नाम्येवेति व्यङ्ग्योपस्थापनद्वारा काकुरेव प्रभवतीति काकोर्वाच्य-सिद्ध्यङ्गत्वे तद्द्वारीभूतस्य व्यङ्ग्यस्यापि तथात्वेन गुणीभूततया गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमेवेति ।
--का०प्र०बा०बो०टीका०पृ०उ०पृ० 75

काव्य-प्रकाश के तृतीय उल्लास में दिया गया काक्वाक्षिप्त ध्वनि-काव्य का उदाहरण है --

> "तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
> वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः ।
> विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
> गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ।।"--का०प्र०पृ०84

भीम की उपर्युक्त उक्ति में काकु से आक्षिप्त व्यङ्ग्यार्थ रूप विशेषार्थ की अभिव्यक्ति के बिना भी वाच्यार्थ के पर्यवसित होने के अनन्तर, प्रकरणादि की पर्यालोचना के फलस्वरूप " अत्र मयि न योग्यः खेदः कुरुषु तु योग्यः" व्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यक्ति विलम्ब से होती है । यहाँ काकु द्वारा दो प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यक्ति होती है एक प्रश्न रूप " गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु भजति" ? व्यङ्ग्यार्थ जो मानों शब्द से उक्त होने के कारण, व्यङ्ग्यरूप प्रश्न के उत्थापित करने पर भी व्यञ्जकत्व के अभाव के कारण वाच्य रूप होता है[1] एवं वही वाच्योपस्कारक होता है । काकु की विश्रान्ति प्रश्न मात्र में ही हो जाती है उससे व्यङ्ग्यार्थ आक्षिप्त नहीं होता है । प्रश्नरूप व्यङ्ग्यार्थ से यह वाक्यार्थबोध होता है ।[2] कि " गुरु खिन्न मुझ पर क्यों खेद करते हैं कुरुओं पर क्यों नहीं क्रोध करते हैं"? काकु द्वारा व्यक्त प्रश्न मात्र से वाच्यार्थ निष्पन्न होने के अनन्तर, काकु द्वारा व्यक्त

1- प्रश्नस्य शब्दप्रयोगविशेषात्मकतया तदर्थस्येव शब्दान्वये प्रवेशेन तस्य च व्यङ्ग्यप्रश्नोपस्थापकत्वेऽपि व्यङ्ग्यत्वाभावाद् गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वाप्रसक्तेः ।
--का०प्र०पृ०उ०रत्नप्रकाश टीका पृ०75

2- काकुसहकृतप्रकृतार्थं व्यङ्ग्यं तावद्द्वयं । .... तयोर्मध्ये प्रश्नरूप-व्यङ्ग्यार्थमादाय वाक्यार्थबोधः ।--का०प्र०रत्न प्रकाश टीका पृ० 75

व्यङ्ग्यार्थ रूप विशेषार्थ की अभिव्यक्ति होती है ।[1] " अत्र मयि न योग्यः खेदः कुरुषु तु योग्यः" । अतः प्रश्नमात्र से वाक्यार्थ की परिसमाप्ति होने से "व्यङ्ग्यार्थ रूप विशेष अर्थ" वाच्य सिद्धि का अंग नहीं है ।[2] अतएव उसकी प्रधानता होने के कारण ध्वनिता ही होगी यहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य नहीं हो सकता है ।[3]

ध्वनिकार के स्पष्ट निर्देश के अभाव में लोचनकार यह शंका उद्भावित करते हैं कि पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि चूंकि ध्वनिकार ने केवल यह कहा कि व्यङ्ग्य के गुणीभाव होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य होता है अतः काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य का प्राधान्य होने पर ध्वनिकाव्य होगा" । लोचनकार स्वतः कल्पित पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए स्पष्ट स्वीकार करते है कि काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य स्थल में सर्वत्र गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य ही होता है पूर्व पक्ष की उपर्युक्त शंका सर्वथा असत् है ।[4]

लोचनकार काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य की इस रूप में व्याख्या करते हुए कहते हैं " काकु " ध्वनि का विकार होने के कारण "शब्द का विशेष धर्म होता है" । अतः काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य की प्रधानता होने पर भी वह मानों शब्द द्वारा उक्त होकर " वाच्य-तुल्य" ही

1- इति बोधस्यानुभविकत्वात् मयि न योग्यः इत्यादि काकुसहकृत-
वाक्यार्थे व्यङ्ग्यध्वनिरेवेति नाशङ्कितः ।--का०प्र०रसप्रकाशटीका पृ० 75

2- न च वाच्यसिद्ध्यङ्गमत्र काकुरिति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं शङ्क्यम् ।
प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्तेः ।   --का०प्र०पृ०उ०पृ० 85

3- तेन हि वाक्यार्थे पर्यवसन्ने सति व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति कुतो
गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वशंका ।   --का०प्र०बा०बो०टीका 75

4- अन्येत्वाहुः-व्यङ्ग्यस्य गुणीभावेऽयं प्रकारः अन्यथा तु तत्रापि
ध्वनित्वमेवेति सत्यासत् ।   --ध्व०लो०पृ०उ०पृ० 1172

हो जाता है । अतः " काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य का सर्वत्र गुणीभाव ही हो जाता है प्रधानता नहीं" हो सकती है ।[1] काकु स्थल में विभिन्न भंगिमाओं द्वारा हृदयस्थ भावों को प्रकट किया जाता है । अतः वाच्य के अतिरिक्त काकु के द्वारा दूसरा व्यङ्ग्यार्थ भी व्यञ्जित होता है, जिसके अभाव में वक्ता के तात्पर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति असम्भव है, व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ को विश्रान्त बनाता है, अतः वाच्योपस्कारक होता है । कारिकाकार द्वारा उद्धृत "स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः" भीम की उक्ति को ही लोचनकार ने सर्वत्र गुणीभाव के रूप में उद्धृत किया है । उपर्युक्त उदाहरण में वाच्यार्थ के अतिरिक्त काकु-व्यञ्जना से भीष्म के " अत्यन्त क्रोधानुरूप भाव"की अभिव्यक्ति होती है । जिसके अभाव में वाच्यार्थ पर्यवसित नहीं होता है[2] तथा वाच्यार्थ में विरोध-सा प्रतीत होता है परन्तु व्यङ्ग्यार्थ " मेरे जीवित रहते हुए धार्तराष्ट्र स्वस्थ नहीं रह सकते हैं उनका अकल्याण निश्चित है" के द्वारा भीम की उक्ति का वाच्यार्थ पर्यवसित हो जाता है, अतः यहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाच्योपस्कारक होने

1- काकुप्रयोगे सर्वत्र शब्दस्पृष्टत्वेन व्यङ्ग्यस्योन्मीलितस्यापि गुणीभावत् काकुर्हि शब्दस्यैव कश्चिद्धर्मस्तेन स्पृष्टं "गोप्यैवं गदितः सलेशम्" इतिवच्छब्देनैवानुगृहीतम् ।

--ध्व०लो०पृ०उ०पृ० ।।74

2- काकुरसम्भाव्योऽयमर्थोऽत्यर्थमनुचितश्चेत्यमुं व्यङ्ग्यमर्थं स्पृशन्ती तेनैवोपकृता सती क्रोधानुभावरूपतां व्यङ्ग्योपस्कृतस्य वाच्यस्यैवाभिधत्ते ।

--ध्व०लो०पृ०उ०पृ० ।।75

के कारण गुणीभूत हो गया है । अतः काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य स्थलों में सर्वत्र गुणीभूतता ही होती है ध्वनिता नहीं हो सकती है ।

इस प्रकार सम्पूर्ण तथ्यों के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि लोचनकार के उपर्युक्त उदाहरण में तो व्यङ्ग्य की गुणीभूतता है, परन्तु ध्वनिकार की " सा व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे" पंक्ति का जो आशय मम्मट ने ग्रहण किया है वह उक्त विवेचन को देखते हुए सर्वथा उचित है । इस पंक्ति का यही आशय ध्वनिकार को भी अभीष्ट था क्योंकि उन्होंने काक्वाक्षिप्त स्थल में प्रधानता होने पर ध्वनिता का निषेध नहीं किया है । मम्मटाचार्य के उदाहरणों एवं उनके विवेचनों की पुष्टि को देखते हुए यह स्पष्ट है कि लोचनकार का मत " काकु स्थल में सर्वत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यता होती है[1]" सर्वथा उचित नहीं है । काक्वाक्षिप्त के व्यङ्ग्य का गुणीभाव होने पर गुणीभूत व्यङ्ग्यता एवं प्रधानता होने पर ध्वनिता होती है ।

गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का उपसंहार करते हुए आचार्य ने व्यङ्ग्यार्थ की गुणीभूतता का इस प्रकार निर्देश दिया है --

" व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः ।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालङ्कृतयः स्फुटाः ।।

व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा ।
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते ।।"

--ध्व०लो०पु०उ०पृ० 233

इसका विवेचन करने के अनन्तर व्यङ्ग्यार्थ की गुणीभूतता चार रूपों में स्पष्ट होती है ।

उक्त सम्पूर्ण विवेचन को देखते हुए गुणीभूतव्यङ्ग्य के अधोलिखित प्रकार सिद्ध होते हैं --

---

1- काकुयोजनायां सर्वत्र गुणीभूत व्यङ्ग्यतैव । --ध्व०लो०पु०उ०पृ० ।।79

ध्वनिकार के अनुसार गुणीभूतव्यङ्ग्य - काव्य के भेद

व्यङ्ग्य तीन प्रकार का होता है , तीनों रूप गुणीभूत होने पर, गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल

वस्तुरूप
- (क) तिरस्कृतवाच्य गुणीभूतव्यङ्ग्य
- (ख) अतिरस्कृतवाच्य गुणीभूतव्यङ्ग्य

अलंकाररूप
- (क) सर्वालंकार गर्भित अलंकार
- (ख) सादृश्यमूलक अलंकार
- (ग) वस्तुव्यञ्जनामूलक अलंकार
- (घ) विशेषालंकार गर्भित अलंकार
- (ङ) सामान्य अलंकार गर्भित अलंकार
- (च) परस्पर गर्भित अलंकार

रसादिरूप
- (क) रसवत् अलंकार
- (ख) प्रेयोऽलंकार
- (ग) ऊर्जस्वि अलंकार
- (घ) समाहित अलंकार

काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य

गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य का महत्त्व -

अलंकारों की मधुरिमा से युक्त गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य उत्कृष्ट वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ के संस्पर्श के कारण अत्यन्त रमणीय, सहृदयसमाराध्य एवं सहृदयहृदयाह्लादक होते हैं । यह तथ्य अवधेय है कि ध्वनिकार ने कहीं भी ध्वनि-काव्य को उत्तम एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य को मध्यम या ध्वनि-काव्य की अपेक्षा " अवरकाव्य " संज्ञा नहीं प्रदान की है । उन्होंने केवल काव्य के दो प्रकारों का उल्लेख किया है । ध्वनि एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य, दोनों काव्य-प्रकारों में व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता एवं अप्रधानता का ही अन्तर है ।[1] ध्वनिकार ने "चारुत्वोत्कर्ष" को ही व्यङ्ग्य की प्रधानता अथवा अप्रधानता का आधार माना है एवं उसी आधार पर काव्य-विभाजन किया है । वाच्य अथवा व्यङ्ग्यार्थ में से जिसमें चारुत्व का पर्यवसान होता है उसी की प्रधानता होती है[2]। ध्वनि-काव्य में व्यङ्ग्यार्थ में चारुत्व का पर्यवसान होता है, अतएव " व्यङ्ग्यार्थ प्रधान " होता है । गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य में वाच्यार्थ में चारुत्व का पर्यवसान होता है अतएव "व्यङ्ग्यार्थ अप्रधान" होता है, अन्यथा दोनों काव्य-भेद समान रूप से सुन्दर होते हैं, परन्तु आचार्य मम्मट ने गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य को " मध्यम " काव्य की आख्या प्रदान की है[3]। जो कि मम्मट की अपनी उद्भावना है किन्तु परवर्ती आचार्य

1- व्यङ्ग्योऽर्थो ललनालावण्यप्रख्यो यः प्रतिपादितस्तस्य प्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तम् । तस्य तु गुणीभावेन वाच्यचारुत्वप्रकर्षे गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम काव्यप्रभेदः प्रकल्प्यते ।--ध्व०लो०पृ०उ०।।23

2- चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा ।
--ध्व०दि०उ०पृ० 637

3- अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् ।--का०प्र०उ०पृ० 31

पण्डितराज जगन्नाथ गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य की उत्कृष्टता से अत्यन्त प्रभावित थे। अतः उन्हें "मध्यम" संज्ञा उचित नहीं प्रतीत हुई। उन्होंने गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य को उत्तम संज्ञा प्रदान करने के लिए काव्य का पुनर्विभाजन किया।[1]

ध्वनिकार दोनों काव्य-भेदों को समान रूप से उत्कृष्ट काव्य-भेद मानते हैं यह तथ्य उनके इस कथन से स्पष्ट हो जाता है --

"प्रभेदस्यास्यविषयो यश्च युक्त्या प्रतीयते।
विधातव्या सहृदयैर्न तत्र ध्वनियोजना ॥"--ध्व० 3/39

उपर्युक्त कारिका में प्रयुक्त "युक्ति" पद का तात्पर्य है- "चारुत्वप्रतीति"[2]। ध्वनिकार ने स्पष्ट रूप से कहा है कि गुणीभूत-व्यङ्ग्य स्थल में सहृदयों को ध्वनि-काव्य की योजना नहीं करनी चाहिए। जिसमें चारुत्वोत्कर्ष की प्रतीति हो वहाँ उसकी ही संज्ञा प्रदान की जानी चाहिए। चारुत्वाधिक्य ही नामकरण का एक मात्र आधार होना चाहिए। यदि व्यङ्ग्य में चमत्काराधिक्य हो तो उसे ध्वनि तथा वाच्य के रमणीयता युक्त होने पर उसे गुणीभूत-व्यङ्ग्य काव्य की संज्ञा प्रदान करनी चाहिए। गुणीभूतव्यङ्ग्य स्थल में बलात् ध्वनि संज्ञा नहीं प्रदान करनी चाहिए जैसा कि ध्वनिकार की-- "न सर्वत्र ध्वनिरागिणा भवितव्यम्"[3] पंक्ति गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य के महत्त्व को प्रदर्शित करती है। यदि गुणीभूतव्यङ्ग्य- काव्य ध्वनि की अपेक्षा निम्न या अवर-कोटि का काव्य होता तो ध्वनिकार उपर्युक्त पंक्ति कदापि न कहते।

1- तच्चोत्तमोत्तमोत्तम-मध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा।
द्वितीयमुत्तमं लक्षयति- "यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद् द्वितीयम् ॥" --रसं०प्र०आ०पृ० 63

2- युक्त्येति। चारुत्वप्रतीतिरेवात्र युक्तिः।--ध्व०लो०पृ०पृ०॥8॥

3- द्रष्टव्य -- ध्व०पृ०उ०पृ० ॥8॥

ध्वनिकार गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए कहते हैं --

" प्रसन्नगम्भीरपदाः काव्यबन्धाः सुखावहाः ।
ये च तेषु प्रकारोऽयमेव योज्यः सुमेधसा ।।"--ध्व03/35

उच्चकोटि की काव्यविधा होने के कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता है । यह व्यङ्ग्यार्थ के संस्पर्श के कारण रमणीयता-युक्त सहृदयहृदयाह्लादक तथा सुखावह काव्य-बन्ध होते हैं । ध्वनिकार ने स्पष्ट रूप से कहा है कि बुद्धिमान् व्यक्ति को गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्यविधा का उपयोग उच्चकोटि की रचनाओं में संयोजित करना चाहिए ।[1] क्योंकि गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य पदयोजना में प्रसादगुण के योग से प्रसन्न तथा व्यङ्ग्यार्थ के उपस्कारक होने के कारण गम्भीरता युक्त अतः रमणीय चारुतायुक्त होने के कारण सहृदयों के लिये सुखावह होते हैं अर्थात् जो सुखावह एवं काव्य-मर्मज्ञ सहृदय व्यक्तियों द्वारा श्लाघ्य, काव्य प्रबन्ध हैं, उनमें गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक काव्य-भेद की योजना करनी चाहिए । लोचनकार भी इसी बात पर बल देते हुए कहते हैं --

" प्रसन्नानि प्रसादगुणयोगाद्गम्भीराणि च व्यङ्ग्यार्थापेक्षकत्वात्पदानि येषु । सुखावहा इति चारुत्वे हेतुः । तत्राऽयमेव प्रकार इति भावः ।"

--ध्व0लो0पृ0उ0पृ0 ।।33

1- ये चैतेऽपरिमितस्वरूपा अपि प्रकाशमानास्तथाविधार्थ रमणीयाः सन्तो विवेकिनां सुखावहाः काव्यबन्धास्तेषु सर्वेष्वेवायं प्रकारो गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम योजनीयः ।

--ध्व0पृ0उ0पृ0 ।।32

लोचनकार के अनुसार वे ही सहृदय एवं काव्यमर्मज्ञ कहलाने के अधिकारी हैं जो अपनी रचना में गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य-विधा का सम्पादन करने में समर्थ होते हैं, अन्यथा उनकी रचना उच्चकोटि का काव्य कहलाने की अधिकारी नहीं हो सकती है । गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य का प्रतिपादन कवि की वाणी को पवित्र कर देता है । अतः इस प्रकार के काव्य की योजना करने में केवल विवेकीजन अर्थात् काव्यमर्मज्ञ सहृदय व्यक्ति ही समर्थ होते हैं । जो समर्थ नहीं होते हैं वे वास्तविक कवि या सहृदय नहीं कहे जा सकते हैं ।[1]

ध्वनिकार एवं लोचनकार के कथनों से यह बात ध्वनित होती है कि ध्वनिकाव्य तो रमणीय होता ही है परन्तु गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का भी कम महत्त्व नहीं है । अतः उच्चकोटि की रचनाओं में गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य-विधा की योजना करनी चाहिए ।

ध्वनिकार के अनुसार महाकवियों की वाणी का प्रधान आभूषण गुणीभूतव्यङ्ग्य होता है । जिस प्रकार विविध (अलंकारों) आभूषणों से अलंकृत होने पर भी लज्जा ही नारी का प्रमुख आभूषण होता है उसी प्रकार उपमा रूपकादि अनेक शब्दार्थालंकारों से अलंकृत ~~भ~~ महाकवियों की वाणी में गुणीभूत भी व्यङ्ग्यार्थ द्वारा सम्पादित रमणीयता ही प्रमुख होती है ।[2] गुणीभूत - व्यङ्ग्य द्वारा ही काव्य

1- सुमेधसेति । यस्त्वेतं प्रकारं तत्र योजयितुं न शक्तः स परमलीकसहृदयभावनामुकुलितलोचनोऽप्युपहसनीयः स्यादिति भावः ।

--ध्व०लो०पृ०उ०पृ० ।133

2- " मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि ।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम् ।।

--ध्व० 3/37

में अद्वितीय रमणीयता, एवं विलक्षण कमनीयता उत्पन्न हो जाती है । गुणीभूतव्यङ्ग्य के अभाव में अलंकृत भी काव्य, वाच्य रूप ही लगता है । ध्वनिकार ने गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए व्यङ्ग्य द्वारा सम्पादित वाच्य की अद्वितीय कमनीयता को निम्न उदाहरण द्वारा प्रस्तुत किया है --

" विस्रम्भोत्था मन्मथाज्ञाविधाने ये मुग्धाक्ष्याः केऽपि लीलाविशेषाः ।
अक्षुण्णास्ते चेतसा केवलेन स्थित्वैकान्ते सन्ततं भावनीयाः ।।"

--ध्व०पृ०उ०पृ० 166

प्रस्तुत उदाहरण में " केऽपि " पद से कटाक्षों का अनिर्वचनीय माहात्म्य, विलक्षणता, अपरिमेयता तथा उत्कृष्टता व्यञ्जित होती है । उक्त व्यङ्ग्यार्थ ही वाच्य का उपस्कारक है, उसी के कारण वाच्य में सौन्दर्य उत्पन्न हो रहा है परन्तु सौन्दर्य का पर्यवसान वाच्यार्थ में हो रहा है अतएव व्यङ्ग्य गुणीभूत हो गया है ।

इस प्रकार ध्वनिकार ने किसी काव्य-विधा को गुणीभूत-व्यङ्ग्य नाम केवल " अवान्तर-व्यङ्ग्य की गौणता " की दृष्टि से ही दिया है क्योंकि प्रत्येक काव्य का अन्ततः पर्यवसान तो रसध्वनि में ही होता है । ध्वनिकार के अनुसार व्यङ्ग्य की प्रधानता होने पर ध्वनि अथवा वाच्यार्थ की प्रधानता होने पर किसी काव्य-विधा को गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य की आख्या प्रदान की जा सकती है परन्तु गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य की विवेचना करने पर ज्ञात होता है कि गुणीभूत-व्यङ्ग्य-काव्य का पर्यवसान भी प्रधानीभूत रस-व्यङ्ग्य में ही होता है, अन्ततः इसमें भी रसभावादि व्यङ्ग्य की प्रधानता होने के कारण, गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य प्रकार भी ध्वनिरूपता को धारण करता है --

"प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम् ।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः ।।"--ध्व० 3/40

अर्थात् गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य में एक मध्यवर्ती व्यङ्ग्य वाच्य का उपस्कारक होने के कारण गौण होता है, वाच्य प्रधान होता है परन्तु पुनः इस काव्य-विधा का पर्यवसान रस, भाव इत्यादि रूप तात्पर्य में होता है तथा रसादि रूप व्यङ्ग्य के प्रति प्रधान वाच्यार्थ गौण हो जाता है । रस सदैव व्यङ्ग्य होता है । कभी वाच्य नहीं हो सकता है और काव्यात्मा रूप में रसध्वनि को ही स्वीकार किया गया है अतः रसभावादि की पर्यालोचना करने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य भी ध्वनिरूपता को धारण करता है अर्थात् गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का अन्ततः पर्यवसान रसध्वनि में ही होता है । गुणीभूतव्यङ्ग्य पहले वाच्यांग होता है, पुनः वाच्य एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य रसांग होकर, ध्वनि-काव्य में पर्यवसित हो जाते हैं ।

इस प्रकार सम्पूर्ण विवरण के अवलोकन से यह तथ्य सिद्ध होता है कि गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य भी अत्यन्त रमणीय, सहृदयश्लाघ्य एवं उच्चकोटि का काव्य होता है । आचार्य मम्मट ने इस काव्य-विधा को " मध्यम " आख्या प्रदान की है जो कि उचित नहीं प्रतीत होती है क्योंकि "मध्यम संज्ञा" से गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य का ध्वनि-काव्य की अपेक्षा अवरत्व या निम्नकोटिकत्व भासित होता है । इसका आभास आचार्य मम्मट को भी न था अन्यथा वह गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य को मध्यम संज्ञा न प्रदान करते ।

ध्वन्यालोक के अध्ययन से यह बात स्पष्ट है कि आनन्दवर्धनाचार्य एवं आचार्याभिनवगुप्त दोनों को गुणीभूतव्यङ्ग्य का ध्वनि-काव्य की अपेक्षा अवरत्व अभीष्ट न था क्योंकि उन्होंने कहीं भी इन काव्य-भेदों को "उत्तम या मध्यम संज्ञा" नहीं प्रदान है, न ही ध्वनिकार ने गुणीभूतव्यङ्ग्य के आठ भेदों का उल्लेख किया है यद्यपि इन भेदों का स्पष्ट आभास ध्वन्यालोक में मिलता है । इन्हीं से अगूढ़, अस्फुट एवं असुन्दर गुणीभूत व्यङ्ग्य भेदों को भले ही " मध्यम संज्ञा " प्रदान

की जा सकती है परन्तु अन्य भेद अन्ततः रस में पर्यवसित होकर उत्कृष्टतम काव्य कहलाने के अधिकारी हैं ।

ध्वन्यालोक के टीकाकार डा० रामसागर त्रिपाठी के अनुसार तो गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य, ध्वनि-काव्य की भी अपेक्षा उत्कृष्ट काव्य-भेद होता है[1] क्योंकि वही काव्य उच्चकोटिक माना जा सकता है, जिसमें वाच्यार्थ भी चमत्कारपूर्ण हो व्यङ्ग्यार्थ भी रमणीयता युक्त हो तथा काव्य का अन्ततः पर्यवसान रसध्वनि में हो रहा हो ।

ध्वनि-काव्य में वाच्यार्थ विशेष चमत्कारपूर्ण नहीं होता है केवल व्यङ्ग्यार्थ ही चमत्कारपूर्ण होता है । वाचक शब्द, वाच्यार्थ, व्यञ्जना-व्यापार एवं व्यञ्जक शब्द व्यङ्ग्यार्थ के प्रति गौण होते हैं, अतः व्यङ्ग्यार्थ की ही प्रधानता होती है । गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य में वाच्यार्थ उत्कृष्ट कोटि का होता है तथा एक प्रकारान्तर व्यङ्ग्य वाच्यार्थ का उपस्कारक होकर वाच्यार्थ में नवीन रमणीयता का आधान करता है, पर्यवसान में भावात्मक चमत्कार होता है तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य का अन्ततः पर्यवसान रसध्वनि में होने के कारण व्यङ्ग्य रस भी सहृदयाह्लादक होता है । गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य में अप्रधानभूत व्यङ्ग्य द्वारा वाच्यार्थ के अनुप्राणित किये जाने के कारण उसमें अलंकार की मधुरिमा भी आ जाती है ।

गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य-भेद, ध्वनि-काव्य की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट होता है । इस तथ्य की और अधिक पुष्टि दोनों काव्य-प्रकारों के उदाहरणों द्वारा हो जाती है ।

ध्वनिकार ने ध्वनि-काव्य के उदाहरण रूप में निम्न गाथा को उद्धृत किया है --

" भम धम्मिअ वीसत्थो स सुणओ अज्ज मारिओदेण ।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ।।" --ध्व0उ0 77

प्रस्तुत उदाहरण का वाच्यार्थ है कि " हे धार्मिक अब तुम विश्वस्त होकर गोदावरी के तट पर भ्रमण कर सकते हो क्योंकि जिस कुत्ते से तुम डरते थे, उसे कुञ्ज में स्थित उद्धत सिंह ने आज मार दिया है;" जिसमें विशेष सौन्दर्य नहीं है । इससे निषेधपरक व्यङ्ग्यार्थ व्यक्त होता है कि अभी तक तुम कुत्ते से ही डरते थे परन्तु अब वहाँ " भयानक सिंह " भी आ गया है जो दिन में भी घूमता है[1]। तुम धार्मिक अतएव भीरु हो तुम्हें पूजन सामग्री के लिये वहाँ नहीं जाना चाहिए[2]। इस व्यङ्ग्यार्थ के पीछे " नायिका का स्वच्छन्द रूप से संकेत स्थान पर मिलन एवं संकेत स्थान की रक्षा " रूप तात्पर्य निहित है ।

इस प्रकार यहाँ " विधि रूप " वाच्यार्थ सौन्दर्य रहित है तथा "निषेध रूप" "वस्तु-व्यङ्ग्य" ही चमत्कारपूर्ण है एवं प्रधान है अन्य कोई अवान्तर व्यङ्ग्य वाच्योपस्कारक नहीं है ।

इसी प्रकार वाच्यसौन्दर्य रहित ध्वनिकाव्य का एक अन्य उदाहरण--

" अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि ।
मा पहिअ रत्तिअन्धअ सेज्जाए मह णिमज्जिहिसि "।।--ध्व0प्र0उ0पृ0।।9

1- यस्ते भयप्रकम्पामङ्गलतिकामकृत । अद्येति । दिष्ट्या वर्धत इत्यर्थः । मारित इति । पुनरत्थानुत्थानम् । तेनेति । --ध्व0लो0प्र0उ0पृ0।।7

2- पूर्वमेव हि तद्भयात् तत्रापस्मारितोऽसौ, स चाधुना तु दृप्तत्वात्ततो गहनान्निःसरतीति प्रसिद्धगोदावरीतीरपरिसरानुसरणमपि तावत्कथा-शेषीभूतं का कथा लतागहनप्रवेशाशङ्कयेतिभावः ।

--ध्व0लो0प्र0उ0पृ0।।8

प्रस्तुत उदाहरण का वाच्यार्थ चमत्कार तथा सौन्दर्य-रहित है-- कि " हे पथिक। दिन में तुम मेरी व मेरी सास की चारपाई भलीभाँति देख लो, रात्रि में जब तुम अन्धे हो जाते हो हम दोनों की चारपाई पर मत गिरना ।" इस वाच्यार्थ में रमणीयता उत्पन्न करने वाला अन्य कोई सहायक अवान्तर व्यङ्ग्य भी नहीं है । इस निषेध रूप वाच्यार्थ से किसी पथिक की कामोन्मत्तता जानकर किसी प्रोषित-पतिका युवती का उसके निमन्त्रण को स्वीकार करना रूप, "विधि-परक" अर्थ व्यञ्जित होता है । इस "निषेधपरक वाच्यार्थ" से "विधिपरक व्यङ्ग्यार्थ" व्यञ्जित होता है कि " मेरी ही चारपाई पर आना सास की चारपाई पर नहीं, तथा अधिक विश्वस्त हो जाने पर कि सास गहरी निद्रा में डूब गई तभी आना ।" यह व्यङ्ग्यार्थ प्रधान है, इसी में वाक्य का पर्यवसान होता है[1]। इस प्रधान व्यङ्ग्यार्थ के प्रति वाचक शब्द एवं वाच्यार्थ गौण हो जाते हैं तथा व्यङ्ग्यार्थ " वस्तु-ध्वनि" का रूप धारण करता है ।

गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य का भी अन्ततः पर्यवसान रसध्वनि में ही होता है इस तथ्य की पुष्टि के लिये ध्वनिकार ने निम्न उदाहरणों को प्रस्तुत किया है --

> " पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वकम् ।
> सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ।।"

--ध्व0पु0उ0पृ0 ।।8।

प्रस्तुत उदाहरण का वाच्यार्थ है कि " चरणों को अलक्त से

1- काञ्चित्प्रोषितपतिकां तरुणीमवलोक्य प्रवृद्धमदनाङ्कुरः सन्पन्थः पान्थोऽनेन निषेधद्वारेण तयाभ्युपगत इति निषेधाभावोऽत्र विधिः ।. . अतएव रात्र्यन्धेति समुचितसमयसम्भाव्यमानविकाराकुलितत्वं ध्वनितम् ।

--ध्व0लो0पृ0उ0पृ0 ।।9

अलंकृत करने वाली सखियों द्वारा " इससे पति की चन्द्रकला का स्पर्श करो" इस प्रकार परिहासपूर्वक उपदेश दिये जाने पर पार्वती ने बिना कुछ कहे ही उनको माला से मार दिया ।"

प्रस्तुत उदाहरण का वाच्यार्थ अत्यधिक सुन्दर एवं चमत्कारोत्पादक है, इसी वाच्यार्थ में रमणीयता का पर्यवसान होता है । उदाहरण के " निर्वचनं" पद से लज्जा ।अभिलषित अर्थ का प्रत्याख्यान।, "अवहित्था" ।चरणों पर गिरने की बात सुन कर प्रसन्नता परन्तु कुमारी जनोचित लज्जावश अपगोपन।, "ईर्ष्या" ।सौत का शिरोधारण।, "भय" । यह कुमारी जनोचित-भाव है।, "सौभाग्य" ।सौत सहित प्रियतम का चरण-पतन।, "अभिमान" ।चन्द्रकला की अपेक्षा अधिक सौन्दर्य-युक्त होने का भान। इत्यादि भाव व्यञ्जित होते हैं परन्तु यह व्यङ्ग्यार्थ प्रधान नहीं है वरन् कुमारी जनोचित अस्वीकृत रूप वाच्यार्थ का उपस्कारक होने के कारण गुणीभूत हो गया है ।[1] इस गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य का भी अन्ततः पर्यवसान श्रृंगार-रस में होता है । यह श्रृंगार-रस सभी की अपेक्षा प्रधान होने के कारण ध्वनिरूपता को धारण करता है तथा रस की अपेक्षा अप्रधान गुणीभूतव्यङ्ग्य एवं उपायत्वात् प्रधान वाच्यार्थ भी गौण हो जाता है ।[2]

1- "निर्वचनं" अनेन लज्जावहित्थहर्षेर्ष्यासाध्वससौभाग्याभिमानप्रभृति यद्यपि ध्वन्यते, तथापि तन्निर्वचनशब्दार्थस्य कुमारीजनोचितत्वा-प्रतिपत्तिलक्षणस्यार्थस्योपस्कारकता केवलमाचरति ।

--ध्व०लो०वृ०उ०पृ० ।।8।

2- उपस्कृतस्त्वर्थः श्रृङ्गाराङ्गतामेतीति ।

--ध्व०लो०वृ०उ०पृ० ।।8।

इस तथ्य की पुष्टि के लिए एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है --

" प्रायच्छतोच्चैः कुसुमानि मानिनी विपक्षगोत्रं दयितेन लम्भिता ।
न किञ्चिदूचे चरणेन केवलं लिलेख बाष्पाकुललोचनाभुवम् ।।"

--ध्व०पृ०उ०पृ० ।।84

प्रस्तुत उदाहरण का वाच्यार्थ है कि "पुष्पों को देने वाले प्रियतम के द्वारा उच्चस्वर से (विपक्ष) सौत के नाम से सम्बोधित मानिनी ने, ' कुछ नहीं कहा ' केवल वाष्प से व्याकुल नेत्रों वाली होकर, चरणों से भूमि को कुरेदने लगी ।"

प्रस्तुत उदाहरण में "कुछ नहीं कहा" वाच्य निषेध रूप है परन्तु इससे व्यञ्जित व्यङ्ग्यार्थ अत्यधिक आकुलता अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण " उक्त" ही हो जाती है, वाच्य " कुछ नहीं कहा " पद में अत्यधिक सौन्दर्य है । वकनी कुछ कहती नहीं है परन्तु इस पद से मानिनी की अत्यधिक आकुलता, दुःख एवं आन्तरिक पीड़ा व्यञ्जित होती है । इस व्यङ्ग्यार्थ के बिना वाच्यार्थ अपूर्ण है परन्तु " निषेध रूप वाच्यार्थ के द्वारा व्यङ्ग्यार्थ मानो उक्त " होने के कारण गुणीभूत हो गया है[1]। अतः यह वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक सौन्दर्ययुक्त नहीं है इस मध्यवर्ती व्यङ्ग्यार्थ से उपस्कृत वाच्यार्थ अधिक चमत्कारोत्पादक है परन्तु इस काव्य का भी अन्ततः पर्यवसान "अनुरणन रूप व्यङ्ग्य ध्वनि" में होता है जिसके प्रति प्रधान वाच्यार्थ भी गौण होजाता है । परन्तु इसे अनुरणन रूप ध्वनि नहीं परन्तु गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य संज्ञा दी जायेगी क्योंकि इसमें वाच्यार्थ अ- उत्कृष्ट है एवं वाच्यार्थ में रमणीयता उत्पन्न

1- न किञ्चिदूचे इति प्रतिषेधमुखेन व्यङ्ग्यस्यार्थस्योक्त्या किञ्चिद्विषयीकृतत्वात् गुणीभाव एव शोभते ।

--ध्व०पृ०उ०पृ० ।।84

करने वाला अवान्तर व्यङ्ग्य भी है[1] । अतः प्रस्तुत पद्य गुणीभूत-व्यङ्ग्य का उदाहरण है, ध्वनि-काव्य का उदाहरण नहीं है ।

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि ध्वनि-काव्य का पर्यवसान रसध्वनि में ही होता है । गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य का भी अन्ततः पर्यवसान रसध्वनि में ही होता है क्योंकि ध्वनिकार के अनुसार सरस काव्य रचना में प्रवृत्त, महाकवि के काव्य का हर पद्य रस पर्यवसायी होता हुआ चारुत्वातिशय का पोषण करता है, अतः प्रत्येक काव्य ध्वनि-धर्मता को धारण कर लेता है[2] । ध्वनिकार ने यह स्पष्ट रूप से कहा है कि जब कवि के तात्पर्य की विश्रान्ति रसादि में होती है तो ऐसे स्थलों पर गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य भी रस का अंग हो जाता है[3] ।

इस प्रकार सम्पूर्ण विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि "ध्वनि" समस्त काव्यों का उपनिषद्भूत, प्रधान एवं सारभूत तत्त्व, अतएव आत्मस्वरूप होता है । ध्वनि-काव्य में वाच्यार्थ गौण रहते हुए, रस ध्वनि में पर्यवसित होता है । गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य भी अवान्तर व्यङ्ग्य द्वारा अलंकृत, उत्कृष्ट एवं प्रधान वाच्यार्थ के सहित, अन्ततः रस-ध्वनि में ही पर्यवसित होता है ।

1- तस्मान्नात्रानुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनिव्यपदेशो विधेयः ।

--ध्व०पृ०उ०पृ० ।184

2- तस्मान्नास्त्येव तद्वस्तु यत्सर्वात्मना रसतात्पर्यवतः कवेस्तदिच्छया तदभिमतरसाङ्गतां न धत्ते तथोपनिबध्यमानं वा चारुत्वातिशयं पुष्णाति । सर्वमेतच्च महाकवीनां काव्येषु दृश्यते ।

-- ध्व०पृ०उ०पृ० ।232

3- रसापेक्षायां तु गुणीभूतव्यङ्ग्यलक्षणोऽपि प्रकारस्तदङ्गताम् अवलम्बत इत्युक्तं . . . . . । --ध्व०पृ०उ०पृ० ।232

इसी कारण ध्वनिकार ने गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य को ध्वनि का निष्यन्द रूप (ध्वनि का प्रवाह) माना है। जैसे-- चाटूक्तियों एवं देवतास्तुतियों आदि में व्यङ्ग्यविशिष्ट प्रधान वाच्यार्थ की रस के अंग रूप में व्यवस्था की जाती है वहाँ भी गुणीभूतव्यङ्ग्य "ध्वनि निष्यन्द", रूप होता है[1]। अतः गुणीभूत-व्यङ्ग्य-काव्य, ध्वनि-काव्य से भी उच्चकोटि का काव्य होता है इसकी योजना उच्चतम काव्यों में ही करनी चाहिए। गुणीभूत-व्यङ्ग्य-काव्य का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए स्वयं ध्वनिकार कहते हैं कि " ध्वनि का निष्यन्द-रूप यह काव्य अत्यन्त रमणीय एवं महाकवियों की रचना का उत्तम विषय होता है। अतः सहृदयों को इस काव्य-भेद की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए "[2]। यह काव्य का अत्यन्त रहस्यपूर्ण तत्त्व है, जो कि सहृदय विद्वज्जनों के द्वारा विचारणीय है[3]।

1- यदा तु चाटुषु देवतास्तुतिषु वा रसादीनामङ्गतया व्यवस्थानं . . . कासुचिद्व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्ये प्राधान्यं तदपि गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य ध्वनिनिष्यन्दभूतत्वमेवेत्युक्तम्।

---ध्व०लो०उ०पृ० 1232

2- तदयं ध्वनिनिष्यन्दरूपो द्वितीयोऽपि महाकविविषयोऽतिरमणीयो लक्षणीयः सहृदयैः। तथा नास्त्येव सहृदयहृदयहारिणः काव्यस्य स प्रकारो यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन सौभाग्यम्।

--ध्व०लो०उ०पृ० 1156

3- तदिदं काव्यरहस्यं परमिति सूरिभिर्भावनीयम्।

--ध्व०लो०उ०पृ० 1156

महिमभट्ट तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य -

संस्कृत साहित्य-जगत में आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा व्यङ्ग्यार्थ को ही "काव्यगत चारुता का हेतु" एवं व्यङ्ग्यार्थ को ही "काव्य-विभाजन का आधार" माना गया है। व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता एवं अप्रधानता के आधार पर पृथक्-पृथक् काव्य-भेद स्वीकार किये गये हैं परन्तु महिमभट्ट वाच्य एवं प्रतीयमान के बीच "गम्यगमक-भाव सम्बन्ध" को ही सामान्य रूप से काव्य का लक्षण मानते हुए एवं व्यङ्ग्य की प्रधानता, अप्रधानतामूलक भेदों को अस्वीकार करते हुए कहते हैं --

" किञ्च काव्यस्य स्वरूपं व्युत्पादयितुकामेन मतिमता तल्लक्षणमेव सामान्येनाख्यातव्यम् "यत्र वाच्यप्रतीयमानयोर्गम्यगमकभावसंस्पर्शस्तत्" काव्यमिति, तावतैव व्युत्पत्तिसिद्धेः।" --व्या०वि०पृ० 160

महिमभट्ट वस्तु, अलंकार एवं रसध्वनि में चमत्कार की दृष्टि से कोई भेद नहीं मानते हैं। उन्होंने "अनुमेयार्थ" युक्त काव्य को ही काव्य संज्ञा प्रदान की है, जो कि सदैव प्रधान होता है।

ध्वनिकार व्यङ्ग्यार्थ प्रधान काव्य को "विशेष काव्य" की संज्ञा प्रदान करते हुए उसे "ध्वनि-काव्य" एवं व्यङ्ग्यार्थ अप्रधान काव्य को "गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य" कहते हैं[1]। परन्तु महिम भट्ट के अनुसार

1.1- यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥
--ध्व० 1/13

1.2- प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात्प्रकर्षवत्॥
--ध्व० 3/34

प्रत्येक काव्यअनुमेयार्थ से युक्त होता है । उससे रहित काव्य नहीं होता है तथा महिमभट्ट, ध्वनिकार द्वारा स्वीकृत गुणीभूतव्यङ्ग्य रूप काव्य में भी अनुमेय रूप वाच्य एवं प्रतीयमान के बीच गम्यगमक-भाव का सम्बन्ध स्वीकार करते हैं अतः अनुमेयार्थ से रहित कोई काव्य प्रकार सम्भव न होने के कारण सामान्य एवं विशेष दोनों में से कोई काव्य एक दूसरे से भिन्न नहीं होता है[1] । वस्तुतः काव्य में सामान्य एवं विशेष का अन्तर नहीं होता है अतः वे ध्वनिकार सम्मत " द्विविध काव्य-विभाजन का खण्डन" करते हैं --

" यत्तु तदनाख्यायिव तयोः प्रधानेतरभावकल्पनेन प्रकारद्वयमुक्तं तदप्रयोजकमेव । यो हि यद्विशेषप्रतीतौ निमित्तभावेन निश्चितः स एव तदर्थिनः प्रतिपाद्यो भवति नान्यः अतिप्रसङ्गात् ।"

--व्या०वि०पृ० 160

उनका कहना है कि काव्य के सामान्य एवं विशेष दोनों भेदों में वस्तुमात्र, अलंकार एवं रस में अनुमेयार्थ की दृष्टि से ऐसा कोई अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता है जो बुद्धिमान को चमत्कृत करे[2] । उनके अनुसार वस्तुमात्रादि रूप व्यङ्ग्य के प्रधान अथवा अप्रधान होने पर भी समान चमत्कार की अनुभूति होती है क्योंकि चमत्कार अनुमेयांश के संस्पर्श से उत्पन्न होता है, जो कि दोनों काव्यों में समान होने के कारण, दोनों काव्य समान रूप से चमत्कारजनक होते हैं ।

1- अनुमेयार्थसंस्पर्शमात्रं चान्वयव्यतिरेकाभ्यां काव्यस्य चारुत्वहेतुर्निश्चितम् । अतस्तदेव वक्तव्यं भवति न त्वस्य प्राधान्याप्राधान्यकृतो विशेषः ।

--व्या०वि०पृ० 160

2- न हि तयोः सामान्यविशेषयोरित्क्वचिप वस्तुमात्रादिष्वनुमेयेषु चेतन चमत्कारकारी कश्चिद्विशेषोऽवगम्यते ।

--व्या० वि०पृ० 161

" तदेवं प्रकारऽप्यनुमेयार्थसंस्पर्श एव काव्यस्य चारुत्वहेतुरित्यवगन्तव्यम् ।"

--व्या०वि०पृ० 167

महिमभट्ट के अनुसार ध्वनि नाम से पुकारा जाने वाला "व्यङ्ग्यार्थ" अनुमेय होता है । जो कि प्रधान एवं अप्रधान दोनों हो सकता है । वे सभी काव्यों में "अनुमेयांश का संस्पर्श" मानते हैं । अतः ध्वनि-काव्य के सम्पूर्ण लक्षण को अमान्य मानते हैं[1] । वे केवल एक काव्य भेद मानने के लिये तर्क देते हुए कहते हैं, कि ध्वनिकार के अनुसार जब गुणीभूतव्यङ्ग्य में भी प्रकर्षयुक्त चारुता विद्यमान है तो ध्वनि की सत्ता व्यर्थ है[2]। अर्थात् ध्वनिकाव्य, उत्तम-काव्य इसलिये कहा जाता है क्योंकि वह प्रकृष्ट चारुता-युक्त होता है परन्तु वह चारुता गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्यों में भी होती है अतः दोनों काव्य-भेद समान या एक ही होते हैं ।

दोनों काव्य-भेदों को एक ही भेद मानने के पक्ष में वे एक अन्य युक्ति प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यदि व्यङ्ग्यार्थ प्रधान रूप ध्वनि-काव्य इष्ट है तो व्यङ्ग्यार्थ अप्रधान गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य में भी रस रूप चारुत्व की स्पष्ट प्रतीति होने के कारण वह भी ध्वनि ही होगा अन्यथा रसात्मकता के अभाव में गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य में काव्यात्मकता सम्भव नहीं होगी[3] ।

1- तम्भावापेक्षया चास्य ध्वनेः स्वरूपमात्रप्रतिपादनार्थं . . . . . संज्ञातंज्ञिसम्बन्धव्युत्पत्तिमात्रकमेतद् पर्यवस्यतीति न काव्यविशेषव्युत्पत्ति-फलम् । न चायं प्रधानेतरभावेनोपनिबद्धस्तेषामनुमेयतां प्रतिबध्नाति ।

--व्या०वि०पृ० 168

2- यदि काव्ये गुणीभूतव्यङ्ग्येऽपीष्टैव चारुता -
प्रकर्षशालिनी, तर्हि व्यर्थं स्यादो ध्वनौ ।। --व्या०वि०पृ० 196।170

3- अपेक्ष्यते स तत्रापि रसादि व्यक्तयपेक्षया ।
काव्यमेवान्यथा न स्याद्रसात्मकमिदं यतः ।।--व्या०वि०।99।पृ०।70

इस प्रकार महिमभट्ट ध्वनि एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य दोनों मौलिक काव्य-भेदों को अमान्य ठहराते हुए यह मानते हैं कि "गम्यमानार्थ का ही संस्पर्श, जिसकी प्रतीति अनुमान से होती है, वाच्यार्थ की शोभा है, और यह जहाँ भी होता है सदैव प्रधान होता है अतः अनुमेयांश संस्पर्श युक्त काव्य के एक से अधिक भेद नहीं किये जा सकते हैं "--

"इत्यन्य गम्यमानार्थसंस्पर्शमात्रमलङ्कृतिः ।
वाच्यस्यैतदुक्तं स्यान्मता सैवानुमता ततः ।।

-- व्य०वि०।।००।पृ० ।7।

आचार्य मम्मट की दृष्टि में गुणीभूतव्यङ्ग्य -

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रबल समर्थक वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट ध्वनिकार की ही सरणि पर गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्वरूप निर्वचन करते हुए कहते हैं --

"अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्" ।

--का०प्र० 1/5पृ०

प्रस्तुत कारिका में प्रयुक्त " अतादृशि " पद का अर्थ है " वैसा न होने पर " अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ के वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चारुत्व-युक्त न होने पर मध्यम-काव्य होता है[1] ।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यह काव्य-भेद "किसकी अपेक्षा मध्यम" होता है ? जिसका उत्तर यह है कि "ध्वनि-काव्य" की तुलना में।

1- अतादृशि वाच्यादनतिशायिनि । --का०प्र०उ०पृ० 5।

मम्मट ध्वनि-काव्य को " उत्तम " काव्य-संज्ञा प्रदान करते हैं[1] जिसमें व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कार-युक्त होता है । मम्मट ने ध्वनिकार की ही सरणि पर " व्यङ्ग्यार्थ" को काव्य-भेदों का मूलाधार माना है । " उत्तम-काव्य में व्यङ्ग्यार्थ प्रधान " होता है, " मध्यम काव्य में व्यङ्ग्यार्थ वाच्योपस्कारक अतएव वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण होता है ।" व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ ही अधिक चमत्कारयुक्त होने के कारण सहृदयाह्लादन में समर्थ होता है । जैसे--

"ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम् ।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ।।"

--का०प्र०पृ० 3।

प्रस्तुत उदाहरण में वाच्यार्थ " मुख कान्ति का मलिन होना," व्यङ्ग्यार्थ " वञ्जुल लतागृह में संकेत देकर न पहुँचना, " की अपेक्षा अधिक चमत्कारयुक्त है[2] क्योंकि " मलिना मुखच्छाया " पद से नायिका का नायक के प्रति प्रगाढ़ प्रेम व्यञ्जित होता है । अतः उक्त व्यङ्ग्यार्थ से उपस्कृत वाच्यार्थ ही अधिक चमत्कार-युक्त है । प्रस्तुत पद्य के पर्यवसान में " विप्रलम्भाभास " आस्वादनीय है । "संकेत भंग रूप " व्यङ्ग्यार्थ, " मुखमालिन्य रूप " वाच्यार्थ के अनुप्राणन द्वारा रसोन्मुख होता है, स्वतन्त्र रूप से नहीं । अतः यहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ गौण है ।

1- इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथित : ।

--का०प्र०पृ० 28

2- अत्र वञ्जुललतागृहे दत्तसङ्केता नागतेति व्यङ्ग्यं गुणीभूतम्, तदपेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात् ।

-- का०प्र० पृ० 3।

आचार्य मम्मट पुनः काव्य-प्रकाश के पंचम उल्लास में गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य के आठ भेदों का उदाहरण-सहित स्वरूप निर्वचन करते हुए कहते हैं --

" अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ।।
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः ।"

--का०प्र०पं०उ०पृ० ।96

अर्थात् अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण सामान्यजन संवेद्य व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ के समान ही हो जाता है अतः व्यङ्ग्यार्थ अगूढ या स्फुट होने के कारण, अप्रधान होता है अतः इसे गुणीभूतव्यङ्ग्य कहते हैं । अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य वाच्यार्थीभूत अन्य किसी प्रधान अर्थ का अंग होने के कारण गौण हो जाता है । वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य, वाच्यार्थ की सिद्धि का आवश्यक अंग होता है, व्यङ्ग्यार्थ के अभाव में वाच्यार्थ की उपपन्नता असम्भव होती है । अपरस्याङ्ग में " वाच्यार्थ के निरपेक्ष " होने पर भी, व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ का अंग होता है परन्तु वाच्यसिद्ध्यङ्ग में वाच्यार्थ, " व्यङ्ग्यार्थ-सापेक्ष " होता है । अस्फुट व्यङ्ग्य चमत्कारपूर्ण होने पर भी अत्यन्त अस्पष्ट एवं गूढ होने के कारण सहृदयजनसंवेद्य नहीं होता है । अतः प्रधान नहीं होता है । संदिग्धप्राधान्य व्यङ्ग्य में साधक बाधक प्रमाण के अभाव में वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ का प्राधान्य संदेहास्पद रहता है । तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य में व्यङ्ग्यार्थ एवं वाच्यार्थ दोनों समान रूप से चमत्कारोत्पादन में समर्थ होते हैं अतः केवल व्यङ्ग्यार्थ ही प्रधान रूप से नहीं भासित होता है । काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य के अभाव में वाच्यार्थ अपर्यवसित रहता है तथा वाच्यार्थ के साथ ही साथ व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है अतः काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य वाच्योपस्कारक होता है । असुन्दर व्यङ्ग्य वाच्यार्थ की अपेक्षा

कम चारुत्वयुक्त अतएव अप्रधान होता है ।

इस प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्य के समस्त भेदों में व्यङ्ग्यार्थ वाच्योपस्कारक अतएव गौण होता है । वाच्यार्थ में ही चारुत्व का पर्यवसान होता है । भले ही वाच्यार्थ में चारुत्व व्यङ्ग्यार्थजनक ही क्यों न हो ? उपर्युक्त समस्त भेदों को शास्त्रीय रूप प्रदान करना मम्मट की अपनी उद्भावना है । यद्यपि ध्वनिकार ने गुणीभूतव्यङ्ग्य के विविध प्रकारों का उल्लेख किया है परन्तु उसके विभिन्न भेद नहीं किये गये हैं । मम्मट ने समस्त भेदों का स्वरूप निर्वचन, ध्वन्यालोक के आधार पर ही किया है एवं वाक्य में व्यङ्ग्यार्थ की स्थिति के अनुसार उनको विभिन्न नामों से विभूषित किया है । इस प्रकार आचार्य मम्मट के अनुसार गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य के निम्न आठ भेद होते हैं --

(क) अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य
(ख) अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य
(ग) वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य
(घ) अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य
(ङ) सन्दिग्धप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य
(च) तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य
(छ) काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य
(ज) असुन्दर गुणीभूतव्यङ्ग्य

आचार्य मम्मट ने गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रत्येक भेद को उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया है ।

(क) <u>अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य</u> -

आचार्य मम्मट के अनुसार अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य के तीन प्रकार हैं । जैसे -- लक्षणामूलाध्वनि के अत्यन्त अगूढ होने पर उसके दो प्रकार होते हैं --

॥अ॥ अर्थान्तर संक्रमितवाच्य अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य

॥ब॥ अत्यन्तातिरस्कृतवाच्य अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य एवं अभिधामूला-ध्वनि के अगूढ होने पर -

॥स॥ अभिधामूला अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य

॥अ॥ अर्थान्तर संक्रमितवाच्य अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य -

प्रस्तुत पद्य अर्थान्तर संक्रमितवाच्य अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है --

" यस्यासुहृत्कृततिरस्कृतिरेत्य तप्त -
सूचीव्यधव्यतिकरेण युनक्ति कर्णौ ।
काञ्चीगुणग्रथनभाजनमेव सोऽस्मि
जीवन्न सम्प्रति भवामि किमावहामि ।।"

--का0प्र0पं030पृ0 197

कीचक द्वारा किये गये पराभव को सुनकर प्रतिज्ञाबद्ध होने के कारण अत्यन्त विवश बृहन्नलारूपधारी अर्जुन की द्रौपदी के प्रति यह दुःखपूर्ण उक्ति है । प्रस्तुत पद्य में वाच्यार्थ " मैं इस समय जीवित होते हुए भी जीवित नहीं हूँ, क्या करूँ ?" बाधित हो जाता है एवं जीवित व्यक्ति में जीवनाभाव असम्भव है, अतः " जीवन् " पद लक्षणा से " श्लाघ्य जीवन रूप " अर्थान्तर में संक्रमित हो जाता है[1] । प्रस्तुत उक्ति से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि " अत्यधिक कष्ट एवं अनुताप के कारण जीवन निन्दित एवं तिरस्कारपूर्ण हो गया है ।" अतः " तिरस्कृत जीवन से मर जाना ही श्रेयस्कर है ।"

" जीवन्न " पद से व्यञ्जित अर्जुन का " अनुतापातिशय "

1- अत्र " जीवन् " इत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य ।

--का0प्र0पं030पृ0 197

रूप व्यङ्ग्य अत्यन्त स्फुट होने के कारण सामान्यजनसंवेध है । अतः व्यङ्ग्यार्थ के अत्यधिक स्पष्ट होने के कारण प्रस्तुत उदाहरण अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है![1] क्योंकि किञ्चिद्गूढ व्यङ्ग्यार्थ सहृदयमात्रसंवेध होने के कारण चमत्कारजन अतश्च प्रधान होता है ।

(ब) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य -

प्रस्तुत उदाहरण अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है --

"उन्निद्रकोकनदरेणुपिशङ्गिताङ्गा
गायन्ति मञ्जु मधुपा गृहदीर्घिकासु ।
एतच्चकास्ति च रवेर्नवबन्धुजीव-
पुष्पच्छदाभमुदयाचलचुम्बिबिम्बम् ।।"

-- का०प्र० पं०उ०पृ० 198

प्रस्तुत सम्पूर्ण पद्य में यह वर्णित किया गया है कि "भ्रमरों का गुञ्जार, विकसित पुष्पों की सुगन्ध तथा सूर्य का उदयाचलगमन रूप, जागरण की समस्त सामग्रियाँ सन्निहित होने पर भी, तन्द्राभंग नहीं हो रही हैं ।"

प्रस्तुत पद्य के उत्तरार्ध का वाच्यार्थ है कि "नवबन्धुजीवपुष्प के समान रक्तिम कान्तिमान् उदयगिरि का चुम्बन करने वाला सूर्य का

1- जीवतो जीवनाभावबोधने बाध इति लक्षणा (उपादान लक्षणा) तत्रा तदभावबोधने कष्टजीवित्वावगमः । अनुतापादेव जीवनं निन्दतीत्यनुतापातिशयो व्यङ्ग्यः । स च सर्वजनवेद्यत्वादगूढ एव ।

--का०प्र०सारबोधिनीटीका-
पं०उ०पृ० 192

यह बिम्ब सुशोभित हो रहा है ।" अचेतन रवि-बिम्ब में "चुम्बति" वाच्यार्थ अन्वित न होने के कारण सर्वथा बाधित हो जाता है एवं "सामान्य-विशेष भाव सम्बन्ध" से "लक्षणलक्षणा" द्वारा "सामान्य संयोग" मात्र अर्थ लक्षित होता है । यहाँ " चुम्बन" "मुख्यार्थ" अन्वित न होने के कारण " अत्यन्ततिरस्कृत " हो जाता है एवं " उदयाचलचुम्बन " द्वारा "प्रभातागमन" रूप अर्थ व्यञ्जित होता है[1] ।

इसी प्रकार पूर्वार्द्ध में वर्णित " प्रबुद्ध अर्थात् जागृत, मत्त भ्रमरों का समीपवर्ती बावड़ी में मधुर गुञ्जार" आदि से भी "प्रभातागमन" व्यञ्जित होता है । इस प्रकार यहाँ " प्रभातागमन " रूप व्यङ्ग्यार्थ अत्यन्त स्फुट होने के कारण " वाच्यतुल्य ही " हो गया है एवं अधिक चमत्कारजनक नहीं है । अतः व्यङ्ग्यार्थ के स्फुट होने के कारण प्रस्तुत पद्य अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

(ख) अर्थान्तरितमूलक अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य-

प्रस्तुत पद्य अभिधामूलकध्वनि के अर्थान्तरितमूलक भेद के अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है --

---

1-1- अत्र चुम्बनस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्व । --का0प्र0सं0उ0पृ0 198

1-2- अत्र चुम्बतेर्वक्त्रसंयोगो मुख्योऽर्थः । स चाचेतने रविबिम्बे तेन स्वेनान्वयाद्बाधित इति सामान्यविशेषभावसम्बन्धेन संयोगमात्रं लक्षयतोऽस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वम् व्यङ्ग्यश्चाकस्योदः- कालारम्भः स च वाच्यायमानतया, अगूढ इति गुणीभूतः ।

--का0प्र0, प्रदीपोद्योत टीका पृ0 192

"अत्रातीत् कपिपाशबन्धनविधिः शक्त्या भवद्देवरे
गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहृतः ।
दिव्यैरिन्द्रजिदत्र लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं प्रापितः
केनाप्यत्र मृगाक्षि ! राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठाटवी ।।"

--का०प्र०पं०उ०पृ० 198

प्रस्तुत पद्य में विमानमार्ग द्वारा अयोध्या को लौटते हुए राम, युद्धभूमि को देखकर तत्सम्बन्धी घटनाओं को सीता से कह रहे हैं ।

पद्य के अन्तिम चरण में राम की उक्ति है -- "यहाँ किसी के द्वारा राक्षसराज के कण्ठप्रदेश को काटा गया था ।" राम धीरोदात्त नायक होने के कारण अहंकाराभिव्यक्ति के भय से " मया " पद का प्रयोग न करके " केनापि " पद का प्रयोग करते हैं तथा यहाँ वर्णनीय " राम रूप नायक के उत्कर्ष " में ही कवि का तात्पर्य है, जो कि "केनापि" पद के प्रयोग के साथ ही शीघ्र ही प्रतीत हो जाता है ।

राम अत्यन्त शक्तिशाली रूप में प्रसिद्ध हैं, अतः "किम्" विशेषण का प्रयोग करने पर भी यह स्फुट रूप से व्यञ्जित होता है कि यहाँ अनिर्वचनीय गुण समूह वाले किसी अत्यन्त शक्तिशाली व्यक्ति के द्वारा अर्थात् "मेरे द्वारा" काटने पर पुनः उद्गत अतएव रावण के विशाल कण्ठवन को काटा गया है । अतः "केनापि" पद के पाठ के अनन्तर अत्यन्त शीघ्र व्यञ्जित अर्थशक्तिमूलक अनुरणनरूप संलक्ष्यक्रम " रामरूप " व्यङ्ग्य अत्यन्त स्पष्ट एवं सामान्यजनग्राह्य है[1] । अतएव व्यङ्ग्यार्थ के अत्यन्त स्फुट होने के कारण प्रस्तुत पद्य अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

1- अत्र "केनाप्यत्र" इत्यर्थशक्तिमूलानुरणनरूपस्य ।

--का०प्र०पं०उ०पृ० 193

॥ख॥ अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य -

मम्मट के अनुसार जहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाक्य के तात्पर्यरूप, किसी अन्य प्रधानीभूत वाक्यार्थ का अंग होता है, वहाँ अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक द्वितीय काव्य प्रकार होता है ।

अपरस्याङ्ग में कोई रस, भाव, भावाभास, रसाभास, भावशान्ति आदि किसी दूसरे प्रधानीभूत रस,भावादि का अंग होता है । आचार्य मम्मट के अनुसार अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य के अनेक प्रकार होते हैं --

॥अ॥ रस के अन्य किसी का अंग होने पर-रसवदलंकार

॥ब॥ भाव के अन्य किसी का अंग होने पर - प्रेयोऽलंकार

॥स॥ रसाभास एवं भावाभास के अन्य किसी का अंग होने पर - ऊर्जस्वि अलंकार

॥द॥ भावोदय, भावसन्धि, भावशान्ति एवं भाव शबलता के अन्य किसी का अंग होने पर - समाहित अलंकार

॥य॥ शब्दशक्तिमूलक अलंकार ध्वनि के अन्य किसी प्रधान वाक्यार्थ का अंग होने पर - अलंकारध्वनि की अपरस्याङ्गता

॥र॥ अर्थशक्तिमूलक वस्तुध्वनि के अन्य किसी प्रधान वाक्यार्थ का अंग होने पर- वस्तुध्वनि की अपरस्याङ्गता

इस प्रकार मम्मट ने प्रत्येक की अपराङ्गता को उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है ।

॥अ॥ रसवदलंकार -

अधोलिखित पद्य,एक रस के किसी दूसरे प्रधान रस का अंग होने पर अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है --

।1।   " अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।

नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ।।"

--का०प्र०पं०उ०पृ० 199

रणभूमि में विक्षिप्त भूरिश्रवा के हाथ को देखकर विलाप करती हुई उसकी पत्नी का प्रसंग होने के कारण, प्रस्तुत सन्दर्भ में शोक की तीव्रता के कारण "करुण रस" प्रधान रूप से आस्वादनीय है परन्तु भूरिश्रवा की पत्नी द्वारा उस हाथ की पूर्वानुभूत शृंगारोचित रशनाकर्षण आदि विविध विलासपूर्ण क्रियाओं के स्मरण द्वारा अभिव्यक्त शृंगार रस, शोक के वेग को तीव्रतर करने के कारण करुण रस का पोषक अतएव अंगभूत हो गया है[1] ।

प्रस्तुत उदाहरण में प्रियतम नाश के कारण करुण रस प्रधानीभूत है एवं शृंगार रस अप्रधान होकर करुण रस का चारुत्वहेतु है । अतः प्रस्तुत उदाहरण अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

।2।   अधोलिखित पद्य, शृंगार रस के, वाक्यार्थीभूत प्रधान "भक्ति-भाव" का अंग होने पर अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है--

"कैलासालयभाललोचनरुचा निर्वर्तितालक्तक-

व्यक्तिः पादनखद्युतिर्गिरिभुवः सा वः सदा त्रायताम् ।

स्पर्धाबन्धसमृद्धयेव सुदृढं रूढा यया नेत्रयोः

कान्तिः कोकनदानुकारसरसा सद्यः समुत्सार्यते ।।"

-का०प्र०पं०उ०पृ० 200

1.1- अत्र शृङ्गारः करुणस्य ।   --का०प्र०पं०उ०पृ० 199

1.2- अत्र करुणरस एव प्रधानम् शोकस्योल्बणतया करुणस्यैवास्वाद-गोचरत्वात् । शृङ्गाररसोऽङ्गम् । प्राग्वृत्तशृङ्गारोचित-रशनाकर्षणादिविलासस्मरणस्य शोकपोषकत्वात् ।

--का०प्र०प्रदीपोद्योत टीकापं०उ०पृ० 196

प्रस्तुत पद्य में भगवान् शंकर के प्रणाम करने के द्वारा पार्वती के मानापनोदन का वर्णन है । इस पद्य का वाक्यार्थ है " पार्वती के चरणों के नाखूनों की कान्ति तुम्हारी सदा रक्षा करे" यहाँ प्रयुक्त "त्रायताम्" पद से कवि की "पार्वती विषयक भक्तिरूप-भाव[1]" की अभिव्यक्ति होती है, जो प्रधान है । पार्वती के मानभंग के लिये भगवान् शंकर के व्यापारों द्वारा अभिव्यक्त सम्भोग श्रृंगार पूर्ण कार्यों का वर्णन, कविनिष्ठ प्रधानीभूत पार्वतीविषयक" भक्ति-भाव" का अंगमात्र है, प्रधान नहीं क्योंकि मान किये हुए पार्वती को प्रसन्न करने के लिये " शंकर के श्रृंगार पूर्ण व्यापारों" का वर्णन "भक्ति-भाव" का पोषक होकर अंगरूपता को धारण कर रहा है एवं "भक्ति-भाव" ही अधिक प्रकर्षयुक्त है ।

अतः यहाँ व्यङ्ग्य श्रृंगार रस के वाच्यरूप "भक्ति-भाव" का अंग होने के कारण अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।[2]

।ख। प्रेयोऽलंकार -

राजा भोज की स्तुति में लिखे गये अधोलिखितउदाहरण में कवि का "भूमिविषयक रतिरूप-भाव" राजा भोजविषयक दूसरे "रतिरूप-भाव" का अंग हो गया है -

"अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तथाम्भोधयः
तानेतानपि बिभ्रती किमपि न क्लान्ताऽसि तुभ्यं नमः
आश्चर्येण मुहुर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद् भुवः
तावद्बिभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिताः ।।"

--का0प्र0पं0उ0पृ0 201

1- रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः भावः प्रोक्तः ।

--का0प्र0च0उ0पृ0 140

2- अत्र भावस्य रसः । --का0प्र0पं0उ0पृ0 200

प्रस्तुत पद्य का मुख्य वाक्यार्थ है --

" मैं आश्चर्य से अभिभूत होकर इस पृथ्वी की स्तुति कर रहा था, तब तक इस पृथ्वी को धारण करने वाले राजा भोज की भुजा का स्मरण होने से पृथ्वीस्तुतिपरक मेरी वाणी कुण्ठित हो गई ।" "मुहुर्मुहुः स्तुतिं प्रस्तौमि" पद से कवि का "पृथिवीविषयक रतिरूप-भाव" व्यञ्जित होता है, जो कि " वाचः मुद्रिताः " पद से व्यक्त "राजविषयक रतिरूप-भाव" का उत्कर्षवर्धक होने के कारण गौण हो गया है, क्योंकि राजाभोज की स्तुति में कवि का तात्पर्य है, अतः राजविषयक "भाव" प्रधान है, परन्तु पृथिवीविषयक"रतिभाव" राजविषयक"रतिभाव" के उत्कर्ष के लिये आहार्य एवं पोषक है । अतएव उपकारकत्वात् पृथिवीविषयक " भाव " अंग एवं गुणीभूत हो गया है ।

पृथिवीविषयक "भाव" के राजविषयक "भाव" का अंग होने के कारण प्रस्तुत उदाहरण अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।[1]

।ख। ऊर्जस्वि अलंकार -

अधोलिखित पद्य में अनौचित्य से प्रवर्तित रस एवं भाव के कविनिष्ठ प्रधानीभूत- "राजविषयक रतिरूप भाव" का अंग होने पर अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है --

"बन्दीकृत्य नृपद्विषां मृगदृशस्ताः पश्यतां प्रेयसां
श्लिष्यन्ति प्रणमन्ति लान्ति परितश्चुम्बन्ति ते सैनिकाः ।
अस्माकं सुकृतैर्दृशोर्निपतितोऽस्यौचित्यवारान्निधे
विध्वस्ता विपदोऽखिलास्तदिति तैः प्रत्यर्थिभिः स्तूयसे।।"
--का०प्र०पं०उ०पृ० 20।

1- अत्र भूविषयो रत्याख्यो भावो राजविषयस्य रतिभावस्य ।
--का०प्र०पं०उ०पृ० 20।

प्रस्तुत पद्य के पूर्वार्द्ध में राजा के सैनिकों का अनुरक्त परस्त्रियों के प्रति प्रतीति रति वर्णन, अनौचित्येन प्रवृत्त होने के कारण शृंगार रस न होकर " शृङ्गाराभास" है । इसी प्रकार पद्य के उत्तरार्द्ध में शत्रु एवं बन्दी राजा की "प्रकृत राजविषयक स्तुति" को "रति-भाव" न कहकर "भावाभास" रूप में वर्णित किया गया है क्योंकि शत्रु द्वारा प्रकृत राजविषयकस्तुति "अनौचित्य " से प्रतीत होने के कारण "भावाभास" कही जायगी ।[1]

प्रस्तुत पद्य में कवि का तात्पर्य "प्रकृत राजविषयक स्तुति" में होने के कारण कविनिष्ठ राजविषयक "रतिरूप-भाव" प्रधानीभूत अतः अंगी है तथा पद्य में वर्णित " रसाभास एवं भावाभास" प्रकृत भाव के उत्कर्ष को प्रकट कर रहे हैं अतः "भाव" के उपस्कारक होने के कारण "रसाभाव एवं भावाभास" अप्रधान या अंगभूत है ।[2]

(द) समाहित अलंकार -

(1) अधोलिखित पद्य कविनिष्ठ राजविषयक स्तुति रूप वाच्यार्थ के प्रधान होने पर, "भावशान्ति" रूप व्यङ्ग्यार्थ के, "भाव" का अंग होने पर अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है -

" अविरलकरवालकम्पनैर्भ्रुकुटीतर्जनगर्जनैर्मुहुः ।
ददृशे तव वैरिणां मदः स गतः क्वापि तवेक्षणे क्षणात् ।।"

--का0प्र0पं0उ0पृ0 202

1- तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः ।। सू0 49
तदाभासा रसाभासा भावाभासाश्च । -- का0प्र0च0उ0पृ0 141

2- अत्र भावस्य रसाभासभावाभासौ प्रथमार्धद्वितीयार्धद्योत्यौ ।।
-- का0प्र0पं0उ0पृ0 201

प्रस्तुत उदाहरण में " तुम्हारे वैरियों का जो गर्व बार-बार दिखाई देता था, आपका दर्शन करते ही वह ।मद। न जाने कहाँ ।क्वापि। चला गया" वर्णन द्वारा, शत्रुओं के गर्वरूप "मद" नामक "भाव की शान्ति" का वर्णन किया गया है । यहाँ कवि की प्रधान विवक्षा "प्रकृत राजा की स्तुति" में होने के कारण कविनिष्ठ राजविषयक "रतिरूपभाव" प्रधान अतएव अंगी है । शत्रु के "गर्वभंग" का वर्णन राजस्तुति का पोषक अतएव अंग रूप में अवस्थित है । गर्वभंग द्वारा राजा का प्रकर्ष बढ़ रहा है, जो कि वाच्यार्थ है, "गर्वभंग व्यङ्ग्य रूप"है । इस प्रकार यह"भावशान्ति" के "भाव" का अंग होने पर अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।[1]

।2। अधोलिखित पद्य, व्यङ्ग्य "भावोदय" के, प्रधानीभूत "भाव" का अंग होने पर अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है --

"साकं कुरङ्गकदृशा मधुपानलीलां कर्तुं सुहृद्भिरपि वैरिणिते प्रवृत्ते अन्याभिधायि तव नाम विभो ! गृहीतं केनापि तत्र विषमामकरोदवस्थाम् ।।" -- का0प्र0चं0उ0पृ0 202

प्रस्तुत उदाहरण के किसी कवि की राजस्तुतिपरक उक्ति होने के कारण, कविनिष्ठ प्रकृतराजविषयक"रति-भाव" अंगी अतः प्रधान है । पद्य में " अन्य अर्थ का वाचक तुम्हारा नाम लेने से वहाँ ।शत्रु गोष्ठी में। कम्पादियुक्त बड़ी विषम अवस्था हो गई" रूप उत्तरार्द्ध के वर्णन से, विषमावस्था द्वारा "त्रास रूप व्यभिचारी-भाव का उदय" व्यङ्ग्य है, जो कि वाच्यरूप कविनिष्ठ रतिरूप-भाव का उपस्कारक होने के कारण गुणीभूत हो गया है ।[2]

1- अत्र भावस्य भावप्रशमः । -- का0प्र0चं0उ0पृ0 202

2- अत्र त्रासोदयः । -- का0प्र0चं0उ0पृ0 202

।3। अधोलिखित पद्य, व्यङ्ग्य "भावसन्धि" के, प्रधानीभूत कविनिष्ठ शिवभक्ति रूप "भाव" का अंग होने पर अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है --

"असोढा तत्कालोल्लसदसहभावस्य तपसः
कथानां विश्रम्भेऽथ च रसिकः शैलदुहितुः ।
प्रमोदं वो दिश्यात्कपटबटुवेषापनयने
त्वराशैथिल्याभ्यां युगपदभियुक्तः स्मरहरः ।।"

--का०प्र०वं०उ०पृ० 203

प्रस्तुत पद्य में शिवप्राप्ति के लिये तपस्यारत पार्वती की परीक्षा लेने के लिये, समीप जाते हुए बटुवेषधारी महादेव की स्तुति की गई है । प्रस्तुत पद्य में "स्मरहरः प्रमोदं वो दिश्यात्" वर्णन से कविनिष्ठ शिवभक्ति रूप "भाव" का प्राधान्य व्यक्त है । यहाँ शिव के " त्वरा " एवं "शैथिल्य" भावसन्धि का वर्णन है, जिससे "आवेग" एवं "धैर्य" दो व्यभिचारीभाव व्यक्त होते है । दोनों व्यभिचारिभावों की सन्धि, "शिव माहात्म्य" की वृद्धि कर रहे हैं । अतः यहाँ दो व्यभिचारी भावों की सन्धि, अंगी रूप "भक्ति-भाव" का अंग है अतएव भावसन्धि के अंग होने पर प्रस्तुत पद्य अपराङ्गव्यङ्ग्य रूप गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।[1]

।4। पूर्ववर्ती भावों के उपमर्दन द्वारा उत्तरवर्ती बहुत से भावों का उदय रूप " भावशबलता" के, अंगी कविनिष्ठ राजविषयक " रति-भाव"का अंग होने पर अधोलिखित पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है --

---

1- अत्रावेग धैर्ययोः सन्धिः ।

-- का०प्र०वं०उ०पृ० 203

"पश्येत्क श्चिच्चल चपल रे का त्वराऽहं कुमारी
हस्तालम्बं वितर हह हा व्युत्क्रमः क्वासि यासि ।
इत्थं पृथ्वीपरिवृढ । भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्तेः
कन्या कञ्चित्फलकिसलयान्याददानाऽभिधत्ते ।।"

-- का०प्र०पं०उ०पृ० 203

प्रस्तुत पद्य में राजा के भय के कारणवनवासी अनुरक्त शत्रुकन्या की किसी कामुक के प्रति उक्ति है -- पश्येत्कश्चिच्च चपल रे का त्वराऽहं कुमारी हस्तालम्बं वितर हह हा" इत्यादि वर्णन द्वारा पूर्ववर्ती शंका, असूया, धृति, स्मृति, श्रम, दैन्य, विबोध, औत्सुक्य इत्यादि पूर्ववर्ती भावों को दबाकर उत्तरोत्तर भावों का उदय दिखाया गया है । ये सभी भाव राजविषयक रतिरूप "भाव" के उपस्कारक हैं ।

यहाँ राजा के पराक्रम के कारण शत्रु के वनगमन द्वारा, प्रकृत राजा के पराक्रमाभिव्यक्ति में कवि का तात्पर्य है । अतः राजविषयक रतिरूप "भाव" अंगी है, राजविषयक रति को उद्दीप्त करती हुई "भाव-शबलता" के गुणीभूत होने के कारण प्रस्तुत पद्य अपराङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्यता का स्थल है ।[1]

॥घ॥ अलंकारध्वनि की अपरस्याङ्गता -

अधोलिखित पद्य, शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ॥उपमा॥ के वाच्योपस्कारक होने के कारण, अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्यता का उदाहरण है --

---

1- अत्र शंकाऽसूयाधृतिस्मृतिश्रमदैन्यविबोधौत्सुक्यानां शबलता ।

--का०प्र०पं०उ०पृ० 204

"जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्धितधिया
वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदश्रु प्रलपितम् ।
कृतालङ्काभर्तुर्वदनपरिपाटीषु घटना
मयाऽऽप्तं रामत्वं कुशलवसुता न त्वधिगता ।।"

--का0प्र0अ0उ0पृ0 206

राज-सेवा से विरक्त किसी कवि की प्रस्तुत उक्ति है । यहाँ शब्दशक्ति की महिमा से तीन विशेषणों द्वारा " प्रकृत कवि " एवं " अप्रकृत राम " का " उपमानोपमेय भाव " उपमा द्वारा व्यञ्जित हो रहा है । प्रस्तुत पद्य में श्लेषमुख से कवि "अपना" राम के साथ "साम्य" व्यञ्जना द्वारा बोधित करते हुए कहता है --

कवि पक्ष- ।कनकमृगतृष्णा। धन सम्पत्ति की मृगतृष्णा से युक्त, विवेक रहित बुद्धि वाले मैंने, ।कवि ने।, ।जनस्थाने। मानव के स्थान नगर ग्रामादि में भ्रमण किया, ।वैदेहि इति = वैदेहीति। "निश्चय ही कुछ दे दो;" इस प्रकार पग-पग पर आँसू बहाते हुए व्यर्थ में यह वचन बोले । ।कृतालङ्काभर्तुः = कृताअलंकाभर्तुः। धूर्त स्वामियों के सेवाकार्य में ।घटना। पर्याप्त रूप से काम किया गया । इस प्रकार मैंने । राम सदृश कार्य करते हुए ।, ।रामत्व। रामसदृशत्व प्राप्त कर लिया परन्तु ।कुशलवसुता, कुशलं वसुः यस्य सः तद्भावः। सुखकर धन सम्पत्ति नहीं प्राप्ति की ।

राम पक्ष - ।कनकमृगतृष्णा। स्वर्ण मृग प्राप्ति की इच्छा से विवेक रहित बुद्धि वाले, मैंने । राम ने ।, ।जनस्थान। दण्डकारण्य में भ्रमण किया, ।वैदेहीति। हे सीते । इस प्रकार पग-पग पर आँसू बहाते हुए व्यर्थ में वचन बोले । कृता लङ्काभर्तुः वदनपरिपटीषु । रावण की मुख पंक्ति पर । घटना । शर-योजना पर्याप्त रूप से की, इस प्रकार मैंने "रामत्व" ।राम पद।

प्राप्त कर लिया है परन्तु (कुशलवौ सुतौ यस्याः सा) कुशलव जननी जानकी नहीं प्राप्त की गई ।

प्रस्तुत पद्य में " उपमा " अन्यत्र भेद होते हुए भी अभेदरूपातिशयोक्ति ही उत्कर्षकारक रूप में व्यङ्ग्य है । व्यङ्ग्य सादृश्य चमत्कारोत्पादक है परन्तु अन्तिम चरण में व्यङ्ग्य "उपमानोपमेय-भाव" को " मयाऽऽप्तं रामत्वं " रूप वाच्यार्थ के उपकारक रूप में प्रयुक्त किया गया है क्योंकि यहाँ व्यङ्ग्य, "मयाऽऽप्तं रामत्वं" के द्वारा उक्त हो कर वाच्य की अपेक्षा अप्रधान अतएव अंगभूत हो गया है[1] ।

यहाँ "जनस्थानादि" पद "परिवृत्त्यसह" है अतएव यहाँ इसे शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहा गया है । व्यङ्ग्य उपमा के वाच्याङ्गभूत होने के कारण स्पष्ट रूप से प्रस्तुत स्थल अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का है ।[2]

(२) वस्तुध्वनि की अपरस्याङ्गता-

अधोलिखित पद्य, अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य वस्तुध्वनि की अपरस्याङ्गता का उदाहरण है --

---

1- अत्र प्रकृताप्रकृतयोः कवयितृरामयोः साम्यं व्यञ्जनया बोध्यते । उपमानोपमेयभावः साम्यम् । वाच्यस्य मयाप्तं रामत्वमित्यस्य, अन्यत्रान्यतादात्म्यारोपरूपातिशयोक्तिरूपस्य अङ्गताम् उत्कर्षतां नीतः ।

--का०प्र०, सारबोधिनी टीका पं०उ०पृ०203

2- अत्र शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपो रामेण सहोपमानोपमेयभावो वाच्याङ्गतां नीतः ।

--का०प्र० पं०उ०पृ० 209

"आगत्य सम्प्रति वियोगविसंष्ठुलाङ्गी-
मम्भोजिनीं क्वचिदपि क्षपितत्रियामः ।
एनां प्रसादयति पश्य शनैः प्रभाते
तन्वङ्गि ! पादपतनेन सहस्त्ररश्मिः ।।"

--का०प्र०पं०उ०पृ० 207

यहाँ बिना अनुनय के ही मानरहित मुग्धा नायिका के प्रति सखी की उपालम्भनापूर्ण उक्ति है, कि " तुम बहुत समय से दूसरी नायिका पर आसक्त, धूर्त नायक के प्रति भी बिना अनुनय के ही मान को त्याग कर प्रसन्न हो गई हो"। यहाँ नायक-नायिका का वृत्तान्त व्यङ्ग्य है, जो कि वाच्यभूत रविकमलिनी वृत्तान्त से व्यञ्जित होता है । यहाँ रविकमलिनीपरक वाच्यार्थ है --

" हे तन्वङ्गी कहीं और (द्वीपान्तर में) रात बिताकर आने वाला यह सहस्त्ररश्मि सूर्य, अब प्रातः काल में आकर वियोग से संकुचित कमलपत्र रूपी देहवाली इस कमलिनी को पाद-पतन (सूर्य किरणों के संस्पर्श) के द्वारा प्रसन्न (विकसित) कर रहा है ।"

प्रस्तुत पद्य में अर्थशक्ति की महिमा से"सहस्त्ररश्मिः,"
"पादपतनेन," "क्वचिदपि" शब्दों द्वारा व्यञ्जित व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा प्रस्तुत वृत्तान्त से अभिन्न नायक-नायिका का वृत्तान्त व्यञ्जित होता है ।

नायक-नायिकापरक व्यङ्ग्यार्थ इस प्रकार है --

" हे तन्वङ्गी ! कहीं और (दूसरी प्रेयसी के घर) रात बिताकर आने वाला यह सहस्त्ररश्मि (बहुनायिका युक्त नायक) अब प्रातः काल आकर वियोग से संकुचित देह वाली, इस नायिका को पादपतन (चरण पतन) द्वारा प्रसन्न कर रहा है ।

उपर्युक्त पद्य में रवि-कमलिनी वृत्तान्त का वर्णन वाच्यार्थ है एवं नायक-नायिका वृत्तान्त व्यङ्ग्यार्थ है। यहाँ विशेष्य (शहस्त्ररश्मिः) के श्लिष्ट न होने के कारण नायक-नायिकापरक अप्रस्तुत रूप व्यङ्ग्यार्थ अपर्यवसित है एवं वाच्यार्थ रूप रविकमलिनी वृत्तान्त पर्यवसित अर्थात् स्वात्मविश्रान्त है। अतः व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ पर आरोपित होकर, उसी में उत्कर्ष का आधान करते हुए अंगभूत अतएव गौण हो गया है।

यहाँ वाच्यार्थ रूप रवि-कमलिनी का वृत्तान्त, निरपेक्ष रूप से, (व्यङ्ग्य-नायक-नायिकावृत्तान्त की अपेक्षा के बिना भी) निष्पन्न होने में समर्थ है, उसे अपनी सिद्धि के लिए किसी की अपेक्षा नहीं है, फिर भी व्यङ्ग्यार्थ उसका शोभावर्धक होकर अंगभूत हो गया है। अतः नायक-नायिकावृत्तान्त रूप अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य वस्तुध्वनि के, निरपेक्ष वाच्यार्थ रविकमलिनी के व्यवहार पर उत्कर्षाधायक रूप में आरोपित होने के कारण, प्रस्तुत उदाहरण अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।[1]

(ग) वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य -

आचार्य मम्मट के अनुसार वाच्यार्थ की सिद्धि व्यङ्ग्यार्थ के अधीन होने पर "वाच्यसिद्ध्यङ्ग" गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्यभेद होता है। वाच्यसिद्ध्यङ्ग में वाच्य सापेक्ष होता है एवं इस अपेक्षित वाच्यार्थ की सिद्धि करते हुए, व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ का अंग बनता है[2] अतः उसकी

1- अत्र नायकवृत्तान्तोऽर्थशक्तिमूलो वस्तुरूपो निरपेक्षरविकमलिनी-वृत्तान्तव्यवहारारोपेणैव स्थितः। --का०प्र०बा०उ०पृ० 207

2- यत्र पुनर्व्यङ्ग्यं विना वाच्यमेवात्मानं न लभते तत्र वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वमिति।

--का०प्र०प्रदीपोद्योतटीका-पं०उ०पृ० 205

गुणीभूतव्यङ्ग्यता होती है । मम्मट ने वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य दो प्रकार का माना है --

ǁअǁ जिसमें वाच्य एवं व्यङ्ग्य दोनों का वक्ता एक ही व्यक्ति हो- एकवक्तृगत वाच्यसिद्ध्यङ्ग ।

ǁबǁ जिसमें वाच्य एवं व्यङ्ग्य के वक्ता भिन्न-भिन्न व्यक्ति हो- भिन्नवक्तृगत वाच्यसिद्ध्यङ्ग

ǁअǁ एकवक्तृगत वाच्यसिद्ध्यङ्ग -

प्रस्तुत पद्य एकवक्तृगत वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है -

"भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्छां तमः शरीरसादम् ।
मरणञ्च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ।।"

--का0प्र0पं0उ0पृ0 208

प्रस्तुत उदाहरण में वियोगिनियों को संतप्त करने वाली वर्षा ऋतु का उद्दीपक के रूप में वर्णन किया गया है । यहाँ " जलदभुजगजं " में रूपक अलंकार द्वारा "मेघों पर सर्प" का आरोप किया गया है जिसके फलस्वरूप "विष" पद से व्यञ्जित "हालाहलरूप व्यङ्ग्य" वाच्योपस्कारक तथा वाच्यसिद्धि का आवश्यक अंग है । अनेकार्थक "विष" पद के "जल"," हालाहल विष" आदि अनेक अर्थ सम्भव होते है परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में "विष" पद के "जल" अर्थ में, अभिधा नियन्त्रित हो जाती है अतः " हालाहल "विष" अर्थ व्यङ्ग्य है ।

प्रस्तुत प्रकरण में मेघ पर सर्प का आरोप किया गया है अतः इस वाच्यभूत रूपक की सिद्धि तभी सम्भव है जब "विष" पद से, "हालाहल से अभिन्न जल" रूप अर्थ ग्रहण किया जाय । व्यङ्ग्य, रूप

हालाहल अर्थ की वाच्योपस्कारकता के अभाव में "प्रमिमरतिमलसहृदयता" इत्यादि क्रियायें उपपन्न नहीं हो सकती है ।[1] अतः यहाँ वाच्यार्थ व्यङ्ग्य-सापेक्ष है, व्यङ्ग्यार्थ की उपस्कारकता के द्वारा ही वाच्यार्थ की सिद्धि होती है । व्यङ्ग्यार्थ के, वाच्य की सिद्धि का अंग होने के कारण प्रस्तुत उदाहरण वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।[2]

(ब) भिन्नवस्तुगत वाच्यसिद्ध्यङ्ग -

प्रस्तुत पद्य भिन्नवस्तुगत वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है --

> "गच्छाम्यच्युत ! दर्शनेन भवतः किं तृप्तिरुत्पद्यते
> किन्त्वेवं विजनस्थयोर्हतजनः सम्भावयत्यन्यथा ।
> इत्यामन्त्रणभङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसा-
> माश्लिष्यन्पुलकोत्कराञ्चिततनुर्गोपीं हरिः पातु वः ।।"
>
> --का०प्र०पं०उ०पृ० 208

प्रस्तुत उदाहरण में संभोगेच्छा से कृष्ण के समीप आयी हुई परन्तु कृष्ण के धैर्यच्युत न होने पर व्यर्थ बैठने के खेद से अलसायी हुई किसी गोपी की कृष्ण के प्रति भङ्गिमापूर्ण उक्ति है -- "हे अच्युत! क्या आपके दर्शनमात्र से ही तृप्ति हो सकती है ?" किन्तु इस प्रकार

1- "अत्र हालाहलशब्दो विषशब्दार्थो व्यङ्ग्यः । कलेऽभिधानियमनात् । स च जगद्भुवनेति स्वपदस्य वाच्यस्य सिद्धिं करोति ।
--का०प्र० प्रदीपटीका पं०उ०पृ० 206

2- अत्र हालाहलं व्यङ्ग्यं भुजगरूपस्य वाच्यस्य सिद्धिकृत् ।
--का०प्र०पं०उ०पृ० 208

एकान्त स्थान में स्थित हम दोनों को देखकर दुर्जन कुछ अन्य प्रकार की संभावना करेंगे ।"

भङ्गिमापूर्ण प्रस्तुत उक्ति से वाच्यार्थ के अतिरिक्त एक अन्य व्यङ्ग्यार्थ भी व्यञ्जित होता है ।

(1) प्रस्तुत उदाहरण में "अच्युत" पद का वाच्यार्थ है "कृष्ण" परन्तु इससे " मुझ नायिका के सान्निध्य-युक्त एकान्त स्थान में भी तुम धैर्यच्युत नहीं होते हो क्योंकि अस्खलित धैर्य वाले होकर संभोग के लिये प्रयत्न नहीं करते हो ।" रूप व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है ।

(2) "दर्शनेन किं" पद से व्यञ्जित अर्थ है - " आपके दर्शनमात्र से तृप्ति नहीं हो सकती है परन्तु सम्भोग से ही तृप्ति सम्भव है ।"

(3) "किन्त्वेवं" पद से व्यञ्जित अर्थ है - "सम्भोग होने पर दुर्जनों के द्वारा कुछ भी विचार करना पीड़ित नहीं करता है परन्तु एकान्त में आपके समीप मुझको देखकर दुर्जन व्यक्ति सम्भोग आदि की कल्पना करेंगे, जो कि मुझे अप्राप्य है, अब व्यर्थ में ही अकीर्ति प्राप्त हो तो आत्म-वञ्चना व्यर्थ है ।"

उत्तरार्ध का वाच्यार्थ है"इस प्रकार के आमन्त्रण रूप सम्बोधन की भङ्गिमा । विशेष अभिप्रायाभिव्यक्ति पूर्ण उक्ति। के द्वारा दूषित, व्यर्थ बैठने के खेद से अलसायी हुई गोपी का आलिङ्गन कर रोमाञ्चित शरीर वाले कृष्ण तुम्हारी रक्षा करें ।"

यह वाच्यार्थ तब तक पूर्ण रूप से पर्यवसित नहीं होता है जब तक-(1) "अच्युत" पद का व्यङ्ग्यार्थ " धैर्यच्युत होकर तृप्त न करने वाले" (2) "दर्शनेन भवतः किं तृप्तिकारयते" पदों का व्यङ्ग्यार्थ "सम्भोग से ही तृप्ति हो सकती है" तथा (3) "किं त्वेवं विजनस्थयोर्हतजनः

संभाव्यत्यन्यथा ।" का व्यङ्ग्यार्थ "दोनों को अकीर्ति ही मिलेगी इसलिये व्यर्थ ही हम दोनों अपने को वंचित कर रहे हैं।" व्यञ्जित नहीं होते हैं अर्थात् यहाँ उत्तरार्द्ध का वाच्यार्थ, पूर्वार्द्ध से व्यञ्जित व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा करता है, व्यङ्ग्यार्थ के अभाव में वाच्यार्थ की सिद्धि असम्भव है। अत: वाच्यार्थ की सिद्धि के लिये, व्यङ्ग्यार्थ अपेक्षित होकर वाच्य का अङ्गभूत हो जाने के कारण, प्रस्तुत उदाहरण वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

यह उदाहरण भिन्न वक्तृगत वाच्य सिद्ध्यङ्ग है क्योंकि व्यञ्जक "अच्युत" पद की वक्त्री गोपी है तथा यह व्यञ्जक पद जिस तृतीय पदोक्त वाच्यार्थ की सिद्धि का अंग है उसका वक्ता कवि है। वाचक एवं व्यञ्जकपद के वक्ता भिन्न-भिन्न होने के कारण, प्रस्तुत उदाहरण भिन्न-वक्तृगत वाच्य सिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।[1]

(घ) <u>अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य</u> -

मम्मट के अनुसार जहाँ सहृदयजनों को भी सरलता पूर्वक व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति नहीं होती है वह व्यङ्ग्य अत्यन्त गूढ़ होने के कारण चमत्कारजनक नहीं होता है। अत: अस्फुट या गूढ़ व्यङ्ग्य गुणीभूतव्यङ्ग्य माना जाता है।

" अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरुता।
नादृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम् ।।"

-- का०प्र० उ० पृ० 209

प्रस्तुत उदाहरण का व्यङ्ग्यार्थ - " उत्कण्ठा एवं वियोगभय दोनों दूर करने योग्य हैं" अत्यन्त गूढ़ या अस्पष्ट होने के कारण सहृदयों के द्वारा भी सहज रूप से प्रतीतिगम्य नहीं है। अत: व्यङ्ग्यार्थ विद्यमान

1- अत्राच्युतादिपदव्यङ्ग्यमामन्त्रणेयपदाभिवाच्यस्य। - का०प्र० उ०पृ० 20

होते हुए भी चमत्कारजनक नहीं है वरन् उसकी अपेक्षा वाच्यार्थ ही अधिक चमत्कार युक्त है । अतः प्रस्तुत उदाहरण अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।[1]

(8) सन्दिग्धप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य -

मम्मट के अनुसार "जहाँ साधक-बाधक प्रमाणों के अभाव में वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता सन्दिग्ध हो" उसे सन्दिग्धप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य कहते हैं । जैसे --

"हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ।।"
-- का० प्र० पं० उ० पृ० 209

प्रस्तुत पद्य कुमारसम्भव के तृतीय सर्ग से उद्धृत है, जिसमें वसन्त की प्राप्ति होने पर पार्वती को देखकर, शंकर की शृङ्गारिक चेष्टाओं का वर्णन किया गया है ।

प्रस्तुत पद्य में प्रयुक्त " विलोचनानि" पद में बहुवचन के प्रयोग से यह वाच्यार्थ निकलता है कि "तीनों नेत्रों से सौन्दर्यातिशय के कारण देखा", इसके अनन्तर " चुम्बन करने की इच्छा से देखा" रूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है ।

यहाँ वाच्य एवं व्यङ्ग्य दोनों को समान रूप से कहने में कवि की विवक्षा नहीं है, अतः दोनों का समप्राधान्य नहीं है । किसी एक को प्रधान रूप से कहने में ही कवि की विवक्षा है । "तीनों नेत्रों से देखा" इस कथन से यह निश्चय नहीं हो पाता है " सौन्दर्यातिशय" के कारण देखा अथवा "चुम्बनेच्छा" से देखा । पहले वाच्य की प्रतीति होती है, इसके अनन्तर व्यङ्ग्य की । वाच्य एवं व्यङ्ग्य की समकालिक प्रतीति न होने के कारण साधक-बाधक प्रमाणों के अभाव में किसी एक का प्राधान्य निश्चित न होने

1- "अत्राकूतो यथा न भवति विलोकनं च यथानोपपद्यते तथा कुर्या" इति विवक्षया । -- का० प्र० पं० उ० पृ० 209

के कारण, प्रस्तुत पद्य "सन्दिग्धप्राधान्य" गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।[1]

(घ) तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य -

मम्मट के अनुसार जहाँ चमत्कारोत्पादन में व्यङ्ग्यार्थ एवं वाच्यार्थ का तुल्य-सामर्थ्य होता है, साथ ही वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ की "समकालिक प्रतीति" होने के कारण, दोनों का समप्राधान्य होता है, वहाँ तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य होता है जैसे --

" ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।
जामदग्न्यस्तथा मित्रमन्यथा दुर्मनायते ।।"

--का०प्र०पं०उ०पृ० 210

प्रस्तुत पद्य रावण को लक्ष्य करके, रावण के मंत्री माल्यवान् के पास परशुराम के द्वारा भेजा गया संदेश रूप पत्र है, जिसमें परशुराम रावण को, ब्राह्मणों को तिरस्कृत करने के स्वभाव का परित्याग करने का उपदेश देते हैं ।

प्रस्तुत पद्य में "परशुराम क्षत्रिय-कुल के विनाश के समान, राक्षसों का भी विनाश कर देंगे'। यह "दण्ड प्रतीति" रूप व्यङ्ग्य है तथा "कल्याण का उपदेश एवं मित्रता का कथन रूप " सामोपायात्मक-वर्णन वाच्यार्थ है ।

"दुर्मनायते" इस गम्भीरोक्ति के कारण वाच्य भी चमत्कार-जनक है एवं परशुराम से"वैर की अपेक्षा मित्रता द्वारा अनर्थ निवारण" रूप विवक्षित व्यङ्ग्यार्थ भी समान रूप से प्रधान है क्योंकि वक्ता के तात्पर्य

1- अत्र परिचुम्बितुमैच्छदिति किं प्रतीयमानं किं वा विलोचनव्यापारणं वाच्यं प्रधानमिति संदेहः । --का०प्र०पं०उ०पृ० 210

की विवक्षा व्यङ्ग्य एवं वाच्य में समान रूप से है ।[1]

अतः चमत्कारोत्पादन में व्यङ्ग्य एवं वाच्य का समान रूप से प्राधान्य होने के कारण प्रस्तुत उदाहरण तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।[2]

(छ) काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य -

आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ "काकु नामक ध्वनिविकार" से आक्षिप्त व्यङ्ग्यार्थ के अभाव में वाच्यार्थ का स्वरूप ही निष्पन्न नहीं होता है एवं वाच्यार्थ बाधित-सा प्रतीत होता है, वहाँ काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य वाच्य के साथ ही प्रतीत होकर वाच्यार्थ के बाध को दूर कर देता है, अतः यहाँ व्यङ्ग्य वाच्योपस्कारक होने के कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य कहलाता है । जैसे --

" मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
स चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ।।"

--का०प्र०पं०उ०पृ० 210

1- "दुर्मनायते" इति गम्भीरोक्त्या वाच्यस्यापि चमत्कारित्वात् । ...... व्यङ्ग्यस्य दण्डरूपस्य । वाच्यस्य भृत्यमुखदोषरूपस्य मित्रत्वाभिधानरूपस्य च साम्य इत्यर्थः।समं प्राधान्यमिति । विग्रहवत् सौहार्दस्यापि निवारकत्वेन विवक्षितत्वादिति भावः --का०प्र०बालबोधिनीटीका पं०उ०पृ० 210

2- अत्र जामदग्न्यः सर्वेषां क्षत्रियाणामिव रक्षसां क्षणात् क्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यस्य वाच्यस्य च समं प्राधान्यम् ।

-- का०प्र०पं०उ०पृ० 210

प्रस्तुत उदाहरण में कुरुकुल के संहार के लिये प्रतिज्ञाबद्ध, क्रुद्ध, भीमसेन की सहदेव के प्रति उक्ति है, जो युधिष्ठिर की सन्धि-नीति की बात सुनकर " मैं क्रोध से युद्ध-भूमि में सैकड़ों कौरवों का विनाश नहीं करूँगा ।" आदि निषेधार्थक वचन कहता है ।

यहाँ भीम " मैं अवश्य ही कौरवों का विनाश करूँगा" रूप विशेष-भाव की अभिव्यक्ति के लिये "काकु" द्वारा " मथ्नामि " पद को उच्चरित करता है ।

यद्यपि यह भीमसेन की अत्यन्त क्रोधपूर्ण उक्ति है । अतःकाकु द्वारा व्यञ्जित व्यङ्ग्यार्थ के बिना, वाच्यार्थ बाधित-सा प्रतीत होता है एवं "न मथ्नामि" इस कथन के अनन्तर अविलम्ब रूप से " मैं अवश्य ही कौरवों का नाश करूँगा" रूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है । इस व्यङ्ग्यार्थ से उपस्कृत होकर ही वाच्यार्थ चमत्कारजनक होता है एवं वाच्यार्थ-बाध, व्यङ्ग्य प्रतीति के साथ ही दूर होता है ।

इस प्रकार यहाँ ~~व्यङ्ग्यार्थ~~ " मथननिषेध-रूप" व्यङ्ग्यार्थ, वाच्यार्थ के साथ ही प्रतीति होकर, वाच्यार्थ बाध को दूर करता हुआ उसे उपपन्न बनाता है । अतः व्यङ्ग्य के, वाच्योपस्कारक होने के कारण प्रस्तुत उदाहरण गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।[1]

यद्यपि काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य के अभाव में वाच्य पर्यवसित नहीं हो सकता है फिर भी काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य, वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य से भिन्न रहता है । क्योंकि वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य "पदार्थ" की सिद्धि कराता है किन्तु काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य" पूर्वसिद्ध वाच्यार्थ में होने वाले बाध को दूर करता है, जिसकी वाच्यार्थ के साथ

1- अत्र मथ्नाम्येवेत्यादि व्यङ्ग्यं वाच्यनिषेधसहभावेन स्थितम् ।

--का०प्र०पं०उ०सू० 210

ही अविलम्बेन प्रतीति होती है ।"

।ब। असुन्दर गुणीभूतव्यङ्ग्य -

मम्मट के अनुसार जहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा कम चमत्कारपूर्ण होता है एवं वाच्यार्थ में ही वास्तव का पर्यवसान होता है, उसे असुन्दर गुणीभूतव्यङ्ग्य कहते हैं । जैसे --

"वाणीरकुडंगुड्डीणसउणिकोलाहलं सुणन्तीए ।
घरकम्मवावडाए बहुए सीअन्ति अंगाइं ।।"

।वानीरकुञ्जोड्डीन-शकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्याः ।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि ।। इति संस्कृतम् ।

--का०प्र०पं०उ०पृ० 211

प्रस्तुत पद्य में "गृह समीपवर्ती वेतस-लताकुञ्ज में मिलन का संकेत दी हुई वधू की व्याकुलता रूप अवस्था" का वर्णन किया गया है, जिसने कुंज के पक्षियों के उड़ने से उत्पन्न कोलाहल द्वारा " नायक-प्रवेश" का अनुमान कर लिया है, परन्तु गुरुजनों के सामीप्य की पराधीनता एवं गृहकार्यों में संलग्न होने के कारण वह जाने में असमर्थ है ।

प्रस्तुत उदाहरण में वाच्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण है क्योंकि "अङ्गानि सीदन्ति" अर्थात् अंग शिथिल हो रहे हैं । इस वाच्य के श्रवणानन्तर " उत्कंठातिशय" की प्रतीति होती है एवं इसी में चमत्कार का पर्यवसान होता है ।[1] इस वाच्यार्थ की अपेक्षा " दत्तसंकेत नायक लता-गृह

1- तस्माद्वाच्यं चमत्कारि । शब्दश्रवणसमकालमेव सर्वाङ्गावसादसंतन्यमानतात्पर्य तत्परतिसन्धानाद् उत्कण्ठातिशयपर्यवसन्नत्वात् ।

--का०प्र०प्रदीपटीका पं०उ०पृ० 212

में प्रविष्ट हो गया है" रूप व्यङ्ग्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण नहीं है वरन् वाच्यार्थ की अपेक्षा कम सुन्दर है । इसकी अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण है क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ में नायिका की उत्कण्ठा को व्यक्त करने की सामर्थ्य नहीं है वरन् " अंगावसाद " वाच्यार्थ में ही "उत्कंठातिशय" को व्यक्त करने की अधिक सामर्थ्य है ।

यहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति तो हो रही है किन्तु उसकी अपेक्षा किये बिना वाच्यार्थ "विप्रलम्भ शृंगार" का पोषक है क्योंकि "अंगों की व्याकुलता" रूप वाच्य ही "अनुभाव" है जिससे, औत्सुक्य के वेग से संवलित, अनुरागोद्रेक द्वारा, कामदेव के द्वारा पराधीन बना दिया जाना रूप विप्रलम्भ-शृंगार की सिद्धि होती है अत: यहाँ वाच्यार्थ में ही चमत्कार-विश्रान्त होता है । इस प्रकार वाच्य ही प्रधान रूप से तात्पर्य का विषय होने के कारण प्रधान है, उसकी अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ असुन्दर होने के कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।[1]

इस प्रकार आचार्य मम्मट ने गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्वरूप-निर्वचन करते हुए इस काव्य-प्रकार के आठ भेद माने हैं ।

आचार्य मम्मट ध्वनि के, अभिधामूलक, लक्षणामूलक भेदों के पदगत, वाक्यगत, प्रबन्धगत आदि रूप से " इक्यावन " भेद मानते हैं ।

1-1- अत्र दत्तसंकेतः कश्चिल्लतागहनं प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यात् सीदन्त्यङ्गानीति वाच्यं सचमत्कारम् ।

--का०प्र०पं०उ०पृ० 211

1-2- एवं चात्र व्यङ्ग्यप्रतीतावपि व्यङ्ग्यमनपेक्ष्यैव वाच्यस्य विप्रलम्भ-पोषकत्वाद्वाच्ये, एव चमत्कारविश्राम इति वाच्यस्यैव प्राधान्येन तात्पर्यविषयत्वमित्यसुन्दरव्यङ्ग्यं मध्यमकाव्यमिदम् ।

--का०प्र० दर्पणटीका पं०उ०पृ० 212

मम्मट के अनुसार ध्वनि एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य में व्यङ्ग्य की प्रधानता एवं अप्रधानता के अतिरिक्त समानता होती है अतः ध्वनि के समस्त भेद, व्यङ्ग्यार्थ के अप्रधान होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेद भी हो सकते हैं।

परन्तु ध्वनिकार के समान आचार्य मम्मट भी यह मानते हैं कि " वस्तुमात्र से अलंकार व्यक्त होते हैं तो उनकी निश्चित रूप से ध्वन्यङ्गता ही होती है।" उस स्थल पर व्यङ्ग्य के अप्रधान होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्यता नहीं होती है क्योंकि वहाँ व्यङ्ग्यार्थ के ही कारण काव्य प्रवृत्त होता है। व्यङ्ग्य अलंकार के अप्रधान होने पर वह काव्य न होकर वाच्यमात्र हो जायेगा क्योंकि " अलंकारयुक्त " उस स्थल पर " अलंकार " ही, काव्य का आत्मभूत होता है।

अतः वस्तु से अलंकार-व्यङ्ग्य के वो भेद गुणीभूतव्यङ्ग्यता को नहीं धारण कर सकते हैं। अतः मम्मट के अनुसार ध्वनि के जिन भेदों को गुणीभूत होने में बाधा नहीं होती उनको गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल मानना चाहिए, अन्यों को छोड़ देना चाहिए।[2]

इस प्रकार मम्मटाचार्य आचार्यानन्दवर्धन की सरणि पर ही गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्वरूपनिर्वचन करते हैं। उनकी व्याख्या का आधार आचार्य आनन्दवर्धन का ही मत है। आनन्दवर्धन ने गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थलों का ही विवेचन किया है, उनके भेदों का स्पष्ट वर्णन नहीं किया है परन्तु "मम्मट ने गुणीभूतव्यङ्ग्य के आठ भेदों का नाम एवं उदाहरण सहित विवेचन कियाहै।"

1- "व्यज्यते वस्तुमात्रेण यदाऽलङ्कृतयस्तदा।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्॥" --ध्व० 2/29
इति ध्वनिकारोक्तदिशा वस्तुमात्रेण यत्रालङ्कारो
व्यज्यते न तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्। --का०प्र०वं०उ०पृ० 212

2- एवां भेदा यथायोगं वेदितव्याश्च पूर्ववत्॥
--का०प्र०वं०उ०पृ० 211

मम्मटोत्तरयुगीन आलंकारियों का गुणीभूतव्यङ्ग्य से सम्बन्धित विवेचन

संस्कृत-साहित्य के इतिहास का विकास अनेक चरणों में हुआ है । यह विकासकाल ई०पू० 200 से लेकर ई०पू० 1700 वर्षों तक अर्थात् दो सहस्त्र वर्षों का है ।[1]

आनन्दवर्धन से लेकर मम्मट तक का काल, साहित्य-विकास का उत्कर्ष काल है । आनन्दवर्धन एवं मम्मट ने जिस नवीन काव्य-पद्धति को प्रवर्तित किया था, मम्मट के परवर्ती अधिकांश आचार्यों ने उसी का अनुसरण करते हुए, काव्य-भेदों एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है, जिसमें कोई विशेष नवीनता नहीं है । कुछ आचार्यों जैसे हेमचन्द्र एवं पण्डितराज जगन्नाथ ने ध्वनिकार एवं मम्मट की सरणि को मानते हुए भी, उनसे कुछ भिन्न मत प्रस्तुत किये हैं फिर भी मम्मट द्वारा प्रदत्त गुणीभूतव्यङ्ग्य के "अष्टविध-विभाजन" को किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हुए उनका मत भी मम्मट के मत से साम्य रखता है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में अब मम्मट के परवर्ती आलंकारिकों के गुणीभूतव्यङ्ग्य सम्बन्धित विवेचन को काल-क्रमानुसार प्रस्तुत किया जा रहा है ।

काव्यानुशासनकार हेमचन्द्र -

आचार्य मम्मट के परवर्ती आचार्यों में आचार्य हेमचन्द्र, (ई० सन् 1088-1188 ई० सन्) मम्मट की ही भाँति, काव्य के -उत्तम,

---

1- द्रष्टव्य- संस्कृत काव्य-शास्त्र का इतिहास -डा० पी०वी० काणे

2- द्रष्टव्य- संस्कृत काव्य-शास्त्र का इतिहास -डा० पी०वी० काणे पृ०307

मध्यम एवं अवर काव्य-भेदों को स्वीकार करते हैं । उन्होंने मम्मट की ही सरणि पर "उत्तम" एवं "अवर" काव्य-भेदों के लक्षण प्रस्तुत करते हुए, व्यङ्ग्य-प्रधान काव्य को "उत्तम" काव्य कहा है । परन्तु आचार्य मम्मट ने उत्तम काव्य को "ध्वनि" संज्ञा प्रदान की है, जो कि हेमचन्द्र को मान्य नहीं है । उनके अनुसार ध्वनि "व्यङ्ग्यार्थ" का पर्याय है ।[1] अतः हेमचन्द्र ने "ध्वनि-काव्य" को "उत्तम-काव्य" की आख्या दी है तथा हेमचन्द्र का उत्तम-काव्य-लक्षण, मम्मट सम्मत ध्वनिकाव्य से साम्य रखता है ।[2] इसी प्रकार हेमचन्द्र ने मम्मट सम्मत व्यङ्ग्य-रहित अवर-काव्य को ही, अवर-काव्य संज्ञा प्रदान की है ।[3]

मम्मट ने " मध्यम काव्य " को "गुणीभूतव्यङ्ग्य" कहा है[4] एवं उसके आठ भेद स्वीकार किये हैं परन्तु हेमचन्द्र ने अप्रधान व्यङ्ग्य से युक्त काव्य को " मध्यम-काव्य " की ही संज्ञा प्रदान की है । उसे गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य नहीं कहा है तथा उसके केवल तीन ही भेद स्वीकार किये हैं --

----

1- मुख्यार्थातिरिक्तः प्रतीयमानो व्यङ्ग्यो ध्वनिः ।
वृत्ति- ध्वन्यते द्योत्यत इति ध्वनिः । --काव्यानु0 1/19

2-1- इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ।
--का0प्र0उ0पृ028

2.2- व्यङ्ग्यस्य प्राधान्ये काव्यमुत्तमम् ।। --काव्यानु0 पृ0150

3.1- शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ।।--का0प्र0उ0पृ031

3.2- अव्यङ्ग्यमवरम् ।।58।। शब्दार्थवैचित्र्यमात्रं व्यङ्ग्यरहितं अवरं काव्यम् ।
--काव्यानु0 पृ0 184

4- अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् ।
--का0प्र0उ0पृ0 31

"असत्संदिग्धतुल्यप्राधान्ये मध्यमं त्रेधा" ||2/57

--काव्यानु० पृ० 152

हेमचन्द्र के अनुसार सन्दिग्धप्राधान्य एवं तुल्यप्राधान्य के अतिरिक्त मम्मट द्वारा स्वीकृत अन्य समस्त भेदों का " असत्-प्राधान्य " भेद में अन्तर्भाव हो जाता है ।

।क। असत्प्राधान्य मध्यम-काव्य -

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार "असत्-प्राधान्य" मध्यम-काव्य का लक्षण इस प्रकार है --

"तत्रासत्प्राधान्यं यथाचिद्वाच्यादनुत्कर्षेण ।"--काव्यानु०पृ०152

" जिसमें व्यङ्ग्य, वाच्य की अपेक्षा अनुत्कर्ष युक्त हो, वाच्य में ही चारुत्व का प्रकर्ष होने के कारण उसी का प्राधान्य हो ।" अतः व्यङ्ग्य के उपकारकत्वात् अंगभूत होने के कारण मध्यम काव्यभेद स्वीकृत किया है ।

हेमचन्द्र के अनुसार " असत्प्राधान्यव्यङ्ग्य" के स्थल निम्न हैं जैसे -- ।अ। जहाँ व्यङ्ग्य की अपेक्षा, वाच्य ही अधिक भाव-प्रकाशन में समर्थ हो, ।अतः व्यङ्ग्य असुन्दर होता है ।

।ब। जहाँ वाच्य के समान अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण व्यङ्ग्य अगूढ होता है,
।स। जहाँ रसादि रूप व्यङ्ग्य, अन्य किसी वाक्यार्थीभूत प्रधान रसादि का अंग होने के कारण प्रधान न हो,
।द। जहाँ सापेक्ष व्यङ्ग्य वाच्यसिद्धि का आवश्यक अंग हो,
।य। जहाँ व्यङ्ग्य अत्यन्त क्लिष्ट होने के कारण शीघ्र ही सहृदयप्रतीतिगम्य न हो ।

मम्मट सम्मत असुन्दर, अगूढ, अपरस्याङ्ग, वाच्यसिद्ध्यङ्ग तथा अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य के समस्त स्थलों पर व्यङ्ग्य, वाक्यार्थीभूत प्रधान

वाच्य की अपेक्षा अप्रधान होता है अतः इन सभी स्थलों का "मध्यम काव्य" के "असत्प्राधान्यव्यङ्ग्य" भेद में अन्तर्भाव हो जाता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने "असत्प्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य" के उदाहरण के रूप में मम्मट द्वारा निर्दिष्ट एवं काव्य-प्रकाश में उद्धृत अपरस्याङ्ग एवं वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य के उन्हीं उदाहरणों को उद्धृत किया है। अस्फुट एवं अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य के उदाहरण तो भिन्न है परन्तु उन उदाहरणों का विवेचन मम्मट के मत के आधार पर ही किया गया है एवं उनमें व्यङ्ग्य का वाच्य की अपेक्षा "अनुत्कर्ष-युक्त" होना ही प्रदर्शित किया गया है।[1]

1.1- [अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य] -क्वचित्परांङ्गत्वेन यथा-
" अयं स रसनोत्कर्षी .... ; अत्र शृंगारः करुणस्याङ्गम् ।

--काव्यानु० पृ० 152

1.2-[वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य]-"भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं ...."
अत्र हालाहलं वस्तुव्यङ्ग्यं भुजगरूपस्य वाच्यस्याङ्गम् ।

-- काव्यानु० पृ० 153

1.3- अत्र स मां पुत्रयायितेऽर्थयते, अहं च निषेद्धुमशक्ता, तत्सख्यः वाटप्रत्या तर्कयित्वा मा मां हासिषुरिति व्यङ्ग्यमस्फुटम् ।

-- काव्यानु० पृ० 153

1.4- क्वचिदतिस्फुटत्वेन यथा ....
वस्तुव्यङ्ग्यमतिस्फुटत्वेन प्रतीयमानमसत्प्राधान्यमेव कामिनीकुचकलशवत्, तत्गूढं चमत्करोतीति नागूढम् ।

--काव्यानु० पृ० 153

आचार्य हेमचन्द्र ने असत्प्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल पर, मम्मट द्वारा निर्दिष्ट असुन्दर गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए, उसमें वाच्य का प्राधान्य एवं व्यङ्ग्य के वाच्य की अपेक्षा "अनुत्कर्षयुक्त" होना रूप लक्षण स्पष्ट किया है ।[1] अतः प्रस्तुत उदाहरण व्यङ्ग्य के अप्रधान होने के कारण "असत्प्राधान्य-व्यङ्ग्य" रूप "मध्यम-काव्य" का स्थल है ।

।ख। सन्दिग्धप्राधान्य मध्यम-काव्य -

हेमचन्द्र ने भी मम्मट के " सन्दिग्धप्राधान्य" भेद को, "जिसमें वाच्य एवं व्यङ्ग्य की प्रधानता सन्दिग्ध होती है; स्वीकार किया है । इस भेद का, यद्यपि हेमचन्द्र ने मम्मट से भिन्न उदाहरण प्रस्तुत किया है परन्तु विवेचन एवं व्याख्या मम्मट के मत से साम्य रखती है ।[2]

।ग। तुल्यप्राधान्य मध्यम-काव्य -

हेमचन्द्र के अनुसार वाच्य एवं व्यङ्ग्य की समान रूप से प्रधानता होने पर " तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य" होता है । हेमचन्द्र

1- यथा-"वाणीरकुडंगुड्डीणसउणि . . . . . ।
"अत्र दत्तसंकेतः कश्चिल्लतागहनं प्रविष्टः," इति व्यङ्ग्यात् सीदन्त्यङ्गानि इति वाच्यमेव सातिशयम् । --काव्यानु० 152

2- अत्र अङ्गं तनुकमपि तनूकरोति किं वाच्यम्, किं वा तन्नाभ्युदया-धिरोहेण यावदत्याहितं नाप्नोति तावद्धन्विनया दौर्बल्यं सानुनीयतामिति व्यङ्ग्यं प्रधानमिति सन्दिग्धम् ।--काव्यानु०153

ने इस भेद के अन्तर्गत मम्मट-सम्मत, "तुल्यप्राधान्य" भेद के अतिरिक्त, "काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य" भेद को भी समाविष्ट कर लिया है। उन्होंने तुल्यप्राधान्य[1] एवं काक्वाक्षिप्त भेदों के उदाहरण एवं तत्सम्बद्ध विवेचन मम्मट द्वारा प्रणीत काव्यप्रकाश से उद्धृत करते हुए उनमें वाच्य एवं व्यङ्ग्य का तुल्यप्राधान्य प्रदर्शित किया है। हेमचन्द्र ने काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेद में वाच्य एवं व्यङ्ग्य की समान प्रधानता इस प्रकार सिद्ध की है। जैसे -- काकु द्वारा व्यञ्जित "मध्नाम्येव" रूप व्यङ्ग्य, वाच्य के साथ, समान रूप से स्थित होने के कारण वाच्य एवं व्यङ्ग्य का समान रूप से प्राधान्य है।[2]

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र मम्मट सम्मत मध्यम-काव्य के आठ भेदों का, तीन ही भेदों में अन्तर्भाव कर देते है। उनके अनुसार मध्यम-काव्य के केवल तीन ही भेद होते हैं, आठ नहीं।[3]

उक्त विवेचन को देखते हुए यह स्पष्ट है कि हेमचन्द्रकृत "मध्यम-काव्य" सम्बन्धी सम्पूर्ण विवेचन मम्मट का अनुकरण है। इतने पर भी आचार्य का यह कहना है कि " मध्यम-काव्य " कुल तीन प्रकार का होता है, आठ प्रकार का नहीं," उसका दुराग्रह-मात्र, दम्भ-मात्र अथवा अनुकरण का गोपन-मात्र कहा जायेगा।

1- "ब्राह्मणातिक्रमत्यागो . . . . . . ।" इति
अत्र बामदग्न्यः सर्वेषां क्षत्राणामिव रक्षसां क्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यस्य वाच्यस्य च समं प्राधान्यम्। --काव्यानु० पृ० 153

2- अत्र मध्नाम्येवेत्यादि व्यङ्ग्यं वाच्यतुल्यभावेन स्थितम्।
--काव्यानु० पृ० 157

3- इति " अष्टौ मध्यमकाव्य भेदाः न स्पष्टाः।"
--काव्यानु० पृ० 157

<u>चन्द्रालोककार- आचार्य जयदेव -</u>

"चन्द्रालोककार" आचार्य जयदेव (ई0सन् 1200-1250ई0सन्)[1] गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि " जहाँ व्यङ्ग्यार्थ आह्लादकारक होता है, वहाँ ध्वनि होती है इसके विपरीत स्थिति में गुणीभूतव्यङ्ग्य होता है ।"[2] स्पष्ट है कि आह्लादकत्व से आचार्य का तात्पर्य है -- "चारुत्वहेतुत्व ।"

इस प्रकार इनकी भी ध्वनि एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य विषयक धारणा ध्वनिकार आनन्दवर्धन एवं आचार्य मम्मट से पूर्ण साम्य रखती है । जयदेव ने आरम्भिक रूप से गुणीभूतव्यङ्ग्य के तीन भेद पुनः उपविभाग द्वारा आठ भेद बताये हैं --

"व्यक्त एव क्वचिद् व्यङ्ग्य क्वचिदर्थस्वभावतः ।
क्वचिद्वाच्यातिशयात्रे स विमुञ्चति चारुताम् ।"

-- चन्द्रालोक 8/2

उनके अनुसार -"जहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ के समान अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण गुणीभूत हो जाता है, जहाँ व्यङ्ग्यार्थ स्वभाव से ही असुन्दर होने के कारण गुणीभूत हो जाता है, जहाँ अपनी अपेक्षा अधिक रमणीय वाच्यार्थ के सम्मुख व्यङ्ग्यार्थ अपनी रमणीयता त्याग देने के कारण गुणीभूत हो जाता है ।"

1- द्रष्टव्य- संस्कृत काव्य-शास्त्र का इतिहास -डा0पी0वी0 काणे,पृ0362

2- "यद् व्यज्यमानं मनसः स्तोमित्याय स नो ध्वनिः ।
अन्यथा तु गुणीभूतव्यङ्ग्यमापतितं त्रिधा ।।"

--चन्द्रालोक 8/1

जयदेव ने मुख्यतः तीन-भेद मानकर, इन्हीं भेदों के आधार पर, मम्मट सम्मत आठ भेदों को ठीक उसी रूप से स्वीकार किया है । इनके विवेचन की मौलिकता इस बात में है कि इनके द्वारा प्रस्तुत किये गये उदाहरण सर्वथा नवीन हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि गुणीभूतव्यङ्ग्य के तीन मुख्य-विभाग करने की प्रेरणा इनको हेमचन्द्र से मिली है । इनके सारे उदाहरण, मम्मट के उदाहरणों से भिन्न हैं परन्तु उदाहरणों का विवेचन मम्मट के मत को आधार मानकर ही किया गया है, अतः इनके विवेचन को सोदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है --

(क) <u>अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य</u> -

जयदेव के अनुसार जहाँ व्यङ्ग्य, वाच्य के समान अत्यन्त स्फुट होने के कारण अगूढ होता है, वहाँ अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य भेद होता है । जैसे --

> "अगूढं कथ्येदर्थान्तरसंक्रमितादिकम् ।
> विस्मृतः किमयं नाथ स त्वया कुम्भसम्भवः ॥"
>
> -- चन्द्रालोक 8/3

प्रस्तुत परिभाषा में प्रयुक्त "अपि" पद द्वारा अत्यन्त-तिरस्कृत एवं पदगतशब्दार्थ शक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य की अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्यता का भी संग्रह होता है ।[1]

1- अत्र अपि पदेन अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य च पदगतशब्दार्थशक्तिमूल-संलक्ष्यक्रमस्य च व्यङ्ग्यस्य ग्रहणम् ।

--चन्द्रालोक व्याख्या पृ० 314

उपर्युक्त उदाहरण में " हे समुद्र ! क्या तुम घड़े से उत्पन्न (अगस्त ऋषि) को भूल गये हो"? रूप वाच्यार्थ, "तुम नहीं भूले हो" रूप अर्थान्तर में संक्रमित हो जाता है । इससे यह अर्थ व्यञ्जित होता है कि "तुम उनकी शक्ति से परिचित होते हुए भी भूल गये हो, उन्हें न भूल कर डरो," जो कि वाच्यार्थ के समान अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण असहृदयजनग्राह्य है ।

(ख) अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य -

जयदेव के अनुसार एक रस, भाव, भावाभास, भावसन्धि, भावशबलता आदि के दूसरे प्रधानीभूत रसादि का अंग हो जाने पर अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य रूप दूसरा भेद होता है । जैसे --

"अपरस्य रसादेश्चेदङ्गमन्यद्रसादिकम् ।
हा हा मत्प्रेयकाश्मीरलिप्तं भिन्नमुरः शरैः ।।"

--चन्द्रालोक 8/4

प्रस्तुत उदाहरण में "श्रृंगारपूर्णउक्ति" द्वारा "करुण रस" का वर्णन है । नायक के युद्ध स्थल में बाणों से घायल होने पर नायिका का विलाप रूप वर्णन होने के कारण "करुण" प्रधान है एवं प्रधान रहने वाला भी "श्रृंगार रस", शोकोत्पादक होने के कारण करुण रस का अंगकारत्व, अंगभूत अतएव अप्रधान हो गया है । अतः अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

(ग) वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य

जब व्यङ्ग्य वाच्यार्थ की सिद्धि का आवश्यक अंग होने के कारण अप्रधान हो जाता है, तो वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य रूप तृतीय-भेद होता है । जैसे --

"तथा वाच्यस्य सिद्ध्यङ्गं नौरर्यो वारिधेर्यथा ।
संश्रित्य तरणिं धीरास्तरन्ति व्याधिवारिधीन् ।।"

--चन्द्रालोक 8/5

प्रस्तुत उदाहरण में " व्याधिवारिधीन्" में रूपक अलंकार है । इस रूपक रूप वाच्यार्थ की सिद्धि व्यङ्ग्यार्थ के अभाव में असम्भव है, क्योंकि "तरणि" का वाच्यार्थ है - "सूर्य" एवं उसमें अभिधा नियंत्रित हो जाने के कारण " नौका " रूप अर्थ व्यङ्ग्यार्थ है, जो कि वाच्यसिद्धि का आवश्यक अंग है ।

(घ) अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य -

जयदेव के अनुसार जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति विलम्ब से हो, वहाँ व्यङ्ग्य सहृदयसंवेद्य न होने के कारण, अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक भेद होता है । जैसे --

"अस्फुटं स्तनयोरस्य कोकानुगवयस्यताम् ।
कुङ्कुमाक्तं स्तनद्वन्द्वं मानसं मम गाहते ।।"

--चन्द्रालोक 8/6

प्रस्तुत उदाहरण में "स्तनद्वन्द्व" पद से "चक्रवाकों के जोड़े की समता वाला" रूप व्यङ्ग्यार्थ अभीष्ट है, जो कि अत्यन्त गूढ होने के कारण चमत्कारजनक नहीं है क्योंकि किञ्चित् गूढ व्यङ्ग्यार्थ ही चमत्कारजनक होता है ।

(ङ) सन्दिग्धप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य -

जयदेव के अनुसार वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ के प्राधान्य में सन्देह होने पर सन्दिग्धप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य भेद होता है । जैसे --

"सन्दिग्धं यदि सन्देहो दैर्घ्यापुत्पत्मयोरिव ।
संप्राप्ते श्रवणे तस्याः श्रवणोत्तंसभूमिकाम् ।। "

--चन्द्रालोक 8/7

प्रस्तुत उदाहरण का वाच्यार्थ है कि "उस नायिका के नेत्रों ने कर्णभूषण का स्थान प्राप्त कर लिया" प्रस्तुत वाच्यार्थ से "नेत्रों की दीर्घता" रूप व्यङ्ग्यार्थ ध्वनित होता है, जो कि वाच्यार्थ के ही समान चमत्कारजनक है । "कर्णभूषण" रूप तथा "दीर्घता" रूप वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ में किसी प्रधानता है, यह संदेहास्पद है । दोनों में से किसी एक की प्रधानता स्पष्टतया लक्षित न होने के कारण प्रस्तुत पद्य सन्दिग्धप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य भेद है ।

४च४ तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य -

जयदेव के अनुसार जहाँ वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ दोनों समान रूप से चमत्कारजनक होने के कारण, प्रधान हों तो वहाँ तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य भेद होता है।-- जैसे --

"तुल्यप्राधान्यमिन्दुत्वमिव वाच्येन साम्यभृत् ।
कान्ते त्वदाननच्छायाम्लानिमेति सरोरुहम् ।।"

--चन्द्रालोक 8/8

प्रस्तुत उदाहरण में " हे प्रिय, तुम्हारी मुख कान्ति से, कमल पराजित हो रहे हैं" रूप वाच्यार्थ से, "मुख चन्द्र तुल्य है" रूप व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है, क्योंकि कमल, चन्द्रमा के द्वारा ही म्लान होते हैं, परन्तु यहाँ कहा गया है कि मुख की कान्ति से ही मलिन हो रहे हैं । इस प्रकार यहाँ वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ दोनों के ही समान रूप से चमत्कारजनक अतएव प्रधान होने के कारण यह

तुल्यप्राधान्य-गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

(छ) असुन्दर गुणीभूतव्यङ्ग्य -

जयदेव के अनुसार व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा-वाच्यार्थ के ही अधिक प्रकर्षयुक्त होने पर असुन्दर गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण होता है । जैसे --

"असुन्दरं यदि व्यङ्ग्यं स्याद् वाच्यादमनोहरम् ।
सरस्यामीलदम्भोजे चक्रः कान्तां विलोकते ।।"

--चन्द्रालोक 8/9

प्रस्तुत उदाहरण में " मुरझाते कमलों वाले तालाब पर चकवा, प्रिया को (दीन दृष्टि से) देख रहा है" रूप वाच्यार्थ है, "रात्रि निकट है" रूप व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है । वाच्यार्थ, चकवा के आन्तरिक प्रेम, व्याकुलता एवं वियोग रूप भावों को व्यक्त करने में अधिक समर्थ होने के कारण, व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा अधिक रमणीय है तथा व्यङ्ग्यार्थ असुन्दर है ।

(ज) काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य -

जयदेव के अनुसार जहाँ विशिष्ट प्रयोजनाभिव्यक्ति के लिये काकु के द्वारा शब्दों का उच्चारण किया जाय एवं काकु वाच्यार्थ की सिद्धि के लिये आवश्यक हो तो वहाँ काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्यता का उदाहरण निम्न प्रकार का होता है । जैसे --

"काकुत्स्थं प्रणतोऽम्भोधिरयं मारयतु रावणः ।
इत्यष्टधा गुणीभूतव्यङ्ग्यमङ्गीकृतं बुधैः ।।"

-- चन्द्रालोक 8/10

प्रस्तुत उदाहरण में " समुद्र के नत होने पर रावण अपना

घमंड न दिखाये" रूप वाच्यार्थ, काकु के द्वारा ध्वनित व्यङ्ग्यार्थ के अभाव में अनुपपन्न है। जब तक काकु से आक्षिप्त व्यङ्ग्यार्थ "सेतु बनने के कारण राम, लंका-नगरी में प्रविष्ट हो गये हैं अतः रावण अपना यह घमंड त्याग दे कि लंका समुद्र से घिरी होने के कारण सुरक्षित है," ध्वनित न हो तो वाच्यार्थ पूर्णतः सिद्ध नहीं होता है। अतः काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य वाच्यसिद्ध्यङ्ग होने के कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य है।

उक्त सम्पूर्ण विवेचन को देखते हुए यह स्पष्ट है कि जयदेवकृत "गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य" सम्बन्धी सम्पूर्ण विवेचन मम्मट का अनुकरण ही है परन्तु उन्होंने अपनी विशिष्टता प्रदर्शित करने के लिए पहले व्यङ्ग्य के चारुत्व-साहित्य की तीन कोटियाँ मानी है और अन्ततः मम्मट के "अष्टविध-विभाजन" को, उसी रूप में स्वीकार करते हुए, "बुधैः" पद द्वारा उनकी ओर संकेत करते हुए, उन्हें उचित सम्मान दिया है किन्तु सम्भवतः उनकोअपना विभाजन भी बहुत पुष्ट नहीं दिखा है इसलिये वे मम्मट के आठों भेदों का, उन तीन कोटियों मे अन्तर्भाव की बात नहीं करते हैं। जयदेव के इन तीन भेदों में, मम्मट के आठों भेदों का अन्तर्भाव नहीं होता है। उदाहरण के लिये --"अगूढ" नामक गुणीभूतव्यङ्ग्य का भेद प्रथम कोटि में अन्तर्भूत हो सकता है। इसी प्रकार असुन्दर एवं अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेद द्वितीय कोटि में आ सकते हैं तथा अपरस्याङ्ग, वाच्यसिद्ध्यङ्ग एवं काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य के ये तीन भेद यथाकथंचित तृतीय कोटि में आ जाते हैं किन्तु सन्दिग्धप्राधान्य एवं तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थलों का अन्तर्भाव तो किसी भी कोटि में नहीं हो पाता है। इसीलिये यद्यपि वे गुणीभूतव्यङ्ग्य के तीन भेद से विषय का उपक्रम तो करते हैं परन्तु अपनी इस धारणा का निर्वाह अन्त तक नहीं करते हैं और मम्मट के ही विवेचन को नये उदाहरणों के साथ ससम्मान प्रस्तुत करते हैं।

एकावलीकार- विद्याधर -

जयदेव के अनन्तर कालक्रमानुसार तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध (ई० सन् 1285-1325 ई० सन्)[1] के विद्याधर आते हैं, जो केसरिनरसिंह (ई०सन् 1282-1307 ई० सन्) अथवा प्रतापनरसिंह (ई० सन् 1307-1327 ई० सन्) के आश्रित-कवि थे ।[2] इन्होंने तेरहवीं शताब्दी के अर्धांश के अनन्तर "एकावली" की रचना है ।

विद्याधर ने एकावली में ध्वनिकार एवं आचार्य मम्मट की सरणि पर ही "ध्वनि एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य सम्बद्ध" विवेचन को प्रस्तुत किया है एवं काव्य-प्रकाश को आधार मानकर ही काव्य के विविध अंगों काव्य-भेदों एवं गुणालंकारों का विवेचन किया है ।

विद्याधर ने प्रभुसम्मित, सुहृत्सम्मित एवं कान्तासम्मित तीन प्रकार के शास्त्र मानते हुए "ध्वनिप्रधान-काव्य को कान्तासम्मित शास्त्र" माना है । "ध्वनिप्रधान-काव्य में शब्द एवं अर्थ गौण हो जाते हैं, व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता होती है ।"[3] इस प्रकार विद्याधर ने भी "ध्वनि" पद का प्रयोग व्यङ्ग्यार्थ, उत्तम-काव्य एवं काव्य के

1- द्रष्टव्य - संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास -

-- डा० पी०वी० काणे पृ० 364

2- द्रष्टव्य - संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास -

-- डा० पी०वी० काणे पृ० 365

3- ध्वनिप्रधानं काव्यं तु कान्तासम्मितमीरितम् ।
शब्दार्थौ गुणतां नीत्वा व्यञ्जनप्रवणं यतः ।।

-- एकावली 1/6

आत्मभूततत्त्व के लिये किया है ।[1]

यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि विद्याधर ने एकावली के "चतुर्थ-उन्मेष" में गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य का निरूपण किया है, जो मम्मट का अनुकरण-मात्र है । विद्याधर ने मम्मट की सरणि पर ही गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य के आठ-भेद उन्हीं नामों से स्वीकार किये हैं । जैसे -- अगूढ, अपरस्याङ्ग, वाच्यसिद्ध्यङ्ग, अस्फुट, सन्दिग्धप्राधान्य, तुल्यप्राधान्य, काक्वाक्षिप्त एवं असुन्दर ।

विद्याधर ने अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य का निम्न लक्षण प्रस्तुत किया है --

"तरुणीकुचमण्डलमिव गूढं चमत्करोति ।
वाच्यायमानमस्माद् व्यङ्ग्यमगूढं गुणीभूतम् ।।"

-- एकावली 4/1

अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रस्तुत लक्षण में विद्याधर ने मम्मट की सरणि पर तरुणीकुच मण्डल के सदृश किंचित् गूढ व्यङ्ग्य को ही चमत्कारपूर्ण कहा है तथा वाच्य के समान अगूढ व्यङ्ग्य को गुणीभूतव्यङ्ग्य

1-1-शब्दार्थौ वपुरस्य तत्र विबुधैरात्माभ्यधायि ध्वनि-
र्यावाकैरिव कैश्चिदस्य न पुनः सत्तापि सम्भाव्यते ।
वर्त्तुं लक्षणमुप्रेयमनिर्वाच्यः परैरुच्यते
भावतोऽन्यैः समुदीर्यतेऽस्य हि ततो ब्रूमः स्वरूपं वयम् ।।

-- एकावली 1/13

1.2-शब्दार्थवपुस्तावत् काव्यम् । वपुषि च केनाप्यात्मना भवितव्यम् ।
आत्मा च ध्वनिरेव ।

-- एकावली पृ0 सं0 पृ0 2।

कहा है ।[1] चूंकि विद्याधर ने मम्मट की सरणि पर ही गुणीभूतव्यङ्ग्य का सम्पूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है । अतः अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य के लक्षण से विद्याधर के अनुसार गुणीभूतव्यङ्ग्य -काव्य का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट होता है -- " किंचित गूढ अर्थात् चमत्कारपूर्ण व्यङ्ग्य के न होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य होता है ।"

विद्याधर ने आचार्य मम्मट द्वारा स्वीकृत अष्टविभाजन को उसी रूप में स्वीकार करते हुए, प्रत्येक भेद का लक्षण एवं स्वनिर्मित उदाहरण प्रस्तुत किये हैं । विद्याधर का विवेचन मम्मट के विवेचन से साम्य रखता है।जैसे-विद्याधर ने सन्दिग्धप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का निम्न लक्षण प्रस्तुत किया है --

"यदि वाच्यं व्यङ्ग्यं वा मुख्यतया निश्चितं न भवेत् ।
संदिग्धप्राधान्यं तत्तु सुधीभिर्विनिर्दिष्टम् ।।"

-- एकावली 4/4

मम्मट ने केवल प्रत्येक भेद का नाम लिखकर उदाहरण प्रस्तुत किया है तथा उदाहरण की व्याख्या वृत्तिभाग में लिखी है -- " अत्र परिचुम्बितुमैच्छदिति किं प्रतीयमानं किं वा विलोचनव्यापारणं वाच्यं प्रधानमिति संदेहः ।"

--का०प्र०पं०उ०पृ० 210

इसी प्रकार विद्याधर ने अस्फुट,तुल्यप्राधान्य, काक्वाक्षिप्त

1- कामिनीकुचकलशवद् गूढं चमत्करोति, अगूढं तु स्फुटतया वाच्यायमानमिति गुणीभूतमेव ।

--का०प्र०पं०उ०पृ० 197

अनुन्दर आदि सभी भेदों के स्वनिर्मित लक्षण प्रस्तुत किये हैं ।[1] विद्याधर द्वारा प्रस्तुत गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रत्येक भेद का लक्षण आचार्य मम्मट के ही मत का पूर्ण रूप से अनुसरण करती है ।[2] कहीं भी विद्याधर तथा आचार्य मम्मट के विचारों में भिन्नता नहीं मिलती है । विद्याधर की व्याख्या का ढंग भी मम्मट की ही सरणि पर है । इस प्रकार विद्याधर आचार्य मम्मट के गुणीभूतव्यङ्ग्य विषयक विचारों से पूर्णतः सहमत हैं । अतः उन्होंने गुणीभूतव्यङ्ग्य को उसी रूप में स्वीकार किया है ।

1.1- यत्र न तदपि व्यङ्ग्यं स्फुटतां भजते,। तदस्फुटाभिख्यम् ॥

--एकावली 4/3

1.2- यस्मिन्नयोः साम्यं तुल्यप्राधान्यमिष्यते तदिदम् ।

--एकावली पृ0 141

1.3- आक्षिप्तं यत् काक्वा काक्वाक्षिप्तं तदाख्यातम् --एकावली 4/5

1.4- यद्भजति न सौन्दर्यं तदसुन्दरमीरितं तद्भिः । --एकावलीपृ0142

2.1- अपरस्य रसादेर्वाच्यस्य वा वाक्यार्थीभूतस्य अङ्गं रसादि, अनुरणनरूपं वा यथा-अत्र शृङ्गारः करुणस्य ।

--का0प्र0पं0उ0पृ0 199

2.2- वाच्यस्य रसादेर्वा वाक्यार्थस्यापरस्य यत्राङ्गम् ।
व्यङ्ग्यं भवति तदेतत्तज्ज्ञैरपराङ्गमाख्यातम् ॥--एकावली 4/2
अत्र तिग्मरोचिः प्रभृतिविषयो रत्याख्यो भावः प्रभुविषयस्य रतिभावस्याङ्गम् । --एकावली पृ0 133

2.3- अत्र हालाहलं व्यङ्ग्यं भुजगरूपस्य वाच्यस्य सिद्धिकृत् ।

--का0प्र0पं0उ0पृ0 208

2.4- वाच्यस्य सिद्धिहेतुं कृतिनः कथयन्ति वाच्यसिद्ध्यङ्गम् ।--एकावली136
अत्रासिधेनोर्धेनुत्वं व्यङ्ग्यं यतः क्षीरत्वस्यकल्पनस्य वाच्यस्य सिद्धिमादधाति । -- एकावली पृ0 136

प्रतापरुद्रयशोभूषणकार - विद्यानाथ -

श्री विद्याधर के अनन्तर मम्मट के अनुवर्ती आचार्यों में "श्रीमद् विद्यानाथ" (ई०सन् 1295 - 1325 ई०सन्) का नाम आता है, जो कि "प्रतापरुद्रदेव" के आश्रित कवि थे। शिलालेखों से ज्ञात होता है कि "प्रतापरुद्रदेव" 13वीं शताब्दी के अन्तिम चरण तथा 14वीं शताब्दी के प्रथम चरण में राज्य करते थे"। अतः "प्रतापरुद्रयशोभूषण" की रचना 14वीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुई होगी।[1]

श्री विद्यानाथ ने आचार्य मम्मट की सरणि पर ही उत्तम, मध्यम एवं चित्र तीन प्रकार के काव्य-भेद माने हैं, एवं काव्य-भेदों के उत्तम, मध्यम आदि विभाजन का आधार व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता-अप्रधानता ही है।[2]

श्री विद्याधर ने प्रत्येक भेद का स्वनिर्मित लक्षण तथा स्व-निर्मित उदाहरण प्रस्तुत किये हैं परन्तु विद्यानाथ ने "प्रतापरुद्रयशोभूषण" में गुणीभूत-व्यङ्ग्य काव्य-भेद के, आठ-भेदों का मम्मट के मतानुसार उन्हीं नामों से उल्लेख अवश्य किया है[3] किन्तु सभी भेदों का लक्षण नहीं प्रस्तुत किया है।

1- द्रष्टव्य- "संस्कृत काव्य-शास्त्र का इतिहास"-पी०वी०काणे पृ० 366

2- व्यङ्ग्यस्य प्राधान्याप्राधान्याभ्यामस्फुटत्वेन च त्रिविधं काव्यम् । व्यङ्ग्यस्य प्राधान्ये उत्तमं काव्यं ध्वनिरिति व्यपदिश्यते । अप्राधान्ये मध्यमं गुणीभूतव्यङ्ग्यमिति गीयते । व्यङ्ग्यस्यास्फुटत्वेऽधमं चित्रमिति गीयते ।
--प्रतापरु० पृ० 70

3- "गुणीभूतव्यङ्ग्यं मध्यमं काव्यमष्टविधम्" तथा चोक्तं काव्यप्रकाशे -
"अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ।।"
कामिनीकुचकलशवदगूढत्वेन चमत्कारित्वादगूढव्यङ्ग्यं मध्यमं काव्यम् ।
--प्रतापरु० पृ० 60

अपितु केवल अपरस्याङ्ग तथा काक्वाक्षिप्त भेदों का लक्षण प्रस्तुत किया है,[1] अन्य भेदों का केवल नामोल्लेख करके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं एवं उदाहरणों में गुणीभूतव्यङ्ग्यता स्पष्ट की है ।

विद्यानाथ के अपरस्याङ्ग का लक्षण एवं उदाहरणों का विवेचन, मम्मट द्वारा प्रदत्त अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य के विवेचन से साम्य रखता है ।[2] अतः उनका पुनः विवेचन करना पुनरुक्ति-मात्र होगा ।

इसी प्रकार विद्यानाथ ने काक्वाक्षिप्त-गुणीभूतव्यङ्ग्य का जो लक्षण प्रस्तुत किया है, वह मम्मट सम्मत काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य के विवेचन से साम्य रखता है एवं उसमें वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य को कम चारुत्व युक्त प्रदर्शित किया गया है ।[3]

1-1- अपरस्याङ्गं, यत्र रसादे रसादिरङ्गं तदपि गुणीभूतव्यङ्ग्यमेव ।
--प्रताप०पृ०9

1-2- यत्र काक्वाऽर्थान्तरमाक्षिप्यते, तदपि गुणीभूतव्यङ्ग्यमेव ।
--प्रताप०पृ०94

2-1- अपरस्याङ्गं यत्र रसादे रसादिरङ्गं तदपि गुणीभूतव्यङ्ग्यमेव ।
तेन यत्राङ्गिनो रसभावादेर्वाच्यस्य वा रसभावादिरनुरणनं ।
वाऽङ्गत्वेन निबध्यते, तदपराङ्गमित्यर्थः । --प्रताप०पृ० 91

2-2- अपरस्य रसादेर्वाच्यस्य वा वाक्यार्थीभूतस्य अङ्गं रसादि अनुरणनरूपं वा ।
--का०प्र०उ०पृ० 199

3-1- यत्र काक्वाऽर्थान्तरमाक्षिप्यते, तदपि गुणीभूतव्यङ्ग्यमेव ।
अत्राधिक्यनिषेधस्य वाचकाभावात् केवलवाच्यतासमर्थकव्यत्वेन व्यङ्ग्यत्वम् । तस्य च काकुसंस्पर्शाद् मुख्यकृतचारुत्वातिशयभङ्गेन गुणीभूतत्वमेव । --प्रताप०पृ० 94

3-2- काक्वाक्षिप्तं यथा- "मथ्नामि कौरवशतं . . . . ।"
अत्र मथ्नाम्येवेत्यादि व्यङ्ग्यं वाच्यनिषेधसहभावेन स्थितम् ।
--का०प्र०उ०पृ० 210

विद्यानाथ ने केवल अपरस्याङ्ग एवं काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य की परिभाषा प्रस्तुत की है । गुणीभूतव्यङ्ग्य के अगूढ़, वाच्यसिद्ध्यङ्ग, सन्दिग्धप्राधान्य, तुल्यप्राधान्य एवं असुन्दर गुणीभूतव्यङ्ग्य भेदों के केवल स्वरचित उदाहरण प्रस्तुत करके उनमें गुणीभूतव्यङ्ग्यता का निर्देश मम्मट की ही सरणि पर किया है । चूँकि उपर्युक्त स्थलों के उदाहरणों से सम्बद्ध विवेचन, मम्मट के विवेचन से साम्य रखता है अतः पुनरुक्ति-दोष के भय से यहाँ केवल उन स्थलों का संकेत-मात्र किया जा रहा है ।

विद्यानाथ ने "वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य स्थल में, व्यङ्ग्यार्थ को वाच्य रूप रूपक की सिद्धि का आवश्यक अंग माना है।" जैसा कि हम देख चुके हैं कि मम्मट ने भी वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का इसी प्रकार विवेचन किया है ।[1]

विद्यानाथ द्वारा प्रदत्त तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल में वाच्य एवं व्यङ्ग्य का प्राधान्य दर्शाते हुए, स्पष्ट रूप से मम्मट के मत का अनुकरण किया गया है ।[2]

1-1- अत्र जलधारा व्यङ्ग्या सा च करवालनवाम्बुद इत्यस्य वाच्यभूतस्य रूपकस्य सिद्ध्यङ्गम् । --प्रताप०पृ० 92

1.2- अत्र हालाहलं व्यङ्ग्यं भुजगरूपस्य वाच्यस्य सिद्ध्यङ्गम् । --का०प्र०पं०उ०पृ० 208

2.1- अत्र प्रतापरुद्रस्य पादसेवा यदि त्यज्यते तदानीं कारेषु वासो दुर्लभ इति व्यङ्ग्यार्थस्य वाच्यस्य च समं प्राधान्यं । --प्रताप० पृ० 93

2.2- अत्र जामदग्न्यः सर्वेषां क्षत्रियाणामिव रक्षसां क्षणात्क्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यस्य वाच्यस्य च समं प्राधान्यं । --का०प्र०पं०उ०पृ० 210

इसी प्रकार विद्यानाथ द्वारा प्रदत्त सन्दिग्धप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल में वाच्य एवं व्यङ्ग्य के प्राधान्य की सन्दिग्धता दर्शाते हुए, स्पष्ट रूप से मम्मट के मत का अनुसरण किया गया है ।[1]

इसी प्रकार अगूढ, अस्फुट, असुन्दर आदि गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थलों पर भी, यद्यपि विद्यानाथ ने मम्मट से भिन्न स्वरचित उदाहरण प्रस्तुत किये हैं परन्तु वे विवेचन की दृष्टि से मम्मट के मत से साम्य रखते हैं ।[2] अतः स्पष्ट है कि विद्यानाथ ने मम्मट की सरणि पर गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य के भेदों का विवेचन किया है ।

साहित्यदर्पणकार- कविराज विश्वनाथ —

संस्कृत साहित्यशास्त्र के इतिहास में कविराज विश्वनाथ (ई०सन् 1300-1380 ई०सन्)[3] का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

आचार्य मम्मट के परवर्ती अधिकांश आचार्यों ने मम्मट की ही सरणि पर काव्य-भेद निरूपण किया है परन्तु विश्वनाथ ने "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" के रूप में काव्य को परिभाषित करते हुए, ध्वनिकार की सरणि पर काव्य के (1) ध्वनि एवं (2) गुणीभूतव्यङ्ग्य, दो ही

1.1- अत्रानिङ्गमेच्छायां वाक्यविश्रान्तिरथवा स्तनस्कन्दलालोक एवेति सन्देहः । —प्रतापरु० पृ० 92

1.2- अत्र परिचुम्बितुमैच्छदिति किं प्रतीयमानं किं वा विलोचनव्यापारणं वाच्यं प्रधानमिति सन्देहः । —का०प्र०सं०उ०पृ० 210

2- द्रष्टव्य - प्रतापरु० पृ० 90-94

3- द्रष्टव्य - संस्कृत काव्य-शास्त्र का इतिहास - —डा० पी०वी० काणे पृ०374

भेद स्वीकार किये हैं ।[1] वे "अव्यङ्ग्यम्" का अभिप्राय "व्यङ्ग्य का अभाव मानते हुए, इस प्रकार के काव्य को " काव्य का चित्रमात्र" कहते हैं एवं व्यङ्ग्यरहित होने के कारण उसे "काव्य-संज्ञा" नहीं प्रदान करते हैं ।[2]

।1। ध्वनिकाव्य -

उनका ध्वनि-काव्य एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य का लक्षण आचार्य मम्मट के लक्षण से साम्य रखता है ।[3] श्री विश्वनाथ ने ध्वनि-काव्य का निरूपण इस प्रकार किया है --

" वाच्यातिशायिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम् ।। "

--सा०द०4/1

ध्वनि-काव्य में व्यङ्ग्यार्थ का प्राधान्य एवं वाच्य का चारुत्व अप्रधान होता है । इसके विपरीत गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य में वाच्य-चारुत्व का प्राधान्य, वाच्य एवं व्यङ्ग्य का तुल्य-प्राधान्य या सन्दिग्धप्राधान्य होता है ।

।2। गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य -

श्री विश्वनाथ ने आचार्य मम्मट की सरणि पर गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य के "अष्टविध-विभाजन" को उसी रूप में स्वीकार करते हुए गुणीभूत-व्यङ्ग्य काव्य का लक्षण इस प्रकार दिया है --

---

1- काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यङ्ग्यं चेति द्विधा मतम् । --सा०दर्पण०परि०पृ०279

2- यदि हि अव्यङ्ग्यमत्वेन व्यङ्ग्याभावस्तदा ।
तस्य काव्यत्वमपि नास्ति नास्तीति ।। --सा०दर्पण०परि०पृ०332

3- इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ।
--का०प्र०उ० 1/4 पृ० 28

"अपरं तु गुणीभूतव्यङ्ग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यङ्ग्ये ।
तत्र स्यादितराङ्गं काक्वाक्षिप्तं च वाच्यसिद्ध्यङ्गम् ।।
सन्दिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्यमस्फुटमगूढम् ।
व्यङ्ग्यमसुन्दरमेवं भेदास्तस्योदिता अष्टौ ।।"

--सा० दर्पण 4/13, 4/14

साहित्यदर्पणकार का प्रस्तुत लक्षण एवं अष्टविध-विभाजन, विवेचन की दृष्टि से मम्मट के मत से साम्य रखता है ।

आचार्य मम्मट ने गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य की परिभाषा[1] में "अतादृशि" पद का प्रयोग वाच्यार्थ की अपेक्षा "कम चारुत्वयुक्त" अर्थ में किया था, इसी प्रकार श्री विश्वनाथ ने कहा है --

"अपरं काव्यम् । अनुत्तमत्वं न्यूनतया साम्ये च सम्भवति ।"

--सा०दर्पण चतु०परि० पृ० 319

अर्थात् "अपरम्" का अभिप्राय है -- "ध्वनि-काव्य से भिन्न काव्य", तथा "अनुत्तमत्वम्" पद का अभिप्राय है -- "वाच्यार्थ की अपेक्षा न्यूनता या समता के कारण अधिक चारुत्वयुक्त न होना ।"

श्री विश्वनाथ ने मम्मट की तरह पर गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य के आठ-भेदों को माना है । गुणीभूतव्यङ्ग्य के -- अपरस्याङ्ग, तुल्यप्राधान्य, सन्दिग्धप्राधान्य, काक्वाक्षिप्त एवं असुन्दर भेदों के

1- अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् ।

--का०प्र०उ० 1/5पृ029

उदाहरण एवं सम्बद्ध विवेचन आचार्य मम्मट प्रणीत "काव्य-प्रकाश" जैसा ही दिया है ।[1] अतः उनको यहाँ प्रस्तुत करना पुनरुक्ति मात्र है । वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य, अत्यन्त गूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य एवं अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य भेदों के उदाहरण, काव्यप्रकाश से भिन्न होते हुए भी विवेचन की दृष्टि से मम्मट के उदाहरणों से साम्य रखते हैं ।[2]

आचार्य मम्मट ने लक्षणामूलाध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमित तथा अत्यन्ततिरस्कृत भेदों के अगूढ होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य-भेद माना है ।[3] अभिधामूलाध्वनि में व्यङ्ग्यार्थ के शब्दतः वाच्य होने पर अगूढ गुणीभूत-व्यङ्ग्य-भेद माना है ।[4]

1- द्रष्टव्य -

1.1- अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण--सा०दर्पण चतु०परि०पृ०320

1.2- काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य का विवेचन --सा०दर्पणचतु०परि०पृ० 323

1.3- सन्दिग्धप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का विवेचन --सा०दर्पणचतु०परि०पृ०324

1.4- तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का विवेचन --सा०दर्पणचतु०परि०पृ० 325

1.5- असुन्दर गुणीभूतव्यङ्ग्य का विवेचन --सा०दर्पणचतु०परि०पृ० 327

2.1- वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का विवेचन--सा०दर्पणचतु०परि०पृ०324

2.2- अत्यन्तगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य का विवेचन -- सा०दर्पणचतु०परि०पृ०326

2.3- अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य का विवेचन -- सा०दर्पणचतु०परि०पृ०326

3.1- अत्र "जीवतु" इत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य ।--का०प्र०पं०उ०पृ० 197

3.2- अत्र चुम्बनस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य । --का०प्र०पं०उ०पृ० 198

4- अत्र "कैनाप्यत्र" इत्यर्थशक्तिमूलानुरणनरूपस्य ।
"तस्याप्यत्र" इति युक्तः पाठः ।

--का०प्र०पं०उ०पृ० 199

श्री विश्वनाथ ने अगूढ़ गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्वरूप विवेचन मम्मट की सरणि पर ही किया है[1] परन्तु उसके भेदों के विषय में कुछ भी स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है ।

कविराज विश्वनाथ ध्वनिकार एवं मम्मट के अनुयायी थे । मम्मट के गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के "अष्टविध-विभाजन" को पूर्णतया स्वीकार करते हुए भी वे गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के कुछ अन्य स्थलों का उल्लेख करते हुए कहते हैं --

" किञ्च यो दीपकतुल्ययोगितादिषूपमाद्यलङ्कारो व्यङ्ग्यः स गुणीभूत-व्यङ्ग्य एव । काव्यस्य दीपकादिमुखेनैव चमत्कारविधायित्वात् । यदुक्तं ध्वनिकृता --

"अलंकारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते ।
तत्परत्वं न काव्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः ।।"--ध्व02/27
--सा0दर्पण चतु0परि0पृ0 328

उनकी उपर्युक्त पंक्तियां से ऐसा लगता है कि वे दीपक, तुल्ययोगिता आदि अलंकारों के स्थल को मम्मट के अष्टविध-विभाजन में अन्तर्भूत होने की सम्भावना नहीं देखते हैं और इसीलिये ध्वनिकार के द्वारा गुणीभूतव्यङ्ग्य के रूप में प्रतिपादित इन समस्त स्थलों का अलग से उल्लेख करते हैं । वास्तविकता यह है कि ध्वनिकार द्वारा प्रतिपादित

1- अत्र प्रतीयमानोऽपि शाक्य मुनेस्तिर्यग्योषिति बलात्कारोपभोगः स्फुटतया वाच्यमान इत्यगूढ़ । --सा0दर्पण चतु0परि0पृ0326

नोट:- यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि यद्यपि विश्वनाथ ने अस्फुट एवं अगूढ़ गुणीभूतव्यङ्ग्य के मम्मट से भिन्न उदाहरण प्रस्तुत किये हैं परन्तु वे विवेचन की दृष्टि से मम्मट के मत से साम्य रखते हैं ।

ये दीपक, तुल्ययोगिता आदि अलंकारों के स्थल मम्मट के गुणीभूतव्यङ्ग्य के आठ भेदों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं ।

ध्वनिकार द्वारा निर्दिष्ट अलंकारों का मम्मट-सम्मत अष्टविध-विभाजन में अन्तर्भाव की सम्भावना --

मम्मट ध्वनिकार के अनुयायी थे । अतः यदि ध्वनिकार द्वारा निर्दिष्ट अलंकारों का मम्मट द्वारा निर्दिष्ट गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य के अष्टविध-विभाजन की दृष्टि से विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होता है कि ध्वनिकार ने गुणीभूतव्यङ्ग्य से सम्बद्ध अलंकारों की पाँच कोटियाँ की हैं --

।क। प्रथम कोटि उन सादृश्यमूलक अलंकारों की है जिनमें "व्यङ्ग्य-सादृश्य" के कारण ही चमत्कार उत्पन्न होता है[1] परन्तु वह सादृश्य वाच्यरूप अलंकारों का उपकारक होता है । सभी सादृश्यमूलक अलंकार-तुल्ययोगिता, निदर्शना आदि तथा उपमा व्यङ्ग्यके स्थल, जैसे --दीपक आदि में, व्यङ्ग्य उपमा वाच्यरूप अलंकार की उपकारक होती है । अतः उपर्युक्त अलंकारों को मम्मट निर्दिष्ट गुणीभूतव्यङ्ग्य के अपरस्याङ्ग भेद के अन्तर्गत रखा जा सकता है । अतः अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है ।

1- येषु चालंकारेषु सादृश्यमुखेन तत्त्वप्रतिलम्भः यथा-रूपकोपमातुल्ययोगिता-निदर्शनादिषु, तेषु गम्यमानधर्ममुखेनैव यत् सादृश्यं तदेव शोभातिशयशालि भवतीति ते सर्वेऽपि चारुत्वातिशययोगिनः सन्तो गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यैव विषयाः ।

--ध्व०पृ०उ०पृ० ।।49

[ख] द्वितीय कोटि उन वस्तुव्यञ्जनामूलक अलंकारों की होती है, जिनमें "गम्य औपम्य" के कारण ही इन अलंकारों की स्वरूप व्यवस्था होती है, जैसे -- समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्त आदि ।[1] इन अलंकारों में यदि व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ का उपकारकमात्र होता है तो इनका अन्तर्भाव अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य भेद के अन्तर्गत हो सकता है । जैसे-- समासोक्ति, आक्षेप आदि । यदि व्यङ्ग्यार्थ एवं वाच्यार्थ की समान रूप से प्रधानता होती है तो उनको "तुल्यप्राधान्य" कोटि के अन्तर्गत रखा जा सकता है । प्रस्तुत मत को आगे ध्वनिकार एवं मम्मट के तात्पर्यों के आधार पर सिद्ध किया जायेगा ।

[ग] तृतीय कोटि उन अलंकारों की होती है, जिनमें किसी विशेष अलंकार में कोई विशेष अलंकार व्यङ्ग्य रूप से गर्भित रहता है । जैसे -- व्याजस्तुति में प्रेयो लंकार व्यङ्ग्य रूप से सदैव गर्भित रहता है ।[2]

[घ] चतुर्थ कोटि के गुणीभूत-व्यङ्ग्य से सम्बद्ध वे अलंकार होते हैं, जिनमें कोई एक अलंकार सामान्य रूप से पोषक-तत्त्व के रूप में गर्भित रहता है ।

ध्वनिकार के इस कथन को लोचनकार ने इस रूप में समझाया

1- समासोक्त्याक्षेपपर्यायोक्तादिषु तु गम्यमानांशाविनाभावेनैव तत्त्व-व्यवस्थानाद् गुणीभूतव्यङ्ग्यता निर्विवादैव ।

--ध्व०लो०उ०पृ० 149

2- तत्र च गुणीभूतव्यङ्ग्य तायामलङ्कारणां केषाञ्चिदलङ्कारविशेष - गर्भतायां नियमः । यथा- व्याजस्तुते प्रेयोऽलङ्कारगर्भत्वे ।

--ध्व०लो०उ०पृ० 149

है कि " औपम्य सर्वसामान्य अलंकार है ।"[1] ध्वनिकार ने कहा है, जैसे -- संदेहादि में उपमा गर्भित रहती है ।[2] इसी प्रकार ध्वनिकार एवं लोचनकार दोनों के मतों से यह तथ्य निकलता है कि औपम्यमूलक अलंकार रूपक, व्यतिरेक आदि संदेह अलंकार में सामान्य रूप से गर्भित रहते हैं ।

18. । पंचम कोटि के गुणीभूतव्यङ्ग्य से सम्बद्ध वे अलंकार होते हैं, जो एक दूसरे में व्यङ्ग्य रूप से गर्भित रहते हैं, जैसे दीपक में उपमा व्यङ्ग्य रूप से गर्भित रहती है अर्थात् उपमा दीपक की उपकारक होती है तथा मालोपमा में दीपक व्यङ्ग्य रूप से गर्भित रहता है ।[3]

वस्तुतः आचार्य मम्मट ध्वनिकार के अनुयायी थे । उन्होंने गुणीभूतव्यङ्ग्य - काव्य के स्वरूप की व्याख्या ध्वनिकार की ही सरणि पर की है । उन्होंने अलंकारों के स्वरूप के आधार पर गुणीभूतव्यङ्ग्य - काव्य प्रकार का विभाजन न करके, वाक्य में व्यङ्ग्यार्थ एवं वाच्यार्थ की प्राधान्येन तथा अप्राधान्येन स्थिति के आधार पर किया है । इस प्रकार अब हम देखेंगे कि ध्वनिकार द्वारा निर्दिष्ट अलंकारों का, मम्मट द्वारा निर्दिष्ट गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य के अष्टविध-विभाजन में ही अन्तर्भाव हो जाता है ।

1- उपमागर्भत्व इत्युपमाशब्देन सर्वे तद्विशेषा रूपकादयः, अथवौपम्यं सर्वसामान्यमिति ।

--ध्व०लो०पृ०उ०पृ० ।153

2- केषाञ्चिदलङ्कारमाश्रगर्भतायां नियमः । यथा - संदेहादीनामुपमागर्भत्वे । --ध्व०पृ०उ०पृ० ।149

3- केषाञ्चिदलङ्कारणां परस्परगर्भतापि सम्भवति । यथा-दीपकोपमयोः । दीपकमुपमागर्भत्वेन प्रसिद्धम् । उपमापि कदाचिद्दीपकच्छायानुयायिनी । यथा- मालोपमा ।

--ध्व०पृ०उ०पृ० ।149

आचार्य मम्मट ने गुणीभूतव्यङ्ग्य - काव्य के आठ भेद माने हैं --अगूढ, अपरस्याङ्ग, वाच्यसिद्ध्यङ्ग, सन्दिग्धप्राधान्य, तुल्यप्राधान्य, काक्वाक्षिप्त तथा असुन्दर ।[1]

(क) अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य -

जो व्यङ्ग्यार्थ अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण सर्वजन-संवेद्य होता है तथा वह वाच्य के समान ही होने के कारण अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य होता है ।[2]

(अ) उत्प्रेक्षा अलंकार -

जैसा कि पहले प्रतिपादित किया गया है कि "उत्प्रेक्षा अलंकार में सादृश्य रूप व्यङ्ग्य के कारण ही उपमेय की उपमान के साथ सम्भावना हो सकती है ।" जब उत्प्रेक्षा इव, मन्ये, शङ्के आदि उत्प्रेक्षावाचक शब्दों द्वारा शब्दतः कथित होती है तथा व्यङ्ग्य अत्यन्त स्पष्ट होता है, तब वह अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य कोटि में आता है ।

(ख) अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य -

जहाँ रसादि रूप व्यङ्ग्य, वस्तु व्यङ्ग्य अथवा अलंकार रूप व्यङ्ग्य, अन्य किसी प्रधानीभूत व्यङ्ग्य अथवा प्रधान वाक्यार्थ का अंग हो वहाँ अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य होता है ।[3]

1- अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ।।
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः ।--का०प्र०पं०उ०सू० 98

2- अगूढं तु स्फुटतया वाच्यायमानमिति गुणीभूतमेव ।--का०प्र०पं०उ०सू० 97

3- अपरस्य रसादेर्वाच्यस्य वा वाक्यार्थीभूतस्य अङ्गं रसादि अनुरणनरूपं वा ।
--का०प्र०पं०उ०सू० 99

आचार्य मम्मट की व्याख्या के अनुसार जितने भी उपमा व्यङ्ग्य के स्थल हैं, वे अपरस्याङ्ग के स्थल हो सकते हैं क्योंकि व्यङ्ग्य उपमा वाच्यालंकार की उपकारक होती है । इस प्रकार अपरस्याङ्ग व्यङ्ग्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है । ध्वनिकार ने स्वयं समासोक्ति, आक्षेप, दीपक आदि अलंकारों में, उपमा को वाच्यालंकार उपकारक कहा है ।

(अ) समासोक्ति अलंकार -

समासोक्ति अलंकार में प्रकृत के व्यवहार में अप्रकृत के व्यवहार का आरोप होता है ।[1] आचार्य मम्मट ने स्वयं समासोक्ति अलंकार को अपरस्याङ्ग व्यङ्ग्य का स्थल माना है ।[2]

यहाँ पर प्रस्तुत निरपेक्ष रवि-कमलिनी-व्यवहार वाच्य रूप है एवं अप्रस्तुत नायकनायिका-व्यवहार व्यङ्ग्य रूप है । वह वाच्य रूप रविकमलिनी के व्यवहार पर आरोपित होकर स्थित है तथा वाच्योपस्कारक होने के कारण अपरस्याङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग्य का स्थल है ।

अतः मम्मट के अपरस्याङ्ग व्यङ्ग्य भेद के अन्तर्गत समासोक्ति अलंकार का अन्तर्भाव सम्भव है । काव्य-प्रकाश के टीकाकार झलकीकर ने उद्योतकार के मत को उद्धृत किया है कि समासोक्ति अलंकार के स्थल,

---

1- परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः । --का0प्र0द0उ0पृ0 474सू0147

2- आगत्य सम्प्रति वियोगविसंष्ठुलाङ्गीमम्भोजिनीं,
   क्वचिदपि . . . . . .पादपातेन सहस्ररश्मिः ।।
   अत्र नायकवृत्तान्तोऽर्थशक्तिमूलो वस्तुरूपो निरपेक्षरविकमलिनी-
   वृत्तान्तमाध्यारोपेणैव स्थितः । --का0प्र0पं0उ0पृ0 207

अपरस्याङ्ग गुणीभूत-व्यङ्ग्य काव्य के स्थल हैं ।[1]

।4। आक्षेप अलंकार -

आक्षेप अलंकार में "जो बात कहना चाहते हैं उसमें विशेषाभिधित्सया अर्थात् विशेष उत्कर्ष प्रकट करने के लिये, उसका ।1। वक्ष्यमाणविषयक ।2। उक्त विषयक, दो रूप से निषेध कर दिया जाता है ।"[2]

अत: यहाँ पर यद्यपि वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ विशेष का आक्षेप कर लिया जाता है परन्तु व्यङ्ग्यार्थ, वाच्यार्थ के चारुत्व की पुष्टि करने के कारण, वाच्यार्थ का अंग अर्थात् उपकारक हो जाता है तथा आक्षिप्त उक्ति के द्वारा प्रधान वाच्यार्थ की पुष्टि होती है ।[3] अत: आक्षेप अलंकार मम्मट के "अपरस्याङ्ग व्यङ्ग्य" भेद के अन्तर्गत आता है । विद्याधर की "एकावली" में अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य

1- अत्र प्रकृतव्यवहारः, अप्रकृतवृत्तान्तो व्यज्यमानो वाच्ये प्रकृत - व्यवहारे भिन्नतया आरोप्यमाणो वाच्योत्कर्षमेवावहति, इत्यङ्ग-त्वेनास्ते न तु प्रधानतयेति न ध्वनि व्यवहारः किंतु अपराङ्गव्यङ्ग्य-रूपगुणीभूतव्यङ्ग्यव्यवहार एव, अत एव "आगत्य संप्रति" इत्यादौ अपराङ्गव्यङ्ग्ये मध्यमकाव्ये "अयमेव समासोक्त्यलंकारः" इत्युक्तमुपोत्तकारैः । --का0प्र0 झलकीकर टीका पं0उ0पृ0613

2- निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ।।सू0160 वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः । --का0प्र0द0उ0पृ0497

3- आक्षेपेऽपि व्यङ्ग्यविशेषाक्षिप्तोऽपि वाच्यस्यैव चारुत्वं प्राधान्येन वाक्यार्थ आक्षेपोक्तिसामर्थ्यादेव ज्ञायते ।

--ध्व0उ0पृ0 189

इस स्थल पर आक्षेप अलंकार का उदाहरण भी इस कथन की पुष्टि करता है ।[1]

॥ख॥ दीपक अलंकार -

दीपक अलंकार में "गम्य औपम्य" अर्थात् साधर्म्य के कारण ही प्रकृत तथा अप्रकृत के धर्मों का एक बार ग्रहण किया जाता है ।[2]

ध्वनिकार के अनुसार भी दीपक में, उपमा सामान्य रूप से गर्भित रहती है । अतः दीपक गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है,[3] क्योंकि यद्यपि दीपक अलंकार में उपमा की प्रतीति व्यङ्ग्य रूप होती है परन्तु उसकी प्राधान्यरूप से विवक्षा न होने के कारण वाच्य रूप दीपक की प्रधानता होती है ।[4] उपमा केवल दीपक की शोभाकारक तथा चारुत्वोपस्कारक होती है । जैसा कि काव्यप्रकाश के टीकाकार झलकीकर ने स्पष्ट रूप से कहा है कि " दीपक अलंकार में उपमा इवादि वाचक शब्दों का शब्दतः कथन नहीं होता है अतः उपमा, व्यङ्ग्य होती है

1- "एतेनोक्तवस्तु विषय आक्षेपालंकारभेदोऽयमित्युक्तम् ।

--एकावली वृ०3०पृ०13।

2- सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ।। --का०प्र०द०उ०सू०155पृ०487

3- केषाञ्चिदलङ्काराणां परस्परगर्भतापि सम्भवति ।
यथा- दीपकोपमयोः । --ध्व०तृ०उ०पृ० ।149

4- यथा च दीपकापह्नुत्यादौ व्यङ्ग्यत्वेनोपमायाः प्रतीतावपि
प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न तया व्यपदेशः ।

--ध्व०तृ०उ०पृ० 196

तथा यह व्यङ्ग्योपमा वाच्योपस्कारक होती है ।"[1] अतः दीपक अलंकार अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

(ट) निदर्शना अलंकार -

निदर्शना अलंकार में व्यङ्ग्य उपमा के कारण ही चमत्कार उत्पन्न होता है[2] परन्तु चमत्कार का पर्यवसान उपमा में न होकर "असम्बद्ध वस्तुओं के सम्बन्ध एवं अभेद प्रतीति" में ही होता है । कल्पित औपम्य के द्वारा ही वाच्यरूप निदर्शना में चमत्कार का पर्यवसान होता है । अतः निदर्शना अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य-भेद में अन्तर्भूत हो सकती है ।[3]

(घ) तुल्ययोगिता अलंकार -

दीपक अलंकार के समान तुल्ययोगिता में भी उपमा व्यङ्ग्य होती है[4] तथा व्यङ्ग्य उपमा के कारण ही वाच्यरूप तुल्ययोगिता में

1- सा चोपमा व्यङ्ग्यैव वाचक (इवादिशब्द विरहात्)
व्यङ्ग्याया अप्यस्याः वाच्योपस्कारकत्वात् गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम् ।
--का0प्र0झलकीकर टीका पृ0 639

2- निदर्शना अभवन् वस्तु सम्बन्ध उपमापरिकल्पकः ।--का0प्र0द0उ0पृ0474

3- न च निदर्शनाविषये व्यङ्ग्योपमयैवास्तु चमत्कार इति वाच्यम्
असम्भेदप्रतीतिकृतचमत्कारस्यैव सत्त्वात् कल्पितोपम्यमूलिकया
पर्यवसन्नया तथैव चमत्कार इत्याशयात् ।
--का0प्र0 झलकीकर टीका पृ0 615

4- नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ।। सू0 157
नियतानां प्राकरणिकानामेव अप्राकरणिकानामेव वा ।
--का0प्र0द0उ0पृ0 490

चारुत्ववृद्धि होती है अतः उपमा वाच्योपस्कारक होती है । अतः तुल्ययोगिता भी अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य -भेद के अन्तर्गत आ सकती है ।

(ट) व्याजस्तुति अलंकार -

व्याजस्तुति अलंकार को भी ध्वनिकार ने गुणीभूतव्यङ्ग्य का विषय कहा है[1] क्योंकि व्याजस्तुति में प्रादुर्भूत हुए प्रेयोऽलंकार के कारण ही चमत्कार उत्पन्न होता है परन्तु प्रेयोऽलंकार व्यङ्ग्य रूप से उपकारक होता है[2] तथा वाच्य रूप "निन्दा के बहाने स्तुति में पर्यवसान होने के कारण वाच्य की प्रधानता होती है" अतः व्याजस्तुति अलंकार अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य कोटि में आता है ।

(ग) वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य -

आचार्य मम्मट के अनुसार यदि वाच्यार्थ व्यङ्ग्यार्थसापेक्ष हो, व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की सिद्धि के लिये उसका अंग बनता है तो वह वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य कहलाता है ।[3]

(अ) रूपक अलंकार -

ध्वनिकार ने रूपक अलंकार को गुणीभूतव्यङ्ग्य का विषय

1- तत्र च गुणीभूतव्यङ्ग्यतायामलंकाराणां केषाञ्चिदलङ्कारविशेषगर्भतायां नियमः । यथा- व्याजस्तुतेः प्रेयोऽलङ्कारगर्भत्वे ।--ध्व०तृ०उ०पृ० ।49

2- यत्तु प्रेयोऽलंकारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्ते . . .
--ध्व०द्वि०उ०पृ० 403

3- यत्र पुनर्व्यङ्ग्यं विना वाच्यमेवात्मानं न लभते तत्र वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वमिति व्यङ्ग्यतापेक्षनिरपेक्षसिद्धिभ्यामनयोर्भेद इति द्रष्टव्यम् ।
--का०प्र०झलकीकर टीका पृ०205

कहा है क्योंकि रूपक अलंकार में व्यङ्ग्य सादृश्य के कारण ही चमत्कार उत्पन्न होता है ।

आचार्य मम्मट ने श्लिष्ट परम्परित रूपक अलंकार को वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल के रूप में उद्धृत किया है क्योंकि मम्मट के " भ्रमिमरतिमलसहृदयतां " प्रस्तुत उदाहरण में "विष " पद श्लिष्ट है, जिससे "जल" एवं हालाहल रूप दो अर्थ निकल रहे हैं ।[1] एवं व्यङ्ग्य "हालाहल" रूप अर्थ "जलदभुजगजं" द्वारा वाच्य रूपक की सिद्धि करता है ।

इसी प्रकार रूपक स्थल में जहाँ पर भी "व्यङ्ग्य सादृश्य" रूपक की सिद्धि का आवश्यक अंग होता है, वह वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूत-व्यङ्ग्य-काव्य के अन्तर्गत आयेगा ।

।च। अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य -

जो व्यङ्ग्य अत्यन्त गूढ होने के कारण सहृदयों के लिये भी शीघ्र प्रतीतिगम्य नहीं होता है, वह भी चमत्कारजनक न होने के कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य कहलाता है ।[2]

।अ। गम्योत्प्रेक्षा अलंकार -

जब उपमेय की उपमान रूप से सम्भावना गम्य हो अर्थात्

1- अत्र जलद इव भुजग इति रूपकं वाच्यं तावत् न सिद्ध्यति यावत् विषमित्यनेन जलात्मकेन हालाहलं न व्यज्यते, इति वाच्यसिद्ध्यङ्गम्।

—का०प्र०झलकीकर टीका पृ० 206

2- अस्फुटं सहृदयानामपि दुःसंवेद्यम् ।

—का०प्र०झलकीकर टीका पृ० 190

उत्प्रेक्षा वाचक इव, मन्ये शंके ध्रुवं आदि शब्दों का शब्दतः कथन न हो इस कारण उत्प्रेक्षा गम्य हो, ऐसे स्थल पर "व्यङ्ग्य सादृश्य" अत्यन्त गूढ होने के कारण अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल हो सकता है ।

(ब) <u>अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति अलंकार</u> -

अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति में फलोत्पत्ति का कारण अनुक्त होता है । अतः प्रकरण सामर्थ्य से व्यङ्ग्य की प्रतीति अत्यन्त विलम्ब से होती है, उसकी प्रतीति से कोई विशेष चमत्कार नहीं उत्पन्न होता है, अतः व्यङ्ग्य की प्रधानता नहीं होती है ।[1] अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का व्यङ्ग्य, अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य में अन्तर्भूत हो सकता है क्योंकि व्यङ्ग्य अनुक्त होने के कारण अत्यन्त गूढ होता है ।

(5) <u>तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य</u> -

आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ समान रूप से सुन्दर हों, तो उसे तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य कहते हैं । जब वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ की समकालिक प्रतीति होती है,[2] वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ पृथक्-पृथक् विश्रान्त होते हैं, उन्हें किसी की अपेक्षा नहीं होती है[3], तब वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ की तुल्यप्रधानता रूप

1- इत्यादौ व्यङ्ग्यस्य प्रकरणसामर्थ्यात् प्रतीतिमात्रम् न तु तत्प्रतीतिनिमित्ता काचिच्चमत्कृतिनिष्पत्तिरिति न प्राधान्यम् ।
—का०प्र०उ०पृ० 197

2- वाच्यस्य दौर्मनस्यलक्षणस्य रसः शमलक्षणस्य व्यङ्ग्यस्य च समकालप्रतीत्या तुल्यं प्राधान्यमित्यर्थः । —का०प्र०बालबोधिनीटीकापृ० 160

3- न च तुल्यप्राधान्यता । पृथग्विश्रामाभावादिति भाव इत्युद्योते स्पष्टम् । —का०प्र०प्रभाकरटीका पृ०209

गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल होता है ।

(3) अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार -

जैसा कि प्रतिपादित किया जा चुका है कि अप्रस्तुतप्रशंसा में, कार्य-कारण एवं सामान्य-विशेष-भाव सम्बन्ध के कारण अप्रस्तुत के कथन के द्वारा प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होती है ।[1] अतः ध्वनिकार ने स्पष्ट रूप से कहा है कि अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार में वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ का समप्राधान्य होता है क्योंकि अप्रस्तुत कथन का पर्यवसान प्रस्तुत में होता है । सामान्य और विशेष में व्यापक-व्याप्य-भाव का सम्बन्ध होता है । बिना सामान्य के विशेष नहीं रह सकता है, अतः विशेष अंश के, सामान्य के द्वारा व्याप्त होने के कारण जिस प्रकार विशेषपरक व्यङ्ग्यार्थ प्रधान होता है उसी प्रकार सामान्यपरक वाच्यार्थ भी प्रधान होता है ।[2] सामान्य एवं विशेष दोनों की एक साथ प्रधानता विरुद्ध नहीं कही जा सकती है ।

इस प्रकार ध्वनिकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि

1- अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया । सू0 150
कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति ।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा ॥--का0प्र0द0उ0सू0476

2- अप्रस्तुतप्रशंसायामपि यदा सामान्यविशेषभावान्निमित्तनिमित्ति-भावाद्वा अभिधीयमानस्याप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनाभिसम्बन्धः तदाऽभिधीयमानप्रतीयमानयोः सममेव प्राधान्यम् । यदा तावत्सामान्यस्याप्रस्तुतस्याभिधीयमानस्य प्राकरणिकेन विशेषेण प्रतीयमानेन सम्बन्धस्तदा विशेषप्रतीतौ सत्यामपि प्राधान्येन तत्सामान्येनाविनाभावात् सामान्यस्यापि प्राधान्यम् ।

--ध्व0उ0पृ0 221

अप्रस्तुतप्रशंसा में वाच्य एवं व्यङ्ग्य की समान रूप से प्रधानता होती है । अतः इसका तुल्यप्राधान्य गुणीभूत-व्यङ्ग्य-काव्य में अन्तर्भाव हो सकता है ।

यदि समान रूप वाले वाच्य (अप्रस्तुत) की प्रधान रूप से विवक्षा न हो तो, केवल व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता होने के कारण उसे "ध्वनि" का स्थल मानेंगे ।[1]

(ख) संकर अलंकार -

संकर अलंकार के तीन प्रकार होते हैं । सन्देह संकर, अनुग्राह्य - अनुग्राहक संकर एवं एकाश्रयानुप्रवेश संकर । एकाश्रयानुप्रवेश संकर में व्यङ्ग्यार्थ की सम्भावना न होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्यता सम्भव नहीं है ।[2]

(1) सन्देह संकर -

जैसा कि प्रतिपादित किया जा चुका है, सन्देह संकर अलंकार में, एक साथ दो या अधिक अलंकारों की सम्भावना होने पर साधक-बाधक प्रमाणों के अभाव में किसी की वाच्यता एवं व्यङ्ग्यता निर्धारित नहीं होती है ।[3] चूंकि दोनों अलंकारों में से किसी की प्रधानता या अप्रधानता निर्धारित नहीं हो पाती है, अतः ध्वनिकार

1- यदा तु सारूप्यमात्रवशेनाप्रस्तुतप्रशंसायामप्रकृतप्रकृतयोः सम्बन्धस्तदाप्य-प्रस्तुतस्य सरूपस्याभिधीयमानस्य प्राधान्येनाविवक्षायां ध्वनावेवान्तः-पातः ।   --ध्व0तृ0उ0पृ0 225

2- योऽपि द्वितीयः प्रकारः शब्दार्थालङ्काराणामेकत्र भाव इति तत्रापि प्रतीयमानस्य वा शङ्का ।   --ध्व0लो0तृ0उ0पृ0 215

3- एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावदनिश्चयः ।--का0प्र0द0उ0सू0208, पृ0589

ने भी "अलंकारद्वय की सम्भावना" होने पर वाच्य एवं व्यङ्ग्य का "समप्राधान्य" माना है ।[1] अतः सन्देह-संकर अलंकार मम्मट-सम्मत, तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य के अन्तर्गत आ सकता है ।

।2। अनुग्राह्य-अनुग्राहक संकर अलंकार -

अनुग्राह्य-अनुग्राहक अलंकार में, अनुग्राहक अलंकार, उपकारक होता हुआ अनुग्राह्य अलंकार में चारुत्ववृद्धि करता है और पुनः अनुग्राह्य अलंकार, अनुग्राहक अलंकार का उपकारक होता है । इस प्रकार दोनों अलंकार परस्पर एक दूसरे के उपकारक होते हैं ।[2] अतः दोनों अलंकारों का समप्राधान्य होता है । अतः अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव संकर अलंकार के स्थल, मम्मट सम्मत "तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य" के स्थल हो सकते हैं ।

अनुग्राह्य-अनुग्राहक-भाव रूप अङ्गाङ्गिभाव संकर अलंकार के स्थल पर एक प्रश्न विचारणीय है कि लोचनकार आचार्याभिनवगुप्त ने अनुग्राह्य-अनुग्राहक-भाव संकर अलंकार के उदाहरण के रूप में निम्न पद्य को उद्धृत किया है --

"प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या ।
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः ॥"

--ध्व०लो०उ०पृ० 218

1- अलङ्कारद्वयसम्भावनायां तु वाच्यव्यङ्ग्ययोः समं प्राधान्यम् ।

--ध्व०ग्र०उ०पृ० 214

2- उपमा यद्यपि व्यङ्ग्या, तथापि वाच्यस्य सा सन्देहालङ्कारस्या-भ्युत्थानकारिणीत्येनानुग्राहकत्वाद्गुणीभूता, अनुग्राह्यत्वेन हि सन्देहे पर्यवसानम् ।

--ध्व०लो०उ०पृ०218

प्रस्तुत उदाहरण में उपमालंकार व्यङ्ग्य है एवं वाच्य रूप सन्देहालंकार की चारुत्वपुष्टि में उपकारक होने के कारण अनुग्राहक अतएव गुणीभूत हो गयी है । वाच्य रूप सन्देह अलंकार में सौन्दर्य का पर्यवसान हो रहा है अतएव वह अनुग्राह्य अर्थात् प्रधान है ।[1]

अलंकारों की गुणीभूतता के सन्दर्भ में आनन्दवर्धनाचार्य ने स्पष्टतः कहा है कि जितने भी सादृश्यमूलक अलंकार हैं, उनमें उपमा रूप व्यङ्ग्य सादृश्य ही शोभातिशयशाली होता है ।[2] रूपक, उत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता, निदर्शना आदि अलंकारों में व्यङ्ग्य उपमा, वाच्य रूप उत्प्रेक्षा, निदर्शनादि अलंकारों की उपकारक, अनुग्राहक अतएव गुणीभूत होती है । वाच्य रूप अलंकार ही अनुग्राह्य अतएव प्रधान होता है ।

इस प्रकार यदि ध्वनिकार एवं लोचनकार के मतों का अवलोकन किया जाय तो दोनों के मतों में साम्य नहीं प्रतीत होता है क्योंकि यदि अभिनवगुप्त के मतानुसार अनुग्राहक उपमा व्यङ्ग्य एवं अनुग्राह्य, प्रधान वाच्यालंकार के स्थल अनुग्राह्य-अनुग्राहक संकर अलंकार के स्थल माने जायेंगे तो सभी सादृश्यमूलक अलंकारों में व्यङ्ग्य उपमा

1- अत्र मृगाङ्गनावलोकेन तदवलोकनस्योपमा यद्यपि व्यङ्ग्या, तथापि वाच्यस्य सा सन्देहालङ्कारस्याभ्युत्थानकारिणीत्वेनानुग्राहकत्वाद्-गुणीभूता, अनुग्राह्यत्वेन हि सन्देहे पर्यवसानम् ।

—ध्व०लो०तृ०उ०पृ० 218

2- येषु चालङ्कारेषु सादृश्यमुखेन तत्त्वप्रतिलम्भः यथा रूपकोपमा-तुल्ययोगितानिदर्शनादिषु, तेषु गम्यमानधर्ममुखेनैव यत् सादृश्यं तदेव शोभातिशयशालि भवतीति ते, सर्वेऽपि चारुत्वातिशययोगिनः सन्तो गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यैव विषयाः ।

—ध्व०तृ०उ०पृ० 1149

के अनुग्राहक होने के कारण सभी सादृश्यमूलक अलंकार अनुग्राह्य-अनुग्राहक संकर अलंकार के स्थल होंगे ।

यद्यपि लोचनकार ने अनुग्राह्य-अनुग्राहक अलंकार की परिभाषा के स्थल पर व्यङ्ग्य एवं वाच्य अलंकारों की अनुग्राहकता तथा अनुग्राह्यता का उल्लेख नहीं किया है, केवल अलंकारों की परस्पर उपकारकता तथा सापेक्षता का उल्लेख किया है ।[1] आचार्य मम्मट ने भी अनुग्राह्य - अनुग्राहक संकर अलंकार में व्यङ्ग्यालंकार की अनुग्राहकता का उल्लेख नहीं किया है । आचार्य मम्मट के अङ्गाङ्गिभाव संकर अलंकार का लक्षण आचार्य अभिनवगुप्त के लक्षण से साम्य रखता है तथा मम्मट के अङ्गाङ्गिभाव संकर के उदाहरण में दोनों अलंकार तद्गुण एवं भ्रान्तिमान वाच्य हैं ।[2] अतः यह गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल नहीं हो सकता है ।

(ल) पर्यायोक्त अलंकार -

पर्यायोक्त अलंकार में भङ्ग्यन्तर द्वारा व्यङ्ग्य को वाच्य

1- परस्परोपकारेण यत्रालङ्कृतयः स्थिताः ।
स्वातन्त्र्येणात्मलाभं नो लभन्ते सोऽपि सङ्करः ।।
--ध्व0लो0पृ030पृ0 218

2- अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु सङ्करः । सू0 207
अनासादितस्वतन्त्रभावाः परस्परमनुग्राह्यानुग्राहकतां दधति ....।
"आत्तो सीमन्तरत्ने .....
शोणं बिम्बोष्ठकान्त्या त्वदरिमृगदृशामित्वरीणामरण्ये,
राजन् ! गुञ्जाफलानां स्रज इति शबरा नैव हारं हरन्ति ।।"
अत्र तद्गुणमपेक्ष्य भ्रान्तिमता प्रादुर्भूतम्, तदाश्रयेण च तद्गुणः सचेतसां प्रभूतचमत्कृतिनिमित्तम्, इत्यनयोरङ्गाङ्गिभावः ।

बनाने में ही वाक्य का पर्यवसान होता है ।[1] अतः व्यङ्ग्य वाच्य का उपकारक होने के कारण अप्रधान एवं वाच्य चमत्कारपूर्ण होने के कारण प्रधान हो जाता है क्योंकि इसमें वाच्य की गौणता विवक्षित नहीं रहती है ।[2]

कुछ आचार्यों के अनुसार पर्यायोक्त अलंकार में व्यङ्ग्य का प्राधान्य होता है । जैसा कि हम प्रस्तुत प्रबन्ध में देख चुके हैं, व्यङ्ग्य का प्राधान्य होने पर, ध्वनिकार ने उसे "ध्वनि" का स्थल कहा है ।[3]

अतः सम्पूर्ण तथ्यों के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि पर्यायोक्त अलंकार में सामान्यतः वाच्य चमत्कारपूर्ण होने के कारण प्रधान होता है परन्तु कुछ स्थलों पर व्यङ्ग्यार्थ भी समान रूप से चमत्कारपूर्ण होता है । अतः पर्यायोक्त अलंकार में ऐसे स्थलों पर वाच्य एवं व्यङ्ग्य दोनों के समप्राधान्य के कारण गुणीभूतव्यङ्ग्यता होती है। विद्याधर की "एकावली" में पर्यायोक्त अलंकार का स्थल प्रस्तुत करते हुए, उसमें वाच्य एवं व्यङ्ग्य दोनों को समान रूप से चमत्कारपूर्ण दर्शाते हुए तुल्यप्राधान्यता का निर्देश किया गया है ।[4]

1- पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः ।--का0प्र0द0उ0पृ0 74, पृ05।।

2- न पुनः पर्यायोक्ते भामहोदाहृतसदृशे व्यङ्ग्यस्यैव प्राधान्यम् ।
वाच्यस्य तत्रोपसर्जनाभावेनाविवक्षितत्वात् । --ध्व0प्र0उ0पृ0 203

3- पर्यायोक्तेऽपि यदि प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वम्, तद्भवतु नाम तस्य ध्वनावन्तर्भावः । --ध्व0प्र0उ0पृ0 203

4- अत्युत्कटेति अत्र पर्यायोक्तमलंकारः । तत्र वनादिपरिहाररूपं प्रस्तुतं कार्यं वाच्यं, तत्कारणं भर्तृमरणं व्यङ्ग्यं तयोश्चमत्कार-साम्यात् समप्राधान्यमित्याह ।
--एकावली तृ0उ0पृ0 141

अतः यदि पर्यायोक्त अलंकार में वाच्य एवं व्यङ्ग्य दोनों समान रूप से चमत्कारपूर्ण हों तो, उनका मम्मट निर्दिष्ट तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य में अन्तर्भाव हो सकता है ।

(द) दृष्टान्त अलंकार -

दृष्टान्त अलंकार में "गम्य औपम्य" के कारण ही, सर्वथा भिन्न होते हुए भी दृष्टान्त-वाक्य एवं दार्ष्टान्तिक वाक्य में पदार्थता का निश्चयरूप " बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव" सम्भव होता है ।[1]

दृष्टान्त अलंकार में दोनों अर्थ पृथक्-पृथक् रूप से विश्रान्त होते हैं तथा वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्य रूप औपम्य की समकालिक प्रतीति होती है । अतः दृष्टान्त अलंकार का अन्तर्भाव मम्मट द्वारा निर्दिष्ट तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य-भेद में हो सकता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य मम्मट द्वारा निर्दिष्ट गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य का "अष्टविध-विभाजन" युक्तियुक्त है । आनन्दवर्धन का गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य का विवेचन, "ध्वन्यालोक" में यत्र-तत्र बिखरा हुआ है । मम्मट ने "अष्टविध -विभाजन" द्वारा इसे व्यवस्थित रूप प्रदान किया, जिसमें ध्वनिकार द्वारा निर्दिष्ट गुणीभूतव्यङ्ग्य-संज्ञक अलंकारों एवं अन्य अप्रधान व्यङ्ग्य के स्थलों का समावेश हो जाता है ।

1- दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् ।

--सू० 154

एतेषां साधारणधर्मादीनाम् । दृष्टोऽन्तो निश्चयो यत्र स दृष्टान्तः ।

--का०प्र०उ०वृ० 486

रसगङ्गाधरकार - पण्डितराज जगन्नाथ --

आचार्य मम्मट के परवर्ती आचार्यों में कविराज विश्वनाथ के अनन्तर पण्डितराज जगन्नाथ ई०सन् 1620-1665ई०सन्[1] का महत्त्वपूर्ण स्थान है । अपनी तीव्र प्रखर बुद्धि के कारण उन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा पर्यालोचित विषयों की भी अत्यन्त मार्मिक एवं अन्तस्तलस्पर्शिनी आलोचना की है एवं पूर्णतया उचित प्रतीत होने वाले विषयों का भी अत्यन्त सुन्दर रीति से परिष्कार किया है ।

आनन्दवर्धनाचार्य ने केवल 1 ध्वनि एवं 2 गुणीभूत-व्यङ्ग्य, दो काव्य-भेद स्वीकार किये थे । आचार्य मम्मट ने ध्वनिकार के मत का परिष्कार करके "उत्तम, मध्यम एवं अवर" तीन काव्य-भेद स्वीकार किये । पण्डितराज जगन्नाथ गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य की रमणीयता एवं उच्चकोटिकता से अत्यन्त प्रभावित थे । अतः उन्हें गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य को " मध्यम " आख्या प्रदान करना उचित नहीं प्रतीत हुआ एवं उन्होंने गुणीभूतव्यङ्ग्य को "उत्तम-संज्ञा" प्रदान करने के लिये काव्य-भेदों का पुनर्विभाजन किया । इस प्रकार पण्डितराज काव्य के चार भेदों को मानते हैं -- उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम, एवं अधम ।[2]

इस सम्बन्ध में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि अपने सम्पूर्ण

1- द्रष्टव्य - संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास -

-- डा० पी०वी० काणे पृ० 399-400

2- तच्चोत्तमोत्तमोत्तममध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा ।

-- रस गं०प्र०आ०पृ० 37

विवेचन के अन्तर्गत वे कहीं भी "ध्वनि" एवं "गुणीभूतव्यङ्ग्य" शब्दों का प्रयोग नहीं करते हैं। यद्यपि पण्डितराज का "उत्तमोत्तम-काव्य" ध्वनिकार के "ध्वनि-काव्य" से अभिन्न है[1] तथा "उत्तम एवं मध्यम-काव्य" मम्मट द्वारा विवेचित गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

पण्डितराज द्वितीय, "उत्तम" काव्य-विधा का स्वरूप-निर्वचन करते हुए कहते हैं --

" यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद् द्वितीयम्।"

--रस गं० प्र०आ०पृ० 66

अर्थात् जिस काव्य में व्यङ्ग्य अप्रधान हो कर ही, चमत्कार का कारण हो, वह "उत्तम" नामक द्वितीय काव्य-भेद कहलाता है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने उत्तम-काव्य की परिभाषा में "एव" पद का प्रयोग "नियम अर्थ" में किया है, जिससे यह अर्थ व्यक्त होता है कि "उत्तम-काव्य का व्यङ्ग्यार्थ, प्रधानीभूत वाच्यार्थ एवं दूसरे प्रधान व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा अप्रधान होता है।[2] उसका प्राधान्य किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।" अप्रधान व्यङ्ग्यार्थ

1- "शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम्॥
--रस गं० 1/2

2. 1-तत्कथमत्र एवकारनिवेशस्य फलमाह- "वाच्यापेक्षया प्रधानीभूतं व्यङ्ग्यान्तरमादाय गुणीभूतं व्यङ्ग्यमादायातिव्याप्तिवारणायाः एवकारणम्। तेन तस्य ध्वनित्वमेव।" --रस गं०प्र०आ०पृ० 66

2. 2-यत्र यस्मिन् काव्ये। अप्रधानं व्यङ्ग्यान्तरापेक्षया वाच्यापेक्षया च गुणीभूतम्। एवकारो व्यावर्त्ये, तेन न क्वापि प्रधानमित्यर्थः।
--रस गं० व्याख्या प्र०आ०पृ० 66

प्रधानीभूत वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ एवं व्यङ्ग्यान्तर की अपेक्षा अप्रधान होते हुए भी अपने ज्ञान द्वारा काव्य का चारुत्वाधायक एवं रमणीयताजनक होता है ।

पण्डितराज जगन्नाथ का "उत्तम-काव्य" मम्मटसम्मत गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य से साम्य रखते हुए भी किंचित् भिन्न भी है । गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य में "व्यङ्ग्य, वाच्य की अपेक्षाअप्रधान होकर, वाच्य का ही चारुत्वोत्कर्षक होता है"। इस दृष्टि से मम्मट एवं पण्डितराज के मतों में साम्य है, परन्तु मम्मट ने तुल्यप्राधान्य एवं सन्दिग्धप्राधान्य स्थलों पर भी गुणीभूतव्यङ्ग्यता मानी है जबकि पण्डितराज ने उत्तम-काव्यलक्षण में सदैव व्यङ्ग्य की" अप्रधानता " ही स्वीकार की है, न तुल्यप्रधानता, न सन्दिग्धप्रधानता । इस दृष्टि से पण्डितराज के उत्तम-काव्य में मम्मट के गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य का अन्तर्भाव नहीं हो सकता है ।

पण्डितराज जगन्नाथ ने "लक्षणवाक्य" में "चमत्कारकारणं" पद का प्रयोग भी साभिप्राय किया है, जिससे ऐसे काव्य-प्रकार, जिनमें "लीनव्यङ्ग्यार्थ" अत्यन्त गूढ अर्थात् अस्पष्ट या असुन्दर होने के कारण चमत्कारजनक नहीं होता है तथा वाच्यचित्र काव्य-प्रकारों में उत्तम-काव्य की अतिव्याप्ति नहीं होगी ,[1] क्योंकि वाच्यचित्र नामक अधम काव्य-प्रकार में व्यङ्ग्यार्थ विद्यमान होते हुए भी चमत्कार-जनक न होने के कारण अविवक्षित होता है ।[2]

1- लीनव्यङ्ग्य - वाच्यचित्रातिव्याप्तिवारणाय चमत्कारेत्यादि ।
—रस गं० प्र०आ०पृ० 67

2- यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं, तदधमं चतुर्थम् ।
—रस गं० प्र०आ०पृ० 78

इस प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ का उत्तम काव्य-लक्षण, अन्य काव्य-भेदों से उसका व्यावर्तन भी करता है । चूँकि पण्डितराज ने उत्तम काव्य-लक्षण में "चमत्कारपूर्ण व्यङ्ग्य की प्रधानता" का स्पष्ट उल्लेख किया है, अतः मम्मट-सम्मत अगूढ़, अत्यन्त गूढ़ एवं असुन्दर गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेदों का उत्तम-काव्य में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है । पण्डितराज ने मम्मट सम्मत उपर्युक्त भेदों का अन्तर्भाव "मध्यम" नामक तृतीय भेद में किया है "जिसमें व्यङ्ग्य का चमत्कार अस्फुटतया बोध्य होने के कारण, वाच्य चमत्कार से न्यून कोटि का होता है ।[1] अतः यह स्पष्ट है कि "मध्यम" काव्य में, व्यङ्ग्य "अस्फुटतया बोध्य एवं वाच्य का चमत्कार उत्कृष्ट" होता है, परन्तु उसे हम व्यङ्ग्य रहित नहीं कह सकते हैं क्योंकि उनके अनुसार "कोई भी वाच्यार्थ व्यङ्ग्यांश संस्पर्श के बिना चारुत्व से युक्त नहीं हो सकता है,"[2] तथा "व्यङ्ग्यसम्बन्ध से शून्य रमणीयता रहित वाच्यार्थ में काव्यत्व ही असम्भव है ।"[3]

इस प्रकार पण्डितराज ने मम्मट सम्मत गुणीभूतव्यङ्ग्य के अष्टविध-विभाजन को उसी रूप में नहीं स्वीकार किया है । गुणीभूतव्यङ्ग्य के कुछ भेद जैसे-- अपराङ्ग एवं वाच्यसिद्ध्यङ्ग "जिनमें व्यङ्ग्य अप्रधान हो कर भी चमत्कारपूर्ण होता है" को उत्तम-काव्य माना है । मम्मट के अगूढ़, अस्फुट एवं असुन्दर भेदों

1- यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत्तृतीयम् ।
—रस गं0, प्र0आ0पृ0 76

2- न तादृशोऽस्ति कोऽपि वाच्यार्थो यो मनागनाकृष्टप्रतीयमान एव स्वतो रमणीयतामाधातुं प्रभवति ।—रसगं0 प्र0आ0पृ0 78

3- "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।"
—रसगं0, प्र0आ01/1, पृ010

में, व्यङ्ग्य चमत्कारजनक नहीं होता है, अतः ये उत्तम काव्य न होकर "मध्यम" नामक काव्य में अन्तर्भावित किये जा सके हैं। इसी प्रकार सन्दिग्धप्राधान्य एवं तुल्यप्राधान्य भेदों में व्यङ्ग्य का प्राधान्य होने के कारण, गुणीभूतव्यङ्ग्य के ये भेद, उत्तम-काव्य की परिधि में नहीं आयेंगे।

पण्डितराज के अनुसार "अपरस्याङ्ग व्यङ्ग्य" के स्थलों पर "जहाँ चमत्कारपूर्ण व्यङ्ग्य सभी की अपेक्षा अप्रधान हो," वहीं उत्तम काव्य का स्थल है, परन्तु "अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।" आदि रसवदलंकार के स्थल पर अत्यन्त प्रिय के नाशजन्य शोकातिशय के कारण अनुभूत "करुण रस" प्रधान है एवं शृंगार रस शोषक होने के कारण करुण रस का पोषक अतएव अंग है, परन्तु शृंगार रस, करुण रस की अपेक्षा अप्रधान होते हुए भी, "वाच्य की अपेक्षा प्रधान है।" अतः प्रस्तुत स्थल पर उत्तम-काव्य का लक्षण नहीं घटित हो सकता है एवं यह "उत्तमोत्तम" काव्य का स्थल है।[1]

इस प्रकार वाच्यसिद्ध्यङ्ग-व्यङ्ग्य के स्थल पर भी, यदि वाच्य एवं व्यङ्ग्य दोनों वाच्यार्थ को सिद्ध करने में समर्थ हों, तो वाच्य से, वाच्य-सिद्धि की सम्भावना रहने पर व्यङ्ग्य को गुणीभूत नहीं मानना चाहिए। यह उत्तमोत्तम काव्य का स्थल होगा।

---

1. 1- "वाच्यापेक्षया प्रधानीभूतं व्यङ्ग्यान्तरमादाय गुणीभूतं व्यङ्ग्यमादायातिव्याप्तिवारणायावधारणम्। तेन तस्य ध्वनित्वमेव।" --रसगं० प्र०आ०पृ० 66

1. 2- तेन . . . ., तस्यापरव्यङ्ग्याङ्गभूतव्यङ्ग्यस्य, ध्वनित्वमुत्तमोत्तमत्वमेव, न तदुत्तमत्वम्, व्यङ्ग्यस्य वाच्यापेक्षया प्राधान्यात्। --रसगं० व्याख्या, प्र०आ०पृ०67

उत्तम-काव्य का व्यङ्ग्य " वाच्यसिद्धि का एकमात्र कारण" होता है, व्यङ्ग्य ज्ञान के बिना वाच्यार्थ अनुपपन्न होता है ।[1]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि, उत्तमोत्तम एवं उत्तम काव्य-प्रकारों में "चमत्कारपूर्ण व्यङ्ग्य के सद्भाव में" समानता होने पर भी "व्यङ्ग्यकी प्रधानता एवं अप्रधानता" की दृष्टि से स्पष्ट अन्तर है, अर्थात् उत्तमोत्तम-काव्य में व्यङ्ग्य, वाच्यसिद्धि का अंग न होने के कारण, वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यान्तर की अपेक्षा प्रधान होता है, परन्तु उत्तम-काव्य में वाच्यसिद्धि का एकमात्र कारण होता है, अतः व्यङ्ग्य अप्रधान होता है ।[2]

इसी प्रकार उत्तम एवं मध्यम काव्य-प्रकारों में स्पष्ट अन्तर यह है कि, उत्तम-काव्य में व्यङ्ग्यार्थ चमत्कारपूर्ण होने के कारण "अनुभव-योग्य होता है अतःअप्रधान होते हुए भी जागरूक" होता है[3] जैसे -- दुर्भाग्यवश दासी बनी हुई राजाङ्गना भी अपनी

1- न यतो ह्यनुदिनमवलोकनादिभिरनतिचमत्कारिभिरभ्युपपद्यमानं मान्यमिदं प्रथमचित्तचुम्बिनीं विप्रलम्भरतिप्रकाशयन्न प्रभवति स्वातन्त्र्येण परनिर्वृतिचर्वणागोचरतामाधातुम् । . . . . .
इत्थं "निःशेषच्युतचन्दनम्" इत्यादिपद्येऽधमत्वादीनि वाच्यानि व्यङ्ग्यातिरिक्तेनार्थेनापाततो निष्पन्नशरीराणि व्यञ्जकानीति न तत्रापि गुणीभावः ।   --रसगं०प्र०आ०पृ० 70-72

2- अनयोर्भेदयोरन्यङ्गनीयचमत्कारयोरपि प्राधान्याप्राधान्याभ्यामस्ति कञ्चिद् सहृदयवेद्यो विशेषः ।
-- रसगं०प्र०आ०पृ० 72

3- अनयोरेव द्वितीयतृतीयभेदयोर्जागरूकागूढगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः प्रविष्टं त्रिविधमलङ्कारप्रधानं काव्यम् ।
-- रसगं०प्र०आ०पृ० 78

सहज कमनीयता का परित्याग नहीं करती है ।[1] समासोक्ति, पर्यायोक्त, आक्षेप, अप्रस्तुत-प्रशंसा आदि अलंकार उत्तम-काव्य के स्थल हैं । मध्यम-काव्य में वाच्य रूप अर्थालंकारों की स्पष्ट प्रतीति होती है एवं व्यङ्ग्यार्थ विशेष चमत्कारजनक न होने के कारण "अनुभव के अयोग्य, अतः " अचमत्क" होता है । वाच्य से व्यवच्छादित व्यङ्ग्य, "ग्रामीण नायिका के प्रचुर केसर से लिप्त गौरवर्ण" के समान क्षीण होता है । दीपक, उत्प्रेक्षा आदि अर्थालंकार मध्यम-काव्य के स्थल हैं ।[2]

इस प्रकार पण्डितराज ने उत्तम-काव्य के लक्षण द्वारा, उसका उत्तमोत्तम, मध्यम एवं अधम काव्य-भेदों से सर्वथा पृथकत्व भी स्पष्ट कर दिया है एवं उदाहरण द्वारा व्यङ्ग्य की अप्रधानता स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं --

"राघवविरहज्वाला-सन्तापितसह्यशैलशिखरेषु ।
शिशिरे सुखं शयानाः कपयः कुप्यन्ति पवनतनयाय ।।"

--रसगं०प्र०आ०पृ० 69

प्रस्तुत उदाहरण में हनुमान् द्वारा राम को सीता की कुशलता की सूचना देने का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का

1- व्यङ्ग्यम् . . . . . . गुणीभूतमपि, दुर्दैववशतो दास्यमनुभवद् - राजकलत्रमिव कामपि कमनीयतामावहति ।

--रसगं०प्र०आ०पृ० 70

2- समासोक्तिप्रभृतिष्वलंकारेषु व्यङ्ग्यस्य गुणीभावेऽपि चमत्कारितया तत्प्रधानकाव्यस्य द्वितीयभेदेऽन्तर्भावः । दीपकादिष्वलङ्कारेषु - चमाऽऽदिस्थव्यङ्ग्यस्य तु तदभावात् तत्प्रधानकाव्यस्य तृतीयभेदे - न्तर्भावः । --रसगं० व्याख्या प्र०आ०पृ०78

का वाच्यार्थ इस प्रकार है -- " रामचन्द्र की विरह की ज्वाला से तप्त बनाये गये सह्य नाम पर्वत के शिखरों पर शीत ऋतु में भी सुखपूर्वक सोने वाले बन्दर, हनुमान् के प्रति क्रुद्ध होते हैं ।"

प्रस्तुत वाच्यार्थ से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि " हनुमान् के द्वारा, सीता की लंका में सकुशल रहने की वार्ता से रामचन्द्र का वियोग-ताप शान्त हो गया ।" जो हनुमान्, राम का अत्यन्त प्रिय एवं बन्दरों का हितचिन्तक था, उसपर बन्दरों का अकस्मात् होने वाला कोप रूप", वाच्यार्थ तब तक सिद्ध नहीं होता है, जब तक यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित न हो कि " हनुमान् ने सीता की कुशल-सूचना के द्वारा राम का वियोगताप शान्त कर दिया जिससे सह्य नामक शैलशिखर शीतल हो गये, अतः बन्दरों के सुख-शयन में बाधा पड़ रही है ।" प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ के अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ, वाच्यसिद्धि में समर्थ नहीं है, व्यङ्ग्यार्थ के अभाव में वाच्यार्थ सिद्ध नहीं हो सकता है । अतएव वाच्यसिद्धि का एकमात्र कारण होने के कारण तथा चमत्कारपूर्ण होने के कारण प्रस्तुत पद्य उत्तम-काव्य का स्थल है ।[1]

पण्डितराज जगन्नाथ अप्पयदीक्षित के वाच्यसिद्ध्यङ्ग उदाहरण में गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व का निषेध करके उसे ध्वनि का स्थल मानते हैं[2] जैसे --

---

1- अत्र जानकीकुशलावेदनेन राघवः शिशिरीकृत इति व्यङ्ग्यमाकस्मिक-कपिकर्तृकहनुमद्विषयककोपोपपादकतया गुणीभूतमपि, दुर्दैववशात् दारिद्र्यमनुभवद् राजकलत्रमिव कामपि कमनीयतामावहति ।

--रसगं०प्र०आ०पृ० 70

2- प्रहरविरतौ "इत्यादावप्यप्पयदीक्षित प्रतिपादितं गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं निरस्यति । --रसगं०प्र०आ०पृ० 73

"प्रहरविरतौ मध्ये वाऽह्नस्ततोऽपि परेण वा,
किमुत सकले याते वाऽह्नि न प्रिय त्वमिहैष्यसि ।
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो -
हरति गमनं बालाऽऽलापैः सबाष्पगलज्जलैः ।।" इति ।

--रसगं०प्र०आ०पृ० 73

प्रस्तुत उदाहरण में नवोढा, सैकड़ों दिनों में पहुँचने योग्य दूर देश में जाने के लिये उद्यत प्रेमी से "क्या तुम एक पहर के बाद लौट आओगे ?" इत्यादि उक्त अश्रुधारा-मिश्रित वचनों से प्रिय गमन का निवारण कर रही है । प्रस्तुत वाच्यार्थ से यह अर्थ व्यञ्जित होता है कि " सम्पूर्ण दिन ही पूर्ण अवधि है उसके पश्चात् मैं जीवित न रह सकूँगी"। दीक्षित जी के अनुसार प्रेमी के गमन-निवारण रूप वाच्य को एकमात्रयह व्यङ्ग्य कि "नवोढा प्रेयसी मेरे बिना एक दिन बाद न जी सकेगी" ही सिद्ध करने में समर्थ है अतः यह व्यङ्ग्य सापेक्ष,वाच्य-सिद्धि का "एकमात्र कारण" होने के कारण वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य है ।[1]

1- नायिकया प्रश्नावली-करणेन व्यज्यमानम् "समस्तं दिनमेव परमोऽवधिस्त्वद्विरहे मम जीवनस्य, दिनात्परं तु त्वदनागमने नाहं कथमपि जीविष्यामीति वस्तु" आलापैः प्रियस्य गमनं बाला हरतीति पदकदम्बकाभिधीयमानस्य बालाकर्तृकालापकरणप्रियगमन - निवारणस्योपपादकतयाङ्गमिति वाच्यसिद्ध्यङ्गव्यङ्ग्यस्यगुणीभूत-व्यङ्ग्यत्वमितिदीक्षितस्य कथनन्तु न युक्तम् ।

--का०गं०व्याख्याप्र०आ०पृ०73

"अत्र सकलमहः परमावधिस्ततःपरं प्राणान् धारयितुं न शक्नोमीति" व्यङ्ग्यं प्रियगमननिवारणरूपवाच्यसिद्ध्यङ्गमतो गुणीभूतव्यङ्ग्यमिति ।

--रसगं०प्र०आ०पृ० 74

पण्डितराज के अनुसार उक्त व्यङ्ग्य के अतिरिक्त अश्रुधारा मिश्रित " एक पहर के बाद लौट आओगे" वाच्यरूप आलापों द्वारा ही प्रेमी का गमन-निवारण रूप वाच्यार्थ सिद्ध हो सकता है अतः वाच्यार्थ व्यङ्ग्यार्थ - सापेक्ष नहीं है तथा "आलापैः" में करणे तृतीया होने के कारण यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि ये आलाप ही वाच्य की सिद्धि करने वाले हैं अतः व्यङ्ग्य गौण न होकर प्रधान है अतः ध्वनि का स्थल है ।[1]

प्रस्तुत उदाहरण को उत्तमोत्तम-काव्य का स्थल मानने के लिये पण्डितराज एक अन्य युक्ति प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यदि प्रस्तुत व्यङ्ग्य वाच्यसिद्ध्यङ्ग होने के कारण गुणीभूत भी मान लिया जाय तो विभाव, अनुभाव, संचारी-भावों के संयोग से व्यञ्जित "विप्रलम्भ शृंगार" के कारण निर्विवाद रूप से प्रस्तुत उदाहरण को "ध्वनि - काव्यता" ही है ।[2] इस प्रकार पण्डितराज अप्पयदीक्षित सम्मत वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य स्थल को ध्वनि-काव्य का स्थल मानते हैं ।

इस प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ का काव्यकोटि का निर्धारण मौलिकता से युक्त, नितान्त वैज्ञानिक होने के कारण सर्वथा मनोग्राह्य है । उन्होंने प्रत्येक काव्य-भेद का दूसरे काव्य-भेद से

1- तन्न, सबाष्पगलज्जलानां "प्रहरविरता" मित्याद्यालापानामेव प्रियगमन-निवारणरूपवाच्यसिद्ध्यङ्गतया व्यङ्ग्यस्य गुणीभावाभावात् ।

* "आलापै" रिति तृतीयया प्रकृत्यर्थस्य हरणक्रियाकरणतायाः स्फुटं प्रतिपत्तेः । --रस०ग०आ०पृ० 74

2- अस्तु वा "ततः परं प्राणान् धारयितुं न शक्नोमि" इति व्यङ्ग्यस्य वाच्यसिद्ध्यङ्गतया गुणीभावः, तथाऽपि नायकादेर्विभावस्य, बाष्पादेरनुभावस्य, चिन्तावेगादेश्च सञ्चारिणः संयोगादभिव्यज्यमानेन विप्रलम्भेन ध्वनित्वं को निवारयेत् ।

--रस०ग०आ०पृ० 75

सर्वथा पृथकत्व भी स्पष्ट कर दिया है । पण्डितराज ने चारों काव्य-प्रकारों के स्वरूप का अवश्य वर्णन किया है, परन्तु आचार्य मम्मट के समान गुणीभूतव्यङ्ग्य के आठ-प्रकारों का स्पष्ट निर्देश नहीं किया है, केवल वाच्यसिद्ध्यङ्ग एवं अपरस्याङ्ग व्यङ्ग्य स्थलों को ही " उत्तम-काव्य" का स्थल माना है, अन्य प्रकारों का मध्यम काव्य में अन्तर्भाव कर दिया है । इस प्रकार परोक्ष रूप से पण्डितराज जगन्नाथ भी मम्मट के गुणीभूतव्यङ्ग्य के आठ-प्रकारों को मानते हैं परन्तु उनका उत्तम एवं मध्यम दो काव्य-भेदों में विभाजन कर देते हैं । सौन्दर्य एवं चमत्कार के तारतम्य की दृष्टि से उनका उक्त विभाजन उचित कहा जायेगा ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अधिकांश मम्मटोत्तर युगीन आलंकारिकों ने मम्मट सम्मत ~~अष्टविध~~ विभाजन को ही स्वीकार किया है। अतः प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में मम्मट सम्मत गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेदों को आधार मानकर ही बृहत्त्रयी में गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थलों का विवेचन किया जायेगा ।

द्वितीय अध्याय

बृहत्त्रयी का सामान्य परिचय

****

भूमिका -

संस्कृत साहित्य अत्यन्त विशाल है, जिसे अनेक कवियों ने अपनी विविध प्रकार की सरस मनोहारी एवं भावपूर्ण काव्य-रचनाओं के द्वारा समृद्ध बनाया है। संस्कृत-काव्य में हृदय-पक्ष एवं कला-पक्ष दोनों का अपूर्व मिश्रण दृष्टिगोचर होता है। कालिदास एवं वाल्मीकि आदि प्राचीन कवियों के काव्यों में मानव हृदय की कोमल भावनाओं, विभिन्न दशाओं में उत्पन्न होने वाले मानसिक विकारों का चित्रण, अत्यन्त कमनीय भाषा में प्रस्तुत किया गया है। कालिदास के समय तक काव्यरसज्ञों के द्वारा सुकुमार मार्ग की रचनायें समादृत होती थीं अतएव इन कवियों ने सरसता, सरलता एवं सुबोधता से सम्पन्न काव्य रचनायें की।

कालिदास रससिद्ध कवीश्वर हैं, उन्होंने अलंकार-सिद्धि के लिये प्रयत्न न करके, रस-सिद्धि के लिये प्रयास किया है। अतः उनका काव्य " रस-प्रधान " काव्य है।

धीरे-धीरे मान्यतायें बदलती हैं। रससिद्धि का स्थान वैदुष्य-प्रदर्शन ले लेता है। फलस्वरूप कविगण सुकुमार-मार्ग को छोड़कर "विचित्र-मार्ग" के अन्तर्गत चमत्कार को महत्त्व देने के लिये बाध्य हो जाते हैं। लोग "प्रसाद-गुण-पूर्ण" शैली को छोड़कर, चमत्कारपूर्ण "विचित्र-मार्ग" की ओर उन्मुख होते हैं।

कवि शिरोमणि भारवि संस्कृत-साहित्य में विचित्र-मार्ग की परम्परा के सर्वप्रथम प्रसिद्ध महाकवि हैं। उनके " किरातार्जुनीयम्" महाकाव्य के अनुकरण पर ही महाकवि माघ ने अपनी वैदुषी के प्रदर्शनार्थ "शिशुपालवधम्" महाकाव्य की रचना की, जो विचित्र-मार्ग का सुन्दर

उदाहरण है । भारवि एवं माघ के अनुकरण पर श्रीहर्ष ने भी विचित्र-मार्ग की परम्परा का अनुसरण करते हुये "नैषधीयचरितम्" महाकाव्य की रचना की । सुकुमार-मार्ग के कालिदास के अनन्तर विचित्र-मार्ग के उपर्युक्त तीनों कवियों की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है । तीनों महाकवियों के महाकाव्य विचित्र-मार्ग के अन्तर्गत आते हैं । विचित्र-मार्ग का लक्षण है -- "शब्द और अर्थ के अन्दर उक्ति-वैचित्र्य रूप वक्रता का स्फुरित होना ।"[1] इस परम्परा के कवियों ने कलापक्ष को अधिक महत्त्व दिया है । अलंकारों का प्रयत्न-पूर्वक सन्निवेश, अतिशयोक्ति का चमत्कारी विन्यास तथा वैदुष्य के प्रदर्शनार्थ क्लिष्ट भाषा का प्रयोग, इस विचित्र-मार्ग की अपनी विभूति है । अतः भारवि, माघ आदि कवियों ने रस की अपेक्षा करके विविध अलंकारों का प्रयोग किया है ।[2] जैसा कि प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में हम देख चुके हैं कि अलंकार गुणीभूतव्यङ्ग्य के क्षेत्र हैं, अतः उक्त तीनों महाकाव्यों में गुणीभूतव्यङ्ग्य का क्षेत्र विशद है ।

बृहत्त्रयी का सामान्य परिचय -

संस्कृत काव्य-साहित्य में तीन महाकाव्यों के लिये "बृहत्त्रयी" पद का प्रयोग किया गया है । महाकवि भारविकृत "किरातार्जुनीयम्" महाकवि माघकृत "शिशुपालवधम्" एवं महाकवि श्रीहर्षकृत "नैषधीयचरितम्" तीनों महाकाव्य विचित्र-मार्ग परम्परा के उच्चकोटिक काव्य हैं, जिन्होंने

1- प्रतिभाप्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता ।
   शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते ।। -- वक्रो०जी०, 1/34

2- अलंकारस्य कवयो यत्रालंकरणान्तरम् ।
   असंतुष्टा निबध्नन्ति हाराटेर्मणिबन्धवत् ।। -- वक्रो०जी०, 1/35

विद्वत्समाज को बहुत अधिक मुग्ध एवं आह्लादित किया है । अतः काव्यरसज्ञ पण्डित समाज ने इन महाकाव्यों को "बृहत्त्रयी" इस प्रशंसात्मक अभिधान से विभूषित किया ।

संस्कृत काव्य-साहित्य में महाकवि कालिदास को प्रथम स्थान प्राप्त है किन्तु उनके द्वारा रचित "रघुवंश", "कुमारसम्भव" एवं "मेघदूत" काव्यों को "लघुत्रयी" अभिधान से ही विभूषित किया गया । "लघु" शब्द सम्भवतः काव्यों के कलेवर की दृष्टि से प्रयुक्त किया गया है । "त्रयी" पद का तात्पर्य है "तीन का समूह" अतः कालिदास के तीन लघु कलेवर-युक्त काव्यों को "लघुत्रयी" अभिधान से विभूषित किया गया है ।

सम्भवतः "नैषधीयचरितम्" की रचना के समय तक विचित्र-मार्ग विद्वत्समाज में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो चुका था । इस प्रकार के काव्य विद्वत्समाज को आप्लावित करने में पूर्ण समर्थ थे । अतः कविगण स्वयं इस विचित्र-मार्ग पर ही रचना करने में गौरव का अनुभव करते थे । अतः उस काल के विद्वत्समाज ने कालिदास द्वारा रचित काव्यों को भी महत्त्व प्रदान करते हुए उनके काव्यों को "लघुत्रयी" एवं किरातार्जुनीयम्, शिशुपालवधम् एवं नैषधीयचरितम्, ।विचित्र-मार्ग की परम्परा पर आधारित महाकाव्यों। को " बृहत्त्रयी " अभिधान से विभूषित किया । उपर्युक्त तीनों महाकाव्यों के लिये प्रयुक्त " बृहत्" पद का प्रयोग सम्भवतः उनके विशाल काव्य-कलेवर को दृष्टि में रखकर ही किया गया है ।

अब यह प्रश्न उठता है कितीन महाकाव्यों में "किरातार्जुनीयम्" काकलेवर छोटा है, फिर उसे किस आधार पर "बृहत्त्रयी" में समाविष्ट किया गया है । इस शंका का समाधान यह है कि महाकवि भारवि विचित्र-मार्ग की परम्परा में काव्य रचना करने वाले प्रथम कवि हैं । उन्हीं के अनुकरण पर माघ ने "शिशुपालवधम्" की रचना की तथा दोनों महाकवियों

तथा अद्भुत मार्ग का अनुसरण करने वाले श्रीहर्ष द्वारा रचित "नैषधीयचरितम्" में विचित्र-मार्ग के काव्यगुण चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुए हैं, इन कवियों में अनुकरणात्मक प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है । अतः तीनों महाकाव्यों के लिये "बृहत्त्रयी" आख्या का प्रयोग पूर्णतः सार्थक प्रतीत होता है । यद्यपि विचित्र-मार्ग की परम्परा का अनुसरण करते हुये अन्य अनेक महाकाव्यों की रचना की गई है, परन्तु उनमें किरातार्जुनीयम्, शिशुपालवधम् एवं नैषधीयचरितम् की समता करने की सामर्थ्य नहीं है ।

बृहत्त्रयी एवं लघुत्रयी में कुछ विशेष अन्तर इस प्रकार हैं --

1। "लघुत्रयी" में एक ही कवि के तीन काव्यों का अन्तर्भाव है, जबकि "बृहत्त्रयी" में तीन विभिन्न कवियों के तीन महाकाव्यों का समावेश है ।

2। "लघुत्रयी" में दो महाकाव्यों । कुमारसम्भव, तथा रघुवंश । तथा एक खण्डकाव्य ।मेघदूत। का अन्तर्भाव है, "बृहत्त्रयी" में सन्निविष्ट तीनों काव्य " महाकाव्य" श्रेणी में आते हैं ।

3। "लघुत्रयी" के तीनों काव्य " सुकुमार-मार्ग", तथा "बृहत्त्रयी" के तीनों काव्य "विचित्र-मार्ग" का प्रतिनिधित्व करते हैं ।

4। "लघुत्रयी" के तीनों काव्यों की कथावस्तु के स्रोत भिन्न हैं, परन्तु "बृहत्त्रयी" के तीनों काव्यों की कथावस्तु " महाभारत" से गृहीत है ।

इस प्रकार कालिदास के उपर्युक्त तीन काव्यों एवं भारवि, माघ एवं श्रीहर्ष के उपर्युक्त तीनों काव्यों को विशेष प्रतिष्ठा प्रदान करने के लिये विद्वानों ने उन्हें "लघुत्रयी" एवं "बृहत्त्रयी" के नामों से विभूषित किया है ।

बृहत्त्रयी के रचयिताओं का जीवन परिचय एवं समय --

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का विशेष सम्बन्ध कवियों के समय से न होकर, केवल बृहत्त्रयी से है । अतः उनके समय-निर्धारण के विषय में

अधिक विचार अप्रासङ्गिक होगा । अतः तीनों कवियों के समय निर्धारण के सम्बन्ध में अतिसंक्षेप में विचार, केवल पौर्वापर्य निर्धारित करने की दृष्टि से ही किया जा रहा है ।

(क) महाकवि भारवि का समय --

भारवि के जीवनवृत्त के विषय में उनका एकमात्र ग्रन्थ "किरातार्जुनीयम्" सर्वथा मौन है परन्तु अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग प्रमाणों के आधार पर प्रस्तुत विवरण प्रमाणित एवं निर्णीत हो चुका है ।

दक्षिण भारत के "पृथ्वीकोंकण" नामक राजा के " दानपत्र पर अंकित लेख" में किरातार्जुनीयम् महाकाव्य का उल्लेख मिलता है । इस दानपत्र का समय 698 शक् संवत अर्थात् 776 ईसवी है तथा भाषा पद्यमिश्रित है । इसमें राजा पृथ्वीकोंकण के पूर्वजों की प्रशस्ति करते हुए लिखा है[1] कि अविनीत राजा के पुत्र दुर्विनीत ने भारवि के किरातार्जुनीयम् के पन्द्रहवें सर्ग की टीका लिखी थी । इससे स्पष्ट है कि भारवि 776 ई0 तक बहुत प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे ।

कालिदास के साथ, भारवि का नाम दक्षिण के "चालुक्यवंशी नरेश पुलकेशिन् द्वितीय" के समय के "ऐहोड़" के शिलालेख में मिलता है । यह शिलालेख दक्षिण में बीजापुर जिले के "ऐहोड़" नामक ग्राम में एक जैन

1- " श्रीमत्कोंकण महाराजाधिराजस्य अविनीत नाम्नः पुत्रेण शब्दावतारकारेण देवभारती-निबद्धवृहत्कथेन किरातार्जुनीयस्य पञ्चदशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन . . . . . . ।"
--पृथ्वीकोंकण का दानपत्र

मन्दिर में मिला है। इस शिलालेख का समय 556 शकाब्द (अर्थात् 634 ईस्वी) है। इस संस्कृत शिलालेख में उसके कवि रविकीर्ति ने अपने को महाकवि कालिदास एवं भारवि के समान यशस्वी कहा है[1]--
"येनायोजि न वेश्मस्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म ।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः ।"

कालिदास के साथ भारवि के नामोल्लेख से स्पष्ट है कि 634 ई0 तक भारवि का नाम भी कालिदास की भाँति प्रसिद्ध हो चुका था।

भारवि के आश्रयदाता चालुक्य नरेश विष्णुवर्धन शासक का समय इतिहासकारों ने 550 तथा 650 ईस्वी के मध्य ही निर्धारित किया है। अतः इसी कालावधि में भारवि का समय भी होना चाहिए। ईस्वी सन् के सप्तम शतक के आरम्भिक काल में ही दक्षिण भारतवासी भारवि एवं उनकी काव्य-रचना से परिचित हो चुके थे। भारवि को ख्याति अर्जित करने में अवश्यमेव कुछ वर्षों का समय लगा होगा।

इत्सिंग के यात्रा विवरण से यह प्रतीत होता है कि 661 या 662 ई0 के पूर्व ही जयादित्य की मृत्यु हो चुकी थी।[2] अतः 660 ई0 सन् के आचार्य जयादित्य के द्वारा "काशिका-वृत्ति" में अष्टाध्यायी के "प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च" सूत्र 1/3/23, की वृत्ति में "स्थेय" के उदाहरण के रूप भारवि के किरातार्जुनीयम् का पद्यांश - " संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः । किरात0 3/14

1- ऐहोड़ शिलालेख (ईस्वी सन् 634)

2- A History of Sanskrit Literature- Dr. S.K.Dey P.367

कर्णादिषु तिष्ठते यः"। 3/14 उद्धृत होने के कारण,[1] भारवि का समय सातवीं शताब्दी के पूर्व ही निश्चित होता है।

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भारवि का समय प्रायेण 525 ई0 से 590 ईस्वी तक रहा होगा।[2]

(ख) महाकवि माघ का समय --

महाकवि माघ के समय के सम्बन्ध में डॉ0 कीलहार्न आदि अनेक विद्वानों द्वारा विचार किया जा चुका है।[3] सोमदेव के "यशस्तिलक-चम्पू" (953 ईस्वी) में माघ का उल्लेख हुआ है। आनन्दवर्धन (850 ईस्वी) ने "ध्वन्यालोक" की " अलंकारान्तरस्यापि . . . . (2/27) कारिका की वृत्ति " में महाकवि माघ के शिशुपालवधम् के दो श्लोकों को उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।[4] वामनाचार्य (800 ई0) ने "काव्यालङ्कार-

---

1- "प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च" (अष्टाध्यायी 1/3/23)
स्वाभिप्रायकथनं प्रकाशनम्। स्थेयस्याख्या स्थेयाख्या। तिष्ठत्यस्मिन्निति स्थेयः। . . . . स्थेयाख्यायाम् --त्वयि तिष्ठते, मयि-तिष्ठते, "संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः"।। (किरात0 3/14)
--काशिकावृत्ति, प्रथम भाग पृ0 50

2. Dr. S.K.Dey- Indian Historical quarterly Voll. 1, 1925, P.32, and Vol. III 1927, P. 386

3. Dr. Kielharh- Journal of Royel Asiatic Society 1908,P.409

4-1"त्रासाकुलः परिपतन् . . . . ।" --शिशु0 5/26

4.2-"रम्या इति प्राप्तवतीः पताकाः . . . ।" --शिशु0 3/53

सूत्रवृत्ति" में "सम्भाव्यधर्मत्व तद्गुत्कर्षकल्पनातिशयोक्ति:" सूत्र[1] के उदाहरण में माघ के शिशुपालवधम् के श्लोक को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है ।[2]

माघ ने शिशुपालवधम् के द्वितीय सर्ग के --"अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना ।" ।2/112। श्लोक में "न्यास" का नाम लिया है । महाकवि "बाण" ने हर्षचरित में न्यासग्रन्थ की चर्चा की है । काशिकावृत्ति । न्यास का आख्यान ग्रन्थ । की रचना का समय छठीं शताब्दी का मध्य माना जाता है ।[3]

माघ के "शिशुपालवधम्" महाकाव्य में भारवि के किरातार्जुनीयम् का अनुकरण स्पष्ट रूप से लक्षित होता है, अतः माघ का समय भारवि के पश्चात् सातवीं शताब्दी ईस्वी के उत्तरार्द्ध में निश्चित होता है ।

डॉ० कीलहार्न को राजपूताने में "वसन्तगढ़" नामक किसी स्थान से "वर्मलात" नामक किसी राजा का 682 विक्रमसंवत् 1625 ई०। का शिलालेख प्राप्त हुआ था । उक्त शिलालेख के प्राप्तिकर्ता डॉ० कीलहार्न ने वर्मलात को माघ के पितामह "सुप्रभदेव" का आश्रयदाता माना है । अतः 625 ईस्वी सन् में सुप्रभदेव के समय के आधार पर उनके पौत्र माघ का समय 650-700 ईस्वी के बीच मानना युक्तियुक्त है ।[4]

1- काव्यालंकारसूत्रवृत्ति -- 4/3/10

2- "उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहौ . . . . . ।शिशु०, 3/8

3- संस्कृत साहित्य का इतिहास -- आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ०सं०200

4- Dr. P.V. Kane- Journal of Bombay Asiatic Society, Vol. 24, P. 19

"शिशुपालवधम्" महाकाव्य के अन्त में माघ ने पाँच श्लोकों में अपने वंश का वर्णन किया है । जिसमें स्पष्ट रूप से सुप्रभदेव, जो उनके पितामह थे, को गुजरात के "श्रीवर्मल" नामक राजा का मन्त्री कहा गया है ।[1] शिशुपालवधम् की हस्तलिखित प्रतियों में इस राजा का वर्मलात, वर्मनाम, धर्मलात, श्रीवर्मल आदि अनेक नामों से उल्लेख किया गया है । अतः कीलहार्न का मत युक्तियुक्त लगता है ।

अतः माघ का आविर्भाव 550 ईस्वी के बाद ही हुआ होगा । उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर माघ का समय निश्चित रूप से 650-700ईस्वी मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है ।

(ग) महाकवि श्रीहर्ष का समय --

श्री हर्ष के समय के विषय में विभिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं । श्रीहर्ष ने अपना परिचय "नैषधीयचरितम्" के हर सर्ग के अन्त में दिया है ।[2] उसके अनुसार वह "श्रीहीर" तथा "मामल्लदेवी" के पुत्र थे तथा गहडवालवंशी राजा जयचन्द्र के सभापण्डित थे । इतिहासकारों ने जयचन्द्र का समय ईस्वी सन् 1156 - 1193 ईस्वी सन् निर्णीत किया है अतः श्री हर्ष का आविर्भावकाल द्वादश शताब्दी का उत्तरार्द्ध निश्चित होता है ।[3]

1- सर्वाधिकारी सुकृताधिकारः श्रीवर्मलाख्यस्य बभूव राज्ञः ।
असक्तदृष्टिर्विरजाः सदैव देवोऽपरः सुप्रभदेवनामा ।।
--शिशु० कविवंशवर्णनम् -1

2- श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्री हीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गतः ।।
-- नैष० 1/145

3- संस्कृत साहित्य का इतिहास --आचार्य बलदेव उपाध्याय पृ०सं०228

इस प्रकार बृहत्त्रयी के रचयिताओं में भारवि सर्वप्रथम कवि हैं, माघ उनके पश्चाद्वर्ती थे और श्रीहर्ष इन दोनों के बहुत परवर्ती हैं। यही इन तीनों कवियों का पौर्वापर्य है फिर भी तीनों कवियों की रचनाओं मे बहुत साम्य है।

बृहत्त्रयी में महाकाव्य-लक्षण --

"बृहत्त्रयी" के तीनों काव्य -- किरातार्जुनीयम्, शिशुपालवधम्, एवं नैषधीयचरितम् -- महाकाव्यों की श्रेणी में आते हैं, ये तीनों महाकाव्य-लक्षणों से युक्त हैं। इन महाकाव्यों में, महाकाव्य-लक्षण घटित होता है अथवा नहीं यह देखने के लिये प्रथमतः विश्वनाथ कृत महाकाव्य-लक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है एवं बृहत्त्रयी की रचनाओं का विश्लेषण किया जा रहा है--

॥1॥ जिसमें सर्गों का निबन्धन हो, वह महाकाव्य कहलाता है।[1] किरातार्जुनीयम् में "अट्ठारह सर्ग", शिशुपालवधम् में "बीस सर्ग" एवं नैषधीयचरितम् में "बाइस सर्ग" हैं।

॥2॥ इसमें धीरोदात्त के गुणों से युक्त एक देवता या सद्वंश क्षत्रिय, नायक होता है। कहीं एक वंश के सत्कुलीन अनेक भूप भी नायक होते हैं।[2] किरातार्जुनीयम् एवं नैषधीयचरितम् के नायक क्रमशः अर्जुन एवं नल सद्वंश क्षत्रिय हैं। शिशुपालवधम् के नायक श्रीकृष्ण देव श्रेणी में आते हैं। यद्यपि काव्य में उनका "देवपुरुष" रूप नहीं, वरन् महापुरुष रूप ही चित्रित किया गया है। इस प्रकार तीनों नायक आचार्यों द्वारा निरूपित धीरोदात्त नायक - गुण से युक्त हैं।

॥3॥ शृङ्गार, वीर और शान्त में से कोई एक रस अंगी होता है। अन्य

1- सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः । --सा०द० 6/315

2- सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः ।
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ॥ --सा०द० 6/316

रस गौण होते हैं तथा सभी नाट्य-सन्धियाँ रहती हैं ।[1]
किरातार्जुनीयम् में मुख्यतया अभिव्यक्त "वीर रस" अंगी है साथ ही शृङ्गारादि पाँच अंग रसों की भी योजना हुई है ।[2] शिशुपालवधम् में अंगी रस "वीर" है तथा अन्य छः अंग रसों की योजना हुई है । नैषधीयचरितम् में अंगी रस "शृङ्गार" है तथा करुण, हास्य आदि सात अंग रसों का सुन्दर समन्वय हुआ है । तीनों महाकाव्यों में सन्धियों एवं सन्ध्यंगों का भी सुन्दर सन्निवेश हुआ है ।

(4) कथा ऐतिहासिक या लोक में प्रसिद्ध सज्जन सम्बन्धी होती है । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस चतुर्वर्ग में से एक इसका फल होता है ।[3] तीनों रचनाओं की कथा इतिहासोद्भव हैं । किरातार्जुनीयम् की कथा "महाभारत" के (वन पर्व के कैरात पर्व) प्रसिद्ध आख्यान पर आधारित है । शिशुपालवधम् का प्रेरणास्रोत मुख्यतया "श्रीमद्भागवत्" तथा गौण रूप से महाभारत सम्बन्धी है । नैषधीयचरितम् की कथा निषध देश के अधिपति "राजा नल" के पावन चरित पर आधारित है ।

शिशुपालवधम् में "धर्मपुरुषार्थ", तथा किरातार्जुनीयम् एवं नैषधीयचरितम् में काव्य का मुख्य फल "काम पुरुषार्थ" है ।

(5) आरम्भ में आशीर्वाद नमस्कार या वर्ण्य-वस्तु का निर्देश होता है । कहीं खलों की निन्दा और सज्जनों का गुणकथन होता है ।[4]

1- शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसंधयः ।।--सा०द० 6/317

2- "शृङ्गारादि रसोऽङ्गमस्य विजयी वीरः प्रधानो रसः ।"
--किरात०मल्लिनाथटीका पृ०27

3- इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ।।--सा०द० 6/318

4- आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ।।--सा०द० 6/319

तीनों महाकाव्यों का आरम्भ " वस्तु-निर्देश" से हुआ है ।

16: इनमें न बहुत छोटे न बड़े आठ से अधिक सर्ग होते हैं, उनमें प्रत्येक में एक ही छन्द होता है । अन्तिम पद्य भिन्न छन्द का होता है ।[1]
तीनों काव्यों में सर्गों की संख्या आठ से अधिक है । तीनों काव्यों में प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग है । किरातार्जुनीयम्, शिशुपालवधम् एवं नैषधीयचरितम् तीनों में पूरे प्रथम सर्ग में " वंशस्थ छन्द" प्रयुक्त है । किरातार्जुनीयम् में प्रथम सर्ग का भिन्न छन्द "मालिनी" है,[2] शिशुपालवधम् का प्रथम सर्ग का भिन्न छन्द " शार्दूलविक्रीडित" है,[3] एवं नैषधीयचरितम् के प्रथम सर्ग का भिन्न छन्द " वसन्ततिलका" है ।[4] इसी प्रकार का प्रयोग अन्य सर्गों में भी है ।

17: कहीं-कहीं सर्ग में अनेक छन्दो का प्रयोग होता है तथा सर्ग के अन्त में अगली कथा की सूचना होनी चाहिए ।[5]
किरातार्जुनीयम् के पञ्चदश सर्ग में --औपच्छन्दसिक रथोद्धता तथा वसन्ततिलका तीन छन्दों का प्रयोग है ।[6] शिशुपालवधम् के चतुर्थ सर्ग में -- उपजाति, पुष्पिताग्रा, वसन्ततिलका, शालिनी, द्रुतविलम्बित, प्रहर्षिणी, वंशपत्री आदि अनेक छन्दों का सुन्दर प्रयोग द्रष्टव्य है ।[7] नैषधीयचरितम् के द्वितीय सर्ग में -- वियोगिनी, स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित, मालिनी[8] आदि अनेक छन्दों का प्रयोग किया गया है ।

1- एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ।
   नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गाः अष्टाधिका इह ।।--सा0द0 6/320

2- किरात0 प्र0सर्ग 1/46
3- शिशु0 प्र0सर्ग 1/75
4- नैषध0 प्र0 सर्ग 1/144
5- नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ।
   सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ।।--सा0द0 6/321
6- किरात0 पञ्चदश सर्ग --पृ0 284 - 311
7- शिशु0 चतुर्थ सर्ग --पृ0 157 - 166
8- नैषध0 द्वितीय सर्ग -- पृ0 79 - 127

18। इनमें सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातः काल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, छहों ऋतु, वन, समुद्र, संभोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, मन्त्र, पुत्र और अभ्युदय आदि का यथासम्भव वर्णन होना चाहिए ।[1]
विश्वनाथ ने जिन वस्तुओं के यथासम्भव सांगोपांग वर्णन का निर्देश किया है, उनमें से अधिकांश वस्तुओं का बृहत्त्रयी के रचयिताओं ने अतिसुन्दर, सरस एवं उक्ति-वैचित्र्य के कारण नूतन-कल्पनात्मन्वित वर्णन किया है । जैसे --
किरातार्जुनीयम् का चतुर्थ सर्ग -- शरदृतु-वर्णन, पञ्चम सर्ग - हिमालय पर्वत-वर्णन, नवमसर्ग - सायंकाल-प्रभात वर्णन, युक्त है । शिशुपालवधम् षष्ठ सर्ग में -- वसन्त, ग्रीष्म, वर्षादि छहों ऋतुओं के वर्णन, नवम सर्ग -- सूर्यास्त, चन्द्रोदय-वर्णन, एकादश सर्ग -- प्रभातवर्णन तथा चतुर्थ सर्ग -- रैवतक पर्वत के वर्णनों से युक्त है । इसी प्रकार नैषधीयचरितम् में मृगया-वर्णन, कुण्डिन नगरी-वर्णन, विवाह-वर्णन, वन-विहार, संभोग-वियोग आदि साहित्य-दर्पण में निर्दिष्ट वस्तुओं का सांगोपांग वर्णन है ।

19। इनको कवि के नाम या चरित्र के नाम अथवा चरित्रनायक के नाम से होना चाहिए । सर्ग की वर्णनीय कथा से सर्ग का नाम रखा जाता है

1- सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ।
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ॥--सा0द0 6/322
- संभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ।
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ॥ --सा0द0, 6/323
2- वर्णनीया यथायोगं सांगोपांगा अमी इह ।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ॥--सा0द0 6/324
नामास्य, सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु ।
साङ्गोपाङ्गा इति [illegible] • • •। --सा0द0 6/325

किरातार्जुनीयम् एवं नैषधीयचरितम् काव्यों का नामकरण नायक के नाम के आधार पर एवं शिशुपालवधम् काव्य का नामकरण, काव्यवर्णित घटना के आधार पर हुआ है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तीनों काव्यों में साहित्यदर्पण में उक्त महाकाव्य-लक्षण पूर्ण रूप से घटित होता है । अतः बृहत्त्रयी की तीनों रचनायें महाकाव्य श्रेणी में आती हैं ।

आचार्य कुन्तक द्वारा निर्दिष्ट मार्ग-त्रय --

आचार्य कुन्तक ने कवियों की काव्य-रचना-प्रवृत्ति के हेतुभूत तीन मार्गों का प्रतिपादन किया है ।[1] उन मार्गों के नाम इस प्रकार हैं --

(क) सुकुमार मार्ग
(ख) विचित्र मार्ग
(ग) मध्यम अथवा उभयात्मक मार्ग

आचार्य कुन्तक ने कवि स्वभाव के आधार पर मार्गों का विभाजन किया है । प्रत्येक कवि अपने स्वभावानुसार रचना करता है । सुकुमार स्वभाव वाला कवि अपनी सौकुमार्य शक्ति से उसी के अनुरूप व्युत्पत्ति करके, सुकुमार मार्ग का अभ्यास करता है, और सुकुमार

1- सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः ।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः ।। --वक्रो०जी० 1/24
कवीनां प्रस्थानं प्रवर्तनं तस्य हेतवः, काव्य-करणस्य कारणभूताः ।
-- वक्रो०जी०पृ०सं०पृ० 96

काव्य का प्रणयन करता है । इसी प्रकार विचित्र स्वभाव का कवि विचित्र-मार्ग का अभ्यास करके, वैचित्र्य युक्त रचनायें करता है । उभयात्मक स्वभाव वाला कवि मध्यम - मार्ग का अभ्यास करके मध्यम काव्य की रचना करता है । आचार्य कुन्तक तीनों मार्गों को समान - रूप से रमणीय मानते हैं क्योंकि वे सभी समान रूप से सहृदयाह्लाद होते हैं । अतः उन्हें उपर्युक्त मार्गों का उत्तम, मध्यम एवं अधम विभाजन मान्य नहीं है ।

(क) सुकुमार मार्ग --

सुकुमार मार्ग, कवि की दोष-रहित किसी अपूर्व शक्ति के द्वारा समुल्लसित होने वाले, हृदयावर्जक शब्द एवं अर्थ के कारण, "रमणीय" होता है । यह बिना किसी प्रयत्न के स्वाभाविकरूप से उत्पादित अलंकारों से युक्त होता है ।[1] अर्थात् सुकुमार मार्ग में जो भी अलंकारादि तथा वैचित्र्य होता है, वह कवि की स्वाभाविक शक्ति से ही निष्पन्न होता है । सुकुमारता के सौन्दर्य से, सहसा उत्पन्न होने वाला वैचित्र्य, जहाँ विराजमान होता है, अर्थात् सौन्दर्यातिशय का पोषण करता है, वह सुकुमार नाम का मार्ग होता है ।[2]

कुन्तक के अनुसार वाल्मीकि कालिदासादि इस मार्ग के कुशल कवि हैं ।

1- अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुरः ।
अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषणः ।। --वक्रो०जी० 1/25

2- सौकुमार्यमाभिजात्यं तस्य परिस्पन्दस्तद्विदाह्लादकारित्वलक्षणं रामणीयकं तेन स्पन्दते सलक्ष्मं संपद्यते । यत्र विराजते शोभातिशयं पुष्णातीति सम्बन्धः । --वक्रो०जी० व्याख्या पृ० 104

(ख) विचित्र मार्ग --

विचित्र मार्ग में, कवि की प्रतिभा के प्रथमोल्लेख के समय शब्द और अर्थ के अन्दर (उक्तिवैचित्र्य रूप) वक्रता स्फुरित होती हुई सी प्रकाशित होती है।[1] इसमें कविगण एक ही अलंकार के प्रयोग से असंतुष्ट होकर हार इत्यादि में मणि-विन्यास के समान, एक अलंकार के लिये दूसरे अलंकार की रचना करते हैं।[2] एवं अलंकारों की महिमा इतनी उत्कृष्ट होती है कि अलंकार्य उसके स्वरूप से आच्छादित - सा होकर प्रकाशित होता है।[3] कवि यद्यपि किसी नवीन वस्तु का वर्णन नहीं करता है परन्तु " उक्ति-वैचित्र्य" के द्वारा उसी वस्तु को लोकोत्तर सौन्दर्य की कोटि में पहुँचा देता है।[4]

इसमें वाक्यार्थ शब्द और अर्थ की अभिधा शक्ति से भिन्न, व्यङ्ग्य रूप व्यञ्जना व्यापार के द्वारा निबद्ध किया जाता है।[5]

1- प्रतिभाप्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता ।
   शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते ॥ --वक्रो०जी० 1/34

2- अलंकारस्य कवयो यत्रालंकरणान्तरम् ।
   असंतुष्टा निबध्नन्ति हारादेर्मणिबन्धवत् ॥ --वक्रो०जी०, 1/35

3- यत्र तदलंकारैर्भ्राजमानैर्निजात्मना ।
   स्वशोभातिशयान्तःस्थमलंकार्यं प्रकाश्यते ॥ --वक्रो०जी० 1/37

4- यदप्यनूतनोल्लेखं वस्तु यत्र तदप्यलम् ।
   उक्तिवैचित्र्यमात्रेण काष्ठां कामपि नीयते ॥ -- वक्रो०जी० 1/38

5- प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते ।
   वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां व्यतिरिक्तस्य कस्यचित् ॥ --वक्रो०जी० 1/40

जहाँ वक्रोक्ति की विचित्रता प्राणभूत होती है, उसी के कारण अलौकिक अतिशय की उक्ति परिस्फुरित होती है, वह अत्यन्त कठिनता से चलने वाला "विचित्र-मार्ग" है ।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त वैशिष्ट्यों से युक्त विचित्र-मार्ग है, जिसके प्रमुख कवि भारवि, माघ, श्रीहर्ष, बाणभट्ट आदि हैं ।

(ग) मध्यम मार्ग –

मध्यम मार्ग में, सुकुमार मार्ग और विचित्र मार्ग की विशेषतायें संयुक्त रूप से उपलब्ध होती है । इसमें कवि की सहज प्रतिभाजन्य एवं आहार्य (व्युत्पत्ति जन्य) कान्ति के उत्कर्ष से शोभित होने वाली सुकुमारता एवं विचित्रता संकीर्ण होकर शोभित होती है,[2] तथा किसी अपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं । आचार्य कुन्तक ने मातृगुप्त तथा मंजरी को इस मार्ग का निपुण कवि बताया है । जिसके काव्यों में माधुर्य, प्रसाद, लावण्य एवं आभिजात्य आदि गुण मध्यम वृत्ति का आश्रयण कर संघटना की शोभा के आधिक्य का पोषण करता है ।[3]

सुकुमार मार्ग केकवि एवं उनके काव्यों की विशेषतायें --

वाल्मीकि एवं कालिदास सुकुमार मार्ग के प्रमुख कवि हैं । वाल्मीकि रचित रामायण सुकुमार मार्ग की सुन्दर रचना है । जिसके

1- विचित्रो यत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं जीवितायते ।
परिस्फुरति यस्यान्तः सा काप्यतिशयाभिधा ।। --वक्रो०जी० 1/42

2- वैचित्र्यं सौकुमार्यं च यत्र संकीर्णतां गते ।
भ्राजेते सहजाहार्यशोभातिशयशालिनी ।। --वक्रो०जी० 1/49

3- माधुर्यादिगुणग्रामो वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम् ।
यत्र कामपि पुष्णाति बन्धच्छायातिरिक्तताम् ।। --वक्रो०जी० 1/50

वर्णनों में नितान्त स्वाभाविकता है एवं रसों, अलंकारों का मंजुल सम्मिश्रण हुआ है । अलंकारों का प्रयोग अत्यन्त स्वाभाविक एवं वस्तु के सौन्दर्य को प्रस्फुटित करने में समर्थ है । आनन्दवर्धन आदि ने रामायण को " सिद्धरस-काव्य" कहा है,[1] क्योंकि इसमें रस की भावना नहीं करनी पड़ती है, वरन् रस स्वतः आस्वाद के रूप में परिणत हो गया है । वाल्मीकि रचित रामायण में धार्मिक, सांस्कृतिक एवं कला, आदि सभी पक्षों का अत्यन्त ही सूक्ष्म, सुन्दर एवं मनोहारी वर्णन, मंजुल पदावली में किया गया है ।

वाल्मीकि के द्वारा प्रवर्तित सुकुमार मार्ग का स्पष्ट अनुकरण कालिदास की रसमयी रचनाओं से परिलक्षित होता है । सुकुमार मार्ग के सभी गुण कालिदास की रचनाओं में पाये जाते हैं । कालिदास की रचनाओं में सुन्दर भाषा के साथ भावपक्ष को भी सजाया, सँवारा गया है । उनकी कविताओं का प्रमुख वैशिष्ट्य " वर्ण्य -विषय तथा वर्णन - प्रकार का सुन्दर सामञ्जस्य " है । उनकी रचनाओं में सुकुमार मार्ग के सभी गुण -- समासहीन हृदयहारी पदों के विन्यास के द्वारा माधुर्य की मधुरता[2], अत्यन्त ही मनोहारी एवं भावपूर्ण ढंग से पात्रों के मनोभावों की तुरन्त प्रतीति कराने वाले प्रसाद-गुण की स्निग्धता,[3] पदों के सुन्दर विन्यास के द्वारा लावण्य गुण एवं अर्थ सौष्ठव,[4] का

1- "सन्ति सिद्धरसप्रख्या ये च रामायणादयः ।
   कथाश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छा रसविरोधिनी ।।"--ध्व0 पृ0 148

2- असमस्तमनोहारिपदविन्यासजीवितम् ।
   माधुर्यं सुकुमारस्य मार्गस्य प्रथमो गुणः ।।--वक्रो0जी0 1/30

3- अक्लेशव्यञ्जिताकूतं झटित्यर्थसमर्पणम् ।
   रसवक्रोक्तिविषयं यत्प्रसादः स कथ्यते ।।--वक्रो0जी0 1/31

4- वर्णविन्यासविच्छित्तिपदसन्धानसम्पदा ।
   स्वल्पया बन्धसौन्दर्यं लावण्यमभिधीयते ।।--वक्रो0जी0 1/32

मञ्जुल सन्निबन्धन देखा जा सकता है ।

कालिदास की रचनाओं में अलंकारों का प्रयोग भारस्वरूप नहीं है वरन् अत्यन्त ही स्वाभाविक एवं रसनिष्पत्ति में सहायक है । उन्होंने केवल पाण्डित्य प्रदर्शन के लिये ही अलंकारों का प्रयोग नहीं किया है वरन् वर्ण्य-वस्तु का हृदयहारी वर्णन ही उनका मुख्य उद्देश्य था । उसी वर्णन में उनके अलंकारों का प्रयोग अत्यन्त ही मौलिक विलक्षण तथा हृदय-ग्राहक है । उनकी उपमायें विषय एवं परिस्थिति के सर्वथा अनुकूल एवं अनुपम है ।[1] उपमा के प्रयोग के द्वारा वे अपने विषय को अत्यन्त ही भावपूर्ण एवं मनोहारी बना देते हैं । अतः उनके विषय में यह उक्ति प्रसिद्ध है -- " उपमा कालिदासस्य ।"

कालिदास के काव्यों में सर्वत्र रसमयता के पुनीत दर्शन होते हैं । यद्यपि उनके काव्यों में सम्पूर्ण रस पाये जाते हैं परन्तु प्रधानतया "शृंगार रस" का ही सरस वर्णन है ।

कालिदास के काव्यों से संस्कृत में वास्तव शैली का विकास हुआ है । उनकी भाषा सरस एवं प्रसादपूर्ण है, जिसमें क्लिष्टता एवं दुरूहता का अभाव है । उनके काव्य रस-परिपाक, व्यञ्जकता एवं अलंकार-विधान की दृष्टि से अपूर्व है ।

कालिदास की सुकुमार मार्ग की शैली का स्पष्ट अनुकरण कुछ परवर्ती कवियों के काव्यों में परिलक्षित होता है, जिनमें अश्वघोष प्रमुख हैं । अश्वघोष की रचनाओं में भी सुकुमार मार्ग के गुण पाये जाते हैं ।

1- पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या ।
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या ।। -- रघुवंशम्

संस्कृत-साहित्य में अश्वघोष का समय सरलता, सरसता एवं सुबोधता से सम्पन्न काव्य-रचना के लिये प्रसिद्ध माना जाता है । उनकी कविता में हृदय को स्पर्श करने की योग्यता है । अलंकारों का प्रयोग सुन्दर एवं स्वाभाविक है, जो काव्य को बोझिल नहींबनाता है ।

सुकुमार मार्ग में काव्य रचना करने वाले कवियों में भास का भी प्रमुख स्थान है । वे संस्कृत साहित्य के श्रेष्ठ नाटककार एवं कवि हैं । उनकी भाषा सरल, सुबोध एवं लम्बे समासों से रहित है, उनकी रचनाओं में उपमा आदि अलंकारों का स्वाभाविक एवं मौलिक प्रयोग मिलता है । भास के नाटकों में श्रृंगार, करुण आदि रसों का परिपाक दृष्टिगोचर होता है । इस प्रकार भास की गणना भी सुकुमारमार्गी कवियों की श्रेणी में होती है ।

कालिदास एवं अश्वघोष प्रभृत सुकुमारमार्गी कवियों के काव्यों का लक्ष्य आश्रयदाता नरेश एवं काव्य-रसज्ञ, पण्डित समाज को सन्तुष्ट कर, सम्मानित होना, न होकर, सहृदयजन का अनुरञ्जन-मात्र था । इसी कारण इनकी कवितायें हृदयस्पर्शी एवं सूक्ष्म मनोभावों को मञ्जुल पदावली में व्यक्त करने वाली थी ।

विचित्र मार्ग के कवि एवं उनके काव्यों की विशेषतायें --

कविकुलगुरु कालिदास के अनन्तर कवियों की रुचि कला-प्रदर्शन की ओर अधिक हो गयी । आदि कवि वाल्मीकि की सरल भाषा, कालिदास के समय में सरस, तथा भारवि के काल तक वह कृत्रिम एवं अलंकृत बन गई । फलतः भाषा में चमत्कार गुण का प्राधान्य हो गया ।

महाकवि भारवि ने महाकाव्य परम्परा को एक नया मोड़ दिया । इतिहास - पुराण की कोई लघु कथा लेकर अपनी वर्णन कुशलता

से सुन्दर महाकाव्य का निर्माण कर, उन्होंने " अलंकृत शैली" की उद्भावना की । इस परम्परा के कवियों ने राजकुल में प्रतिष्ठा-प्राप्ति के लिये " विचित्र-काव्य रचना" में अपना पाण्डित्य प्रदर्शन किया । भारवि की इस शैली का विद्वत्समाज में अत्यधिक आदर हुआ । भारवि के अनन्तर महाकवि माघ एवं उन दोनों के अनुकरण पर श्रीहर्ष ने इस शैली को और अधिक परिवर्धित एवं समृद्ध किया । नैषधीयचरितम् इस परम्परा का सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य है । बृहत्त्रयी संज्ञक काव्यों में "किरातार्जुनीयम्" , शिशुपालवधम्" एवं"नैषधीयचरितम्" महाकाव्य क्रमशः महाकवि भारवि, माघ, एवं श्रीहर्ष द्वारा विरचित हैं । इन तीनों महाकवियों में विद्वानों ने श्रीहर्ष को ही सर्वश्रेष्ठ माना है --

" उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ।।
तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः ।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः ? ।।" इति

महाकवि भारवि ने नवीन काव्य-परम्परा में भाषा का विशिष्ट स्वरूप इस प्रकार निर्धारित किया है --

"विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम् ।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती ।।"

-- किरात० 14/3

। जिसमें वर्ण रूप आभूषण स्पष्ट हों, जो कर्णकटु न हो, शत्रुओं के हृदय को भी प्रसन्न करने वाली, प्रसादगुण सम्पन्न, गम्भीर पदों से युक्त वाणी का विकास बिना सुकृत कर्मों के नहीं होता है । ।

इसी प्रकार द्वितीय सर्ग में भीम के कथन के माध्यम से भारवि

ने अपनी नवीन भाषा-शैली का स्वरूप इस प्रकार प्रदर्शित किया है --

"स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम् ।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित् ।।"

--किरात० 2/27

इस प्रकार भारवि के विचार में "पदों की स्पष्टता" "अर्थ-गौरव की स्वीकृति","पदों का पृथक्-पृथक् अर्थ" तथा "उन पदों में अभीष्ट अर्थ व्यक्त करने की सामर्थ्य" ये भाषा के अनिवार्य गुण है ।

भारवि के काव्य के उपर्युक्त गुण आचार्य कुन्तक द्वारा निर्दिष्ट विचित्र मार्ग के अन्तर्गत आते हैं । विचित्र-मार्ग के गुणों में सर्वप्रथम-माधुर्य का उपनिबन्धन इस प्रकार किया जाता है , जो पदों के वैदग्ध्य को प्रवाहित करके, शिथिलता का त्याग कर वाक्य-विन्यास की रमणीयता का साधन बन जाता है ।[1] इसी प्रकार विचित्र मार्ग में अलौकिक उक्ति - वैचित्र्य के द्वारा वृद्धि को प्राप्त, पदार्थों का सरस अभिप्राय युक्त स्वभाव वर्णित होता है ।[2]

महाकवि भारवि के द्वारा प्रारम्भ किये गये विचित्र-मार्ग की परम्परा पर रचित "बृहत्त्रयी" संज्ञक तीनों महाकाव्य विचित्र-मार्ग की शैली के सुन्दर उदाहरण हैं, इनमें विचित्र-मार्ग के सभी गुण पाये जाते हैं । इसी सन्दर्भ में अब यहाँ विचित्र मार्ग के गुणों का वर्णन कर,

---

1- वैदग्ध्यस्पन्दि माधुर्यं पदानामत्र बध्यते ।
याति यत्त्यक्तशैथिल्यं बन्धबन्धुरताङ्गताम् ।।--वक्रो०जी० 1/44

2- स्वभावः सरसाकूतो भावानां यत्र बध्यते ।
केनापि कमनीयेन वैचित्र्येणोपबृंहितः ।। -- वक्रो०जी० 1/41

बृहत्त्रयी संज्ञक महाकाव्यों में वर्णित इन गुणों का विवेचन किया जा रहा है ।

(1) विचित्र-मार्ग के गुणों में सर्वप्रथम गुण है --"शब्द एवं अर्थ के अन्दर उक्ति-वैचित्र्य रूप वक्रता का स्फुरित होना ।"[1] इस मार्ग के कवि किसी सर्वथा नूतन वस्तु का वर्णन नहीं करते हैं वरन् प्राचीन वस्तु को ही उक्ति वैचित्र्य-मात्र से अपूर्व सौन्दर्य की कोटि में पहुँचा देते हैं और प्राचीन वस्तु भी सर्वथा नवीन प्रतीत होने लगती है ।[2] भारवि, माघ एवं श्रीहर्ष के काव्य उक्ति-वैचित्र्य से युक्त हैं । इन कवियों ने "महाभारत के प्राचीन एवं लघु-कथानक" को उक्ति-वैचित्र्य एवं नूतन कल्पनाओं से सर्वथा नवीन बना दिया है । नूतन कल्पनायें पाठक मनों को अत्यधिक आह्लादित करती हैं ।

(2) विचित्र-मार्ग के कविगण एक अलंकार के प्रयोग से असंतुष्ट होकर हार इत्यादि में मणिविन्यास के समान, एक अलंकार के लिये दूसरे अलंकार की रचना करते हैं ।[3]

बृहत्त्रयी के कवियों में भी यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है । जिस प्रकार रत्नों की किरणों की शोभा के उल्लास से देदीप्यमान

1- प्रतिभाप्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता ।
   शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते ।।-- वक्रो०जी० 1/34

2-1- यदप्यनूतनोल्लेखं वस्तु यत्र तदप्यलम् ।
   उक्तिवैचित्र्यमात्रेण काष्ठां कामपि नीयते ।।--वक्रो०जी० 1/38

2-2- यत्रान्यथाभवत् सर्वमन्यथैव यथारुचि ।
   भाव्यते प्रतिभोल्लेखमहत्त्वेन महाकवेः -- वक्रो०जी० 1/39

3-- अलंकारस्य कवयो यत्रालंकरणान्तरम् ।
   असंतुष्टा निबध्नन्ति हारादेर्मणिबन्धवत् ।। --वक्रो०जी० 1/35

आभूषण रमणी के शरीर को ढँक कर अलंकृत करते हैं, उसी प्रकार विचित्र मार्ग के कवियों द्वारा प्रयुक्त, उपमा आदि अलंकार अपने शोभातिशय स्वरूप के द्वारा अलंकार्य को आच्छादित करके प्रकाशित करते हैं ।[1]

भारवि इस अलंकृत शैली के प्रवर्तक माने जाते हैं परन्तु अलंकार-योजना एवं शब्द-वैचित्र्य के कारण उनकी कृति रम्यता से रहित नहीं हुई है । विद्वत्समाज में प्रतिष्ठा के लिये इन कवियों ने "चित्र-काव्य" की भी रचना की है । भारवि ने पन्द्रहवें-सर्ग में " युद्ध-वर्णन" के प्रसंग में चित्र-काव्य के अनेक प्रयोग किये हैं ।[2] अनुप्रास, यमक, श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों का सर्वाधिक प्रयोग द्रष्टव्य है, साथ ही अल्पप्रयुक्त दृष्टान्त, समासोक्ति आदि अलंकारों की प्रयोग-चातुरी भी दृष्टिगोचर होती है ।

माघ ने "यमक एवं अनुप्रासों" का आश्रय लेते हुए "छहों ऋतुओं" का जो मनोहारी वर्णन प्रस्तुत किया है, वह संस्कृत-काव्य-साहित्य की अनुपम निधि है ।[3] प्राची-सन्ध्या की, कन्या से उपमा देने के लिये उन्होंने प्रातःकाल

1- रत्नरश्मिच्छटोत्सेकभासुरैर्भूषणैर्यथा ।
कान्ताशरीरमाच्छाद्य भूषायै परिकल्प्यते ।।
यत्र तद्वदलंकारैर्भ्राजमानैर्निजात्मना ।
स्वशोभातिशयान्तःस्थमलंकार्यं प्रकाश्यते ।।
--- वक्रो० जी० 1/36, 1/37

2- दे वा का नि नि का वा दे, वा हि का स्व स्व का हिवा ।
का का रे भ भ रे का का, नि स्व भ व्य व्य भ स्व नि ।।
-- सर्वतोभद्रः I, किरात०15/25

3- नवपलाशपलाशवनं पुरः स्फुटपरागपरागतपङ्कजम् ।
मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत्स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः ।।
-- शिशु० 6/2

के सुन्दर द्रुमों का कन्या के कमल-कोमल अंगों के साथ जो "रूपक" बाँधा है,[1] वह अन्यत्र दुर्लभ है ।

शिशुपालवधम् के चतुर्थ सर्ग में " रैवतक-पर्वत" के वर्णन के प्रसंग में कवि ने निदर्शना, समासोक्ति, उपमा, यमक, आदि अलंकारों का प्रचुर मात्रा में सुन्दर प्रयोग किया है । रैवतक-पर्वत के वर्णन में कवि की अलंकार-प्रियता एवं पाण्डित्य-प्रदर्शन की भावना अत्यधिकप्रबल दिखाई पड़ती है, जो पाठक-गण को "रैवतक-पर्वत" के प्रसंग से हटाकर "प्रचुर अलंकार" प्रयोग की ओर आकृष्ट करती है । रैवतक-पर्वत पर उदित होते हुए सूर्य एवं अस्त होते हुए चन्द्रमा का वर्णन, निदर्शना के माध्यम से किया गया है जो कि दर्शनीय है ।[2] इसी प्रकार " षोडश सर्ग" में " शिशुपाल के दूत के द्वारा कहे गये वचनों" में " श्लेष की छटा" दर्शनीय है ।[3]

इसी प्रकार श्री हर्ष ने भी " नैषधीयचरितम्" के " त्रयोदश सर्ग" में "इन्द्रादि चारों देवों के साथ नल का तथा नल के साथ चारों देवों का एक साथ वर्णन " करके अपने " श्लेष चातुर्य" का प्रदर्शन किया है ।[4] राजा भीम

1- अरुणजलजराजीमुग्धहस्ताग्रपादा बहुलमधुपमालाकज्जलेन्दीवराक्षी ।
अनुपतति विरावैः पत्त्रिणां व्याहरन्ती रजनिमचिरजाता पूर्वसन्ध्या सुतेव ॥
— शिशु0 11/40

2- उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम् ।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ॥
— शिशु0 4/20

3- विहितापचितिर्महीभृता द्विषतामाहितसाध्वसो बलैः ।
भव सानुचरस्त्वमुच्चकैर्महतामप्युपरि क्षमाभृताम् ॥ — शिशु0 16/9

4- एवं पाऽर्थिनी किल मनेन सुभाग्य तस्याः वच स्वार्थिन्यवर्णितमभून्न पट्टष्टये ते ।
इन्द्राननायमतनुमपःपतीनां प्राप्यैकमन्यतममिह संसदि दीप्यमाने ॥
— नैष0, 13/32

की कुण्डिन नगरी के वर्णन में समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, निदर्शना आदि अलंकारों की छटा दर्शनीय है, जो कि कुण्डिन नगरी के वैभव को ही प्रदर्शित करते हैं।[1] इसके अतिरिक्त दमयन्ती के सौन्दर्य एवं नल के, दमयन्ती विषयक अनुराग प्रदर्शन के प्रसंगों में दृष्टान्त, उपमा अतिशयोक्ति, रूपक आदि अलंकारों का सुन्दर प्रयोग[2] उनके काव्य-नैपुण्य को प्रदर्शित करता है।

(3) विचित्र-मार्ग में वाक्यार्थ, शब्द एवं अर्थ की अभिधा शक्ति के द्वारा उक्त न होकर, व्यङ्ग्य रूप में "व्यञ्जना शक्ति" के द्वारा निबद्ध किया जाता है तथा पदार्थों का सरस अभिप्राय युक्त स्वरूप अलौकिक, हृदयहारी- वैचित्र्य से वृद्धि को प्राप्त होकर, प्रस्तुत किया जाता है।[3]

बृहत्त्रयी में "व्यङ्ग्यार्थ का प्राधान्य" है। बृहत्त्रयी के कवियों ने लोक प्रसिद्ध(महाभारतीय)कथानक का चयन किया है, इन काव्यों में इतिवृत्त गौण है तथा "उक्तिवैचित्र्य" एवं "काव्य-रचना चातुर्य" के द्वारा

1- विललास जलाशयोदरे क्वचन द्यौरनुबिम्बितेव या ।
परिखाकपटस्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बानवलम्बिताम्बुनि ॥ -- नैष० 2/79

2- प्रियमेव परं धराधिपाद् गुणसिन्धोरुदितामवेहि ताम् ।
व्यवधावपि यां विधोः कलां कुहूकान्तिमतीं न वेद कः ॥

-- नैष० 2/19

3- (1) प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते ।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां व्यतिरिक्तस्य कस्यचित् ॥--वक्रो० 1/40

(2) स्वभावः सरसाकूतो भावानां यत्र बध्यते ।
केनापि कमनीयेन वैचित्र्येणोपबृंहितः ॥

-- वक्रो० जी० 1/41

कलेवर को विशाल बनाने में " वर्णन का प्राधान्य" है । किरातार्जुनीयम् एवं शिशुपालवधम् में विविध वस्तुओं का अतिविस्तार से वर्णन किया गया है । कहीं-कहीं वन-विहार, संध्या-प्रभात वर्णन, पर्वत-वर्णन एवं ऋतु-वर्णन प्रसंगों का इतना अधिक विस्तार हो गया है कि कथा-प्रवाह अवरुद्ध होता हुआ सा प्रतीत होता है ,[1] परन्तु भारवि एवं माघ ने उक्ति-वैचित्र्य के द्वारा इन वर्णन प्रसंगों को सरस एवं हृदयहारी बनाते हुये अलौकिक वैचित्र्य प्रदान किया है ।

भारवि ने अपने " किरातार्जुनीयम्" काव्य में "महाभारत के वन-पर्व" से गृहीत -- "द्यूत-क्रीडा में पराजित युधिष्ठिर भाइयों का द्रौपदी के साथ द्वैतवन में निवास एवं पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति के लिये इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या करते हुए अर्जुन की वीरता" की कथावस्तु को थोड़ा परिवर्तित करके हिमालय पर्वत-वर्णन, प्रभात, सन्ध्या, शरद ऋतु आदि का[2] वर्णन किया है । उन्हीं के अनुसरण पर माघ ने " शिशुपालवधम् " काव्य में "महाभारत" के सभापर्व (अध्याय 32-45) से गृहीत "युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ की कथा , "जिसमें कृष्ण द्वारा सौ अपराधों को क्षमा करके शिशुपाल का वध वर्णित है", काव्य- कथानक में बहुत परिवर्तन करके अपने उक्ति-वैचित्र्य एवं उच्चकोटि की काव्य-शक्ति के द्वारा रैवतक पर्वत-वर्णन, जलक्रीडा, षड्ऋतु वर्णन[3], सन्ध्या, रजनी, प्रभात-वर्णन आदि के सन्निवेश द्वारा इसे अपूर्व सौन्दर्य की कोटि पर पहुँचा दिया है यद्यपि ये प्रसंग काव्य-कथानक के लिये सर्वथा अनुपयुक्त एवं दीर्घ होने के कारण कथा प्रवाह में बाधा

1- किरात0, अष्टम सर्ग पृ0 151 ... पृ0 175 एवं नवम् सर्ग पृ0 176 ... पृ0 207

2- किरात0 -- चतुर्थ एवं पंचम सर्ग ।

3- शिशु0 -- चतुर्थ ...... द्वादश सर्ग पर्यन्त ।

डालने वाले हैं । दोनों महाकवियों के अनुसरण पर श्री हर्ष ने भी अपने " नैषधीयचरितम् " की कथावस्तु "महाभारत के वनपर्व में वर्णित नल-दमयन्ती की कथा" से गृहीत की है परन्तु उस कथा भाग को श्री हर्ष ने उक्ति-वैचित्र्य द्वारा रोचक शैली में प्रस्तुत किया है । श्री हर्ष ने अपनी उच्चकोटि की काव्य-शक्ति के द्वारा उस मूल कथा भाग का -- दमयन्ती स्वयम्वर, हंस के करुण क्रन्दन नल दमयन्ती की विरहावस्था के वर्णन प्रसंगों, दौत्यकर्म के लिये अदृश्यरूप में दमयन्ती के भवन में स्थित होने के प्रसंगों एवं कुछ स्वरचित कल्पनाओं के द्वारा कथा का विस्तार किया है परन्तु उत्प्रेक्षित अंश कहीं भी कथा प्रवाह में बाधा नहीं उत्पन्न करते हैं वरन् उसे रोचक बनाते हैं । इस प्रकार बृहत्त्रयी के काव्य उक्तिवैचित्र्य , अलंकार प्रधानता आदि विचित्र- मार्ग के गुणों से युक्त काव्य है ।

विचित्र-मार्ग के कवियों में विविध शास्त्र- ज्ञान, पाण्डित्य-प्रदर्शन की भावना एवं जानबूझकर व्याकरण के दुरूह प्रयोगों को प्रदर्शित करने की भावना अत्यधिक प्रबल रूप से दिखाई पड़ती है । बृहत्त्रयी के कवियों ने अपने काव्यों में दर्शन-शास्त्र, संगीत-शास्त्र, आयुर्वेद, धर्म-शास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र, काम-शास्त्र एवं व्याकरण-शास्त्र आदि के ज्ञान को अनेक स्थानों पर प्रकट किया है ।

अतः तीनों कवियों के महाकाव्यों के कुछ अंश उपर्युक्त कथन को पुष्ट करने के लिये प्रस्तुत किये जा रहे हैं ।

" किरातार्जुनीयम् " महाकाव्य के पर्यालोचन से विदित होता है कि भारवि व्याकरण - साहित्य में निष्णात, दर्शन-शास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र में पारंगत थे । उन्होंने अपने "राजनीति - शास्त्र" के ज्ञान को प्रथम एवं द्वितीय-सर्ग में दूत, द्रौपदी तथा भीम के कथनों के द्वारा व्यक्त किया है । विवेचन-पूर्वक कर्म का अपेक्षा कितना अच्छा है --

"सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ।।"
-- किरात० -2/30

पंचम् सर्ग में "हिमालय को मुक्ति प्रदान करने वाला " बताने के प्रसंग में कवि ने अपने वेदान्त-ज्ञान[1], एवं अप्सराओं के वर्णन में अपने काम-शास्त्र के ज्ञान को प्रकट किया है ।[2]

महाकवि भारवि ने अपना वैदुष्य प्रकट करने के लिये " विविदः "[3], "किं तरां"[4], एवं "दांयते"[5] जैसे क्लिष्ट पदों एवं एकाक्षर श्लोक[6] का प्रयोग किया है जो कवि के विशिष्ट " व्याकरण-ज्ञान" को प्रदर्शित करते हैं ।

इसी प्रकार महाकवि माघ ने भी भारवि के अनुकरण पर "द्वितीय सर्ग" में उत्कृष्ट " राजनीति शास्त्र" के ज्ञान" को प्रदर्शित किया है । वे षड्गुण, शक्तित्रय आदि के विवर्ण को अत्यन्त कौशल से एक ही अनुष्टुप में कहते हैं[7] ।

1- " वीतजन्मजरसं परं शुचि ब्रह्मणः पदमुपैतुमिच्छताम् ।
आगमादिव तमोपहादितः सम्भवन्ति मतयो भवच्छिदः " ।। --किरात०5/22

2- निमीलदा केकरलोलचक्षुषां प्रियोपकण्ठं कृतगात्रवेपथुः ।
निमज्जतीनां श्वसितोद्धतस्तनः श्रमो नु तासां मदनो नु पप्रथे ।।
-- किरात० 8/53

4- किरात० -- 1/5

5- किरात 0-- 1/10

6- न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु ।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत् ।। -- किरात० 15/14

7- षड्गुणाः शक्तयस्तिस्रः सिद्धयश्चोदयास्त्रयः ।
ग्रन्थानधीत्य व्याकर्तुमिति दुर्मेधसोऽप्यलम् ।। -- शिशु० 2/26

माघ "प्रथम सर्ग" में आकाश से उतरते हुए नारद मुनि के वर्णन के प्रसंग में अपने संगीत-शास्त्र के ज्ञान को प्रकट करते हैं[1]। चतुर्थ सर्ग में "रवैतक पर्वत" के वर्णन के प्रसंग में कवि ने अत्यन्त कौशल से अपने योग-शास्त्र के ज्ञान को प्रकट किया है।[2]

माघ काव्य-शास्त्र के साथ व्याकरण के गूढ़ रहस्यों के भी ज्ञाता थे। अतः उन्होंने स्थान-स्थान पर अपने व्याकरण के ज्ञान को प्रदर्शित किया है। उदाहरण के लिये परोक्षभूत में प्रयुक्त लोट् लकार का चमत्कार द्रष्टव्य है --

" पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः ।
विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः ।।"

--शिशु0 1/51

श्री हर्ष उद्भट दार्शनिक एवं महावैयाकरण थे। यद्यपि भारवि एवं माघ ने अपनी विद्वता के प्रदर्शनार्थ ऋतु, प्रभात, चन्द्र आदि का अनावश्यक वर्णन किया है, परन्तु श्री हर्ष ने उत्प्रेक्षित अंशों के लिये जो भी कल्पनायें की हैं, वे कथा के लिये आवश्यक सी प्रतीत होती हैं। प्रत्येक स्थान पर श्रीहर्ष ने नूतन कल्पनाओं से वस्तु का अभिनव ढंग से वर्णन किया है। जैसे -- उन्नीसवें सर्ग में नारी हृदय की कोमलता एवं

1- रणद्भिराघट्टनया नभस्वतः पृथग्विभिन्नश्रुतिमण्डलैः स्वरैः ।
स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनामवेक्षमाणं महतीं मुहुर्मुहुः ।।

--शिशु0 1/10

2- मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदो विधाय क्लेशप्रहाणमिह लब्धसबीजयोगाः ।
ख्यातिं च सत्त्वपुरुषान्यतयाधिगम्य वाञ्छन्ति तामपि समाधिभृतो निरोद्धुम् ।

— शिशु 4/ 55

पुरुष हृदय की कठोरता का सुन्दर कल्पना द्वारा चित्रण करते हुए, प्रभात का हृदयहारी वर्णन किया है --

" उडुपरिषदः किं नार्हत्त्वं ? निशाः किमु नौचिती ?
पतिरिह न यत्ताभ्यां दृष्टो गणेयत्वीमणः ।
स्फुटमुडुपतेराश्मं वक्षः स्फुरन्मलिनाश्मन -
च्छवि यदनयोर्विच्छेदेऽपि मृतं बत न द्रुतम् ।।"

-- नैषध० 19/19

श्रीहर्ष ने केवल पाण्डित्य प्रदर्शन के लिये जानबूझ कर किसी वस्तु का वर्णन नहीं किया है फिर भी पूर्ववर्ती कवियों के प्रभाव से कहीं-कहीं अपने योगशास्त्र, चार्वाक-दर्शन एवं वैशेषिक-दर्शन के ज्ञान को प्रकट किया है ।[1] अद्वैतमत के ज्ञान को उन्होंने नैषध में भी "अद्वैततत्त्व इव सत्यतरेऽपि लोकः" इत्यादि वचनों द्वारा प्रदर्शित किया है ।

अष्टादश-सर्ग में नवदम्पति के रतिवर्णन प्रसंग में उन्होंने अपना कामशास्त्र विषयक ज्ञान प्रकट किया है ।[2]

इसी प्रकार अनेक पद्यों द्वारा उन्होंने अपने व्याकरण के ज्ञान को प्रदर्शित किया है, उनके दिग्दर्शन के लिये एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा । हंस के मुख से नल का वर्णन कराते हुए कवि ने अत्यन्त कुशलता से

1- ध्वान्तस्य वामोरु ! विचारणायां वैशेषिकं चारुमतं मतं मे ।
   औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत्क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय ।।

--नैषध० 22/35

2- बुद्धिमान् व्यधित तां प्रमादयं किञ्चिदित्यमपनीतसाध्वताम् ।
   किञ्च तन्मनसि विस्तृतमन्मना ह्रीरनामि धनुषा समं मनाक् ।।

--नैषध 18/14

" अपदं न प्रयुञ्जीत" , "एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते" आदि व्याकरण सिद्धान्तों की ओर संकेत किया है ।[1]

इस प्रकार तीनों कवियों के महाकाव्यों के तुलनात्मक अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि तीनों कवि विविध शास्त्रों के ज्ञाता थे परन्तु भारवि की राजनीति-पटुता एवं श्रीहर्ष की दार्शनिक उद्भटता प्रशंसनीय है । माघ में विविध-शास्त्रों का परिनिष्ठित ज्ञान परिलक्षित होता है, जिसका उन्होंने स्थान-स्थान पर प्रदर्शन किया है ।

भारवि के द्वारा प्रशस्त विचित्र-मार्ग की शैली का अनुसरण करते हुए महाकवि बाणभट्ट ने भी अलंकारों के चमत्कार से युक्त समासबहुला भाषा का प्रयोग किया । विधि शास्त्र ज्ञान एवं क्लिष्ट उपमायें प्रयुक्त करते हुए, उन्होंने अपने काव्य में रसात्मकता का पूरा ध्यान रखा है ।

परवर्ती काल में कवियों ने एक ही काव्य में एक साथ दो कथाओं को निबद्ध किया है।जैसे-- धनञ्जय का द्विसन्धान, विद्यामाधव का पार्वतीरुक्मिणीय एवं कविराज का पाण्डवीय प्रमुख है । इसी प्रकार कुछ शास्त्रीय काव्यों की भी रचना हुई है । जैसे -- भट्टि, रत्नाकर, राजचूडामणि आदि कवियों ने पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिये काव्य की रचना की अतः उनके काव्य अधिक सहृदयाह्लादक नहीं हैं ।

1- क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया ।
या स्वौजसां साधयितुं विलासैस्तावत्क्षमा नामपदं बहु स्यात् ।।
-- नैषध0 3/23

तृतीय अध्याय

बृहत्त्रयी में गुणीभूतव्यङ्ग्य का प्रयोग

****

बृहत्त्रयी में गुणीभूतव्यङ्ग्य -काव्य का प्रयोग

ध्वनि- सम्प्रदाय में आचार्य मम्मट का महत्त्वपूर्ण स्थान है । उन्होंने आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त द्वारा स्थापित ध्वनि-सिद्धान्त को परिवर्धित एवं व्यवस्थित रूप प्रदान किया । मम्मट ने ही ध्वनि-काव्य एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य के तत्तद् भेदों का पृथक्-पृथक् एवं व्यवस्थित विवेचन किया है ।

जैसा कि प्रथम अध्याय में प्रतिपादित है, मम्मट के परवर्ती, अधिकांश आचार्य मम्मट सम्मत गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य के "अष्टविध-विभाजन" को किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं । अतः मम्मट सम्मत गुणीभूत-व्यङ्ग्य-काव्य के "आठ-भेदों" को ही अधिक मान्य माना गया है ।

अतः प्रस्तुत अध्याय में आचार्य मम्मट सम्मत गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य के आठ भेदों का "बृहत्त्रयी में प्रयोग" दर्शाया गया है । मम्मट के अनुसार गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य के आठ भेद होते हैं --

1- अगूढ, 2- अपरस्याङ्ग, 3- वाच्यसिद्ध्यङ्ग, 4- अस्पष्ट गूढ या अस्फुट, 5- संदिग्धप्राधान्य, 6- तुल्यप्राधान्य, 7- काक्वाक्षिप्त एवं 8- असुन्दर ।[1]

प्रस्तुत अध्याय में सर्वप्रथम अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य का बृहत्त्रयी में प्रयोग दर्शाया गया है । उसके अनन्तर क्रमशः अन्य भेदों का प्रयोग दिखाया जायेगा ।

1- " अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ।। --सू0 45
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः ।
--का0प्र0पं0उ0सू0 196

बृहत्त्रयी में अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल --

आचार्य मम्मट के अनुसार अगूढव्यङ्ग्य यद्यपि वाच्य रूप नहीं होता है परन्तु अत्यन्तस्फुट होने के कारण, वाच्य के सदृश होने के कारण चमत्कारजनक नहीं होता है ।[1] बालबोधिनी टीकाकार ने " अगूढव्यङ्ग्य" की इस प्रकार व्याख्या की है कि "असहृदयों के द्वारा भी झटिति संवेद्य" होने के कारण अगूढव्यङ्ग्यार्थ वाच्य-सा प्रतीत होकर, चमत्कारपूर्ण नहीं होता है ।[2] अतः अगूढव्यङ्ग्य की प्रधानता न होने के कारण उसको गुणीभूतव्यङ्ग्य माना जाता है ।

आचार्य मम्मट ने अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य के दो भेद माने हैं --

(1) लक्षणामूला ध्वनि के भेदों में व्यङ्ग्यार्थ के अगूढ होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य । इसके भी दो प्रकार होते हैं ।

(क) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य (ध्वनि के) अत्यन्त अगूढ होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य ।

(ख) अत्यन्तातिरस्कृतवाच्य (ध्वनि भेद) के अत्यन्त अगूढ होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य ।

(2) अभिधामूलाध्वनि के अर्थशक्तिमूलक भेद के अगूढ होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य ।

---

1. 1- अगूढं तु स्फुटतया वाच्यायमानमिति गुणीभूतमेव ।--का0प्र0पं0उ0पृ0 197

1. 2- अगूढम् असहृदयैरपि झटिति संवेद्यम् ।
वाच्यायमानमितीति । न तथा चमत्करोतीति शेषः ।।
--का0प्र0, बालबोधिनीटीकापं0उ0पृ0 191

2- यद्यपि वाच्यत्वं नास्ति तथापि, अगूढं स्फुटतया
वाच्यसदृशमिति गुणीभूतमेवेत्यर्थः ।
--का0प्र0, बालबोधिनीटीका पं0उ0पृ0 191

इसी प्रकार ध्वनि के समस्त भेदों में व्यङ्ग्यार्थ के अगूढ होने पर "अगूढ-गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व" सम्भाव्य है ।

(5) "भवादृशेषु प्रमदाजनोदितं
भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम् ।
तथाऽपि वक्तुं व्यवसाययन्ति मां
निरस्तनारीसमया दुराधयः ।।"

--किरात0 1/28

प्रस्तुत पद्य में वनेचर के मुख से दुर्योधन के कपटपूर्ण आचरण के विषय में सुनकर, दुःखी द्रौपदी युधिष्ठिर को समझा रहीं हैं । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" आप जैसे लोगों के विषय में स्त्रीजनों के द्वारा कहा गया नियोगवचन (अर्थात् उपदेशवचन) तिरस्कार की भाँति होता है, फिर भी शालीनतारूप स्त्रीजनोचित आचरण को नष्ट करने वाली दुष्ट मनोव्यथायें, मुझे बोलने के लिये प्रेरित कर रही हैं ।"

प्रस्तुत पद्य के पूर्वार्द्ध में प्रयुक्त "भवादृशेषु" पद का अर्थ है -- "आप जैसे" अर्थात् आप जैसे ज्ञानी अथवा पण्डित-व्यक्ति ।

यहाँ प्रयुक्त " वक्तुं" पद का सामान्य अर्थ होता है -- "कहने के लिये" । ज्ञानी युधिष्ठिर के विषय में प्रयुक्त "वक्तुं" पद का सामान्य अर्थ "कहने के लिये" बाधित हो जाता है एवं लक्षणा से "उपदेश वचन कहने के लिये" रूप अर्थान्तर में संक्रमित हो जाता है । प्रस्तुत उक्ति से "द्रौपदी की युधिष्ठिर के प्रति कल्याण की भावना" रूप व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है, अर्थात् युधिष्ठिर के कल्याण की भावना से ही, दुःखी द्रौपदी शालीनता का परित्याग करके युधिष्ठिर के प्रति उपदेश वचन कहने के लिये प्रेरित हुई थीं ।

इस प्रकार यहाँ अर्थान्तर में संक्रमित "वक्तुं" पद से व्यञ्जित "कल्याण की भावना" रूप व्यङ्ग्यार्थ अत्यन्त स्फुट होने के कारण सर्वजनसंवेद्य है। अतः प्रस्तुत पद्य अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

|2|
"असक्तमाराधयतो यथायथं
विभज्य भक्त्या समपक्षपातया।
गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान्
न बाधतेऽस्य त्रिगणः परस्परम्॥"

--किरात० 1/11

द्वैतवन में निवास करते हुए युधिष्ठिर ने दुर्योधन के समस्त कार्यकलापों को जानने की इच्छा से एक विश्वासपात्र वनेचर को ब्रह्मचारीवेश में भेजा था। वह लौटकर युधिष्ठिर से दुर्योधन के सौम्य एवं सदाचारी व्यवहार की प्रशंसा कर रहा है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"यथोचित रूप से समय का विभाजन करके समान पक्षपात वाले अनुराग के कारण अनासक्त भाव से |धर्म, अर्थ एवं काम की| आराधना करने वाले, इस दुर्योधन के त्रिगण |धर्म, अर्थ एवं काम| समदर्शिता, दया-दाक्षिण्य आदि गुणों के प्रति अनुराग के कारण मैत्री-भाव को प्राप्त हुए की भाँति मानों एक दूसरे को बाधित नहीं करते हैं।"

प्रस्तुत पद्य के उत्तरार्द्ध में वर्णित है कि -- " इसके त्रिगण मानों मैत्री-भाव को प्राप्त हुए की भाँति एक दूसरे को बाधित नहीं करते हैं।"

त्रिगण |धर्म, अर्थ एवं काम| अचेतन हैं, जबकि " मैत्री चेतन का धर्म" है। अतः त्रिगणों के सम्बन्ध में प्रयुक्त "मैत्री" अर्थ अनुपपन्न होता हुआ "परस्परबाधकताभाव" रूप अर्थ को लक्षित कराता है। इस प्रकार वाच्यार्थ

अत्यन्ततिरस्कृत हो जाता है एवं "मित्राः सखायमी चिवान् इव" के द्वारा यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि "उस दुर्योधन के मित्र समान रूप से परस्पर अनुपमर्दनपूर्वक बढ़ रहे हैं।"

इस प्रकार अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यार्थ से व्यञ्जित "मित्र का अनुपमर्दनपूर्वक बढ़ना" रूप व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ के समान ही अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण अगूढ़ है अतः प्रस्तुत पद्य अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(3) "अनारतं तेन पदेषु लम्भिता
विभज्य सम्यग्विनियोगसत्क्रियाः।
फलन्त्युपायाः परिबृंहितायती --
रुपेत्य सङ्घर्षमिवार्थसम्पदः ॥"

--किरात० 1/15

प्रस्तुत पद्य में वनेचर युधिष्ठिर से दुर्योधन की साम, दान, दण्ड एवं भेद नीतियों के प्रयोग का वर्णन कर रहा है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" उस दुर्योधन के द्वारा उपादेय वस्तुओं में भलीभाँति विभाजन करके, उचित प्रयोग रूपी सत्कार को प्राप्त कराये गये साम, दान, दण्ड, भेद आदि उपाय मानों संघर्ष को प्राप्त करके परिवर्धित उत्तरकाल वाली धन-सम्पत्तियों को निरन्तर उत्पन्न करते हैं।"

प्रस्तुत पद्य के उत्तरार्द्ध में वर्णित है -- "रुपेत्य सङ्घर्षमिव", "स्पर्धा" चेतन का धर्म है, अचेतन का नहीं। साम, दान, दण्ड, भेद आदि उपाय अचेतन हैं, अतः उनके सन्दर्भ में प्रयुक्त "स्पर्धा-धर्म" सर्वथा बाधित होकर अत्यन्ततिरस्कृत हो जाता है और "परस्पर-संयोग रूप

सामान्य अर्थ" को लक्षित कराता है । इस प्रकार साम, दानादि उपायों के सन्दर्भ में "संघर्ष" अर्थात् " परस्पर स्पर्धा रूप भाव " अत्यन्ततिरस्कृत हो जाता है, जिससे यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि "साम, दान, दण्ड, भेद आदि उपाय अनुक्रमपूर्वक बढ़ते हुए, बदले में उस दुर्योधन को समृद्ध भविष्य वाली सम्पत्तियाँ प्रदान करते हैं ।" प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ अत्यन्त अगूढ़ है । अतः प्रस्तुत पद्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य" नामक भेद के व्यङ्ग्य के अगूढ़ होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

।5। "अलंकृतानामृजुतागुणेन गुरूपदिष्टां गतिमास्थितानाम् ।
सतामिवापर्वणि मार्गणानां भङ्गः स जिष्णोर्धृतिमुन्ममाथ ।।"

--किरात0 17/29

प्रस्तुत पद्य में अर्जुन के द्वारा प्रयुक्त बाणों के, भगवान शंकर द्वारा खण्डित कर दिये जाने पर अर्जुन की मनोदशा का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"जिस प्रकार विनम्रता के गुणों से अलंकृत धर्मशास्त्र के गुरुओं के द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर जीवन अवलम्बित रखने वाले सज्जनों का धैर्य आकस्मिक विपत्ति से भंग हो जाता है, उसी प्रकार सरलता के गुणों से सम्पन्न धनुर्विद्याविशारद गुरुओं के द्वारा प्रदर्शित गति के अनुसारी बाणों के उस शंकर द्वारा किये गये खण्डन ने अर्जुन के धैर्य का मथ डाला ।"

प्रस्तुत पद्य के उत्तरार्द्ध में वर्णित है -- "जिष्णोर्धृतिमुन्ममाथ" अर्थात् बाणों के भंग ने अर्जुन के धैर्य को मथ डाला ।

"मन्थन" रूप व्यापार द्रव्यों का ही सम्भव है । "धैर्य भाव रूप सूक्ष्म तत्त्व" है, उसका मन्थन सम्भव नहीं है । अतः धैर्य के सम्बन्ध में प्रयुक्त "मन्थन" रूप व्यापार बाधित होकर, अत्यन्ततिरस्कृत हो जाता है एवं "धैर्यभंग" रूप अर्थ को लक्षित कराता है । इस प्रकार "धैर्य-मन्थन"

से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि "धनुर्विद्या" में पारंगत अर्जुन सुव्यवस्थित रीति से बाणों का प्रयोग कर रहे थे, फिर भी उन बाणों का भगवान् शंकर द्वारा खण्डन कर दिये जाने पर अर्जुन का "धैर्यभङ्ग" हो गया। प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ अत्यन्त स्फुट होने के कारण वाच्य-तुल्य हो गया है, अतः अधिक चमत्कारजनक नहीं है। अतः प्रस्तुत पद्य अत्यन्तातिरस्कृतवाच्य से व्यञ्जित व्यङ्ग्यार्थ के अगूढ़ होने के कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

15। "यथाप्रतिज्ञं द्विषतां युधि प्रतिचिकीर्षया।
ममैवाध्येति नृपतिस्तृष्यन्निव जलाञ्जलेः ॥"

-- किरात० 11/74

इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या करते हुए अर्जुन की परीक्षा लेने के लिये, कपटवेषधारी इन्द्र ने अर्जुन से जब यह प्रश्न किया कि भीम आदि अन्य भाइयों के विद्यमान रहने पर भी तुम ही क्यों प्रतिकार लेने के लिए प्रयत्नशील हो ? तब अर्जुन उक्त उत्तर देते हैं। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"राजा युधिष्ठिर प्रतिज्ञा के अनुसार युद्ध-भूमि में शत्रुओं से बदला लेने की इच्छा से, मेरा ही स्मरण करते हैं जैसे तृषार्त व्यक्ति जलाञ्जलि का ही स्मरण करता है।"

प्रस्तुत पद्य में प्रयुक्त " ममैवाध्येति" पद के द्वारा अत्यन्त स्फुट ही यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि " कार्यसिद्धि मेरे ही अधीन होने के कारण, युधिष्ठिर मेरा ही स्मरण करते हैं, अतः मैं ही प्रयत्नशील हूँ।"

यहाँ पर वर्णनीय "अर्जुन रूप नायक के उत्कर्ष" में ही कवि की विवक्षा है जिसे "ममैवाध्येति" पद के प्रयोग के साथ ही इति

प्रतीति होती है, अर्थात् अन्य सभी भाइयों की अपेक्षा अर्जुन ही "अधिक पराक्रमयुक्त" होने के कारण युधिष्ठिर की प्रतिज्ञा पूरी करने में समर्थ हैं, अतः युधिष्ठिर उन्हीं का स्मरण करते हैं ।

यहाँ "ममैवाध्येति" पद के पाठ के अनन्तर "अर्जुन का पराक्रम" रूप अर्थापत्तिमूलक संलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्य द्योतित होता है, जो अत्यन्त स्फुट होने के कारण सर्वजनग्राह्य है । अतः प्रस्तुत पद्य अगूढ़ गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

16। "साटोपमुर्वीमनिशं नदन्तो यैः प्लावयिष्यन्ति समन्ततोऽमी ।
तान्येकदेशान्निभृतं पयोधेः सोऽम्भांसि मेघान् पिबतो ददर्श ।।"

—किरात —शिशु० 3/74

प्रस्तुत पद्य में कवि ने समुद्र का वर्णन किया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है —

" ये ।मेघ। गर्वपूर्वक रातों दिन गर्जन करते हुए जिन जलराशियों के द्वारा पृथ्वी को चारों ओर से जलमग्न कर देंगे, उन्हीं जलों को समुद्र के एक भाग से चुपचाप पीते हुए मेघों को भी कृष्ण ने देखा ।"

प्रस्तुत पद्य में वर्णित है " मेघान् पिबतो ददर्श" "पीना" चेतन का धर्म है, जो कि अचेतन मेघों के विषय में सर्वथा बाधित हो जाता है, एवं "परस्परसंयोग-मात्र" सामान्य अर्थ को लक्षित कराता है, जिससे अत्यन्त अगूढ़ यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि " समुद्र अत्यधिक विशाल है एवं अपने जल से पृथ्वी को चारों ओर से जलमग्न करने वाले मेघ उसके एक कोने से ही प्रचुर-मात्रा में जल ग्रहण कर लेते हैं ।" इस प्रकार मेघों के प्रसंग से " समुद्र की विशालता व्यञ्जित होती है ।" प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ अत्यन्त स्फुट होने के कारण वाच्य-तुल्य हो गया है अतः अधिक चमत्कारजनक नहीं है । अतः प्रस्तुत पद्य "अगूढ़ गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

।7। "माजीवन् यः परावज्ञादुःखदग्धोऽपि जीवति ।
तस्याजननिरेवास्तु जननीक्लेशकारिणः ।।"

--शिशु0 2/45

प्रस्तुत पद्य में बलराम जी पराभव प्राप्त होने पर भी क्षमा करने की नीति की निन्दा कर रहे हैं। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" जो ।व्यक्ति। शत्रु के अपमानजन्य दुःख से तप्त होते हुए भी न जीवित रहते हुए जीवित रहता है, माता के ।प्रसव-वेदनादि। दुःख का कारण उसका जन्म ही न हो ।"

प्रस्तुत पद्य में प्रयुक्त "माजीवन्" पद में "जीवन में जीवनाभाव का बोध" होने से वाच्यार्थ बाधित हो जाता है एवं अर्थान्तरसंक्रमित लक्षणा के द्वारा "श्लाघ्य जीवन का अभाव" रूप लक्ष्यार्थ से विशिष्ट अर्थ का बोध होता है । "माजीवन्" पद में प्रयुक्त "मा" पद से "श्लाघ्यजीवनत्व" के अभाव का बोध होने से " अत्यन्त आक्रोश " रूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है ।

इस प्रकार वाच्यार्थ-बाध दूर हो जाने के अनन्तर पूर्वार्द्ध से यह वाच्यार्थ निकलता है कि " जो व्यक्ति शत्रु के अपमानजन्य दुःख से तप्त होते हुए भी, निन्दित जीवन व्यतीत करते हुए जीवित रहता है ।"

इस प्रकार यहाँ व्यञ्जित"अत्यन्त आक्रोश" रूप व्यङ्ग्यार्थ अत्यन्त स्फुट होने के कारण वाच्य तुल्य हो गया है । अतः अर्थान्तर-संक्रमित लक्षणामूला ध्वनि में व्यङ्ग्य के अगूढ होने के कारण प्रस्तुत पद्य "अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य" का स्थल है ।

।8।

।8। "मनागनभ्यावृत्त्या वा कामं क्षाम्यतु यः क्षमी ।
क्रियासमभिहारेण विराध्यन्तं क्षमेत कः ।।"

--शिशु० 2/43

प्रस्तुत पद्य में बलराम जी श्री कृष्ण को उपदेश दे रहे हैं कि बान्धव होते हुए भी शिशुपाल को क्षमा नहीं करना चाहिए । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"जो क्षमाशील है, वह थोड़ा ।अर्थात् एक बार। विरोध करने वाले को भले ही क्षमा कर दे ।किन्तु। अधिक ।अर्थात् बार-बार। विरोध करने वाले को कौन क्षमा करेगा ?"

प्रस्तुत पद्य में प्रयुक्त "क्षमेत कः" पद से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि " आपके अतिरिक्त और कौन क्षमा करेगा ?" अर्थात् कोई नहीं क्षमा करेगा । प्रस्तुत पद्य में कवि की विवक्षा "श्रीकृष्ण की क्षमाशीलता के उत्कर्षाधान में ही है ।" "क्षमेत कः" पद से कवि के तात्पर्य की सिद्धि होती है तथा प्रस्तुत पद से अर्थापत्ति के द्वारा व्यञ्जित व्यङ्ग्यार्थ अत्यन्त अगूढ होने के कारण झटिति प्रतीति-गम्य है । यहाँ मुख्यार्थ-बाध न होने के कारण, अभिधामूला-ध्वनि के अर्थापत्तिमूलकव्यङ्ग्य के अगूढ होने के कारण प्रस्तुत पद्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

।9। " या बिभर्ति कलवल्लकीगुणस्वानमानमतिकालिमाऽलया ।
नात्र कान्तमुपगीतया तया स्वानमा नमति काऽलिमालया ।।"

--शिशु० 4/56

प्रस्तुत पद्य में रैवतक पर्वत का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"इस पर्वत पर अत्यन्त श्याम वर्ण की तथा कञ्जल, जो (भ्रमरपंक्ति) अव्यक्त मधुर वीणातन्त्री की ध्वनि की समानता को धारण करती है, समीप में गान करती हुई उस भ्रमरपंक्ति के द्वारा सुखपूर्वक नम्र करने योग्य कौन प्रिय को नहीं प्रणाम करती है ?"

प्रस्तुत पद्य में प्रयुक्त "का कान्तम् , न नमति" पदों से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि "सभी स्त्रियाँ मान त्याग देने के कारण नम्र हो जाती है एवं प्रिय को प्रणाम करती हैं ।" यहाँ कवि की विवक्षा " रैवतक पर्वत का कामोद्दीपक रूप में" वर्णन करने में है । पद्य की प्रस्तुत पंक्तियों के द्वारा कवि के तात्पर्य की सिद्धि होती है एवं अर्थशक्ति के द्वारा अत्यन्त अगूढ यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि "रैवतक पर्वत भ्रमरों के गुञ्जार के कारण कामोद्दीपक है, अतः यहाँ पर सभी स्त्रियों का मानभङ्ग हो जाता है एवं वे नम्र हो कर प्रिय को प्रणाम करती हैं ।" प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ अत्यन्त स्फुट होने के कारण वाच्य-तुल्य हो गया है, अतः अधिक चमत्कारजनक न होने के कारण प्रस्तुत पद्य अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

(10) "उत्क्षिप्तमुच्छ्रितसितांशुकरावलम्बैरुत्तम्भितोडुभिरतीवतरां शिरोभिः ।
श्रद्धेयनिर्झरजलव्यपदेशमस्य विष्वक्तटेषु पतति स्फुटमन्तरीक्षम् ।।"

—शिशु० 4/29

प्रस्तुत पद्य में रैवतक पर्वत का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है —

" ऊपर उठती हुई चन्द्रकिरण रूपी हाथों के अवलम्बन से नक्षत्रों को रोके हुए शिखरों से अत्यन्त ऊपर उठाया गया आकाशमण्डल, (समान वर्ण होने से) विश्वसनीय रूप से झरने के जल के समान प्रतीत होता हुआ, इस पर्वत के तटों पर चारों ओर गिर रहा है, यह स्पष्ट है ।"

प्रस्तुत पद्य में " पतति स्फुटमन्तरीक्षम्" पदों द्वारा वर्णित है कि "स्पष्ट रूप से आकाशमण्डल इसके तटों के चारों ओर गिर रहा है।" चूँकि आकाशमंडल का गिरना असम्भव है अतः वाच्यार्थ बाधित-सा हो जाता है एवं पर्वत के साथ "सामान्य-संयोगमात्र" अर्थ को लक्षित कराता है। प्रस्तुत वाच्यार्थ से अत्यन्त अगूढ़ यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि "रैवतक पर्वत अत्यन्त ऊँचा एवं विस्तृत अर्थात् गगनचुम्बी है। इसी कारण आकाश के चारों ओर व्याप्त होता हुआ सा प्रतीत होता है।" अतः प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ के व्यञ्जित होने पर "आकाशमंडल के पर्वत के तटों पर चारों ओर गिरने" रूप वाच्यार्थ की सिद्धि हो जाती है।

यहाँ पर अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यार्थ से व्यञ्जित व्यङ्ग्यार्थ "पर्वत की ऊँचाई और विस्तार" अत्यन्त अगूढ़ होने के कारण वाच्य-तुल्य हो गया है, अतः अधिक चमत्कारजनक नहीं है। अतः प्रस्तुत पद्य अगूढ़ गुण गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

।।।। "अचीकरच्चारु हयेन या भ्रमीर्निजातपत्रस्य तलस्थले नलः ।
मरुत् किमद्यापि न तासु शिक्षते वितत्य वात्यामयचक्रचंक्रमान् ।।"

-- नैषध० 1/73

प्रस्तुत पद्य में राजा नल के घोड़ों के तीव्र वेग का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" राजा नल ने अपने आतपत्र के नीचे घोड़े से जिन सुन्दर मण्डलियों को करवाया, वायु समूह के मण्डलाकार भ्रमणों को विस्तृत कर, मरुत् क्या आज भी उन मण्डलियों के विषय में नहीं सीखता है ?"

प्रस्तुत पद्य में मरुत के विषय में "शिक्षते" अर्थात् सीखने रूप व्यापार का वर्णन किया गया है। "सीखना" चेतन का धर्म है, जो

अचेतन मरुत् के विषय में सर्वथा बाधित हो जाता है । उत्तरार्द्ध के "शिक्षते" पद द्वारा " वायु का मण्डलाकार रूप में बहना" रूप अर्थ लक्षित होता है । प्रस्तुत लक्ष्यार्थ से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है "ग्रीष्म ऋतु में मण्डलाकार रूप में बहने वाले वायु के तीव्र वेग से भी अधिक तीव्र नल के घोड़ों का है । " प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होने पर ही "वायुवेग" के द्वारा नल के घोड़ों के वेग का अनुकरण करने रूप" वाच्यार्थ की सिद्धि होती है ।

इस प्रकार यहाँ अत्यन्तातिरस्कृतवाच्य "शिक्षते" से व्यञ्जित व्यङ्ग्यार्थ, अत्यन्त अगूढ होने के कारण, झटिति ही सामान्यजन-प्रतीतिगम्य है तथा अत्यन्त स्फुट होने के कारण अधिक चमत्कारजनक नहीं है । अतः प्रस्तुत उदाहरण लक्षणामूलाध्वनि के अत्यन्तातिरस्कृतवाच्य भेद से व्यञ्जित व्यङ्ग्यार्थ के अगूढ होने के कारण, अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

।।2। "अवमपुटयुगेन स्वेन सायुपनीतं दिगधिपकृपयास्तादीदृशः सन्निधानात् ।
अनमत मधुबालाराग्वाग्रूपमित्थं निषधजनपदेन्द्रःपातुमानन्दसान्द्रः ।।"

--नैषध० 6/112

प्रस्तुत पद्य में दमयन्ती के अनुरागपूर्ण वचनों को सुनकर, राजा नल के हर्षातिशय का वर्णन किया गयाहै । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"निषधदेशाधिपति राजा नल ने इन्द्रादि दिक्पालों की कृपा से इस प्रकार के ।अदृश्य रूप में दमयन्ती के महल में स्थित होने के । सान्निध्य के कारण अपने दोनों कर्णपुटों के द्वारा भलीभाँति लाये गये, बाला दमयन्ती के इस प्रकार के अनुराग ।पूर्ण, वचनों)से अत्यन्त मधु को अत्यन्त आनन्दयुक्त होकर पीने के लिए प्राप्त किया ।"

प्रस्तुत पद्य के उत्तरार्द्ध में वचनों के लिये "मधुमू" पद का प्रयोग किया गया है । " वचनों का ग्रहण " श्रवणेन्द्रिय गोचर होता है उनका "पान" असम्भव है, अतः वचनों का पान रूप अर्थ सर्वथा बाधित

होकर " वचनों का श्रवण " रूप अर्थ को लक्षित कराता है । प्रस्तुत लाक्षणिक अर्थ से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि " दमयन्ती के अनुरागपूर्ण वचन अमृत-तुल्य मधुर थे, राजा नल ने उन अमृत-तुल्य मधुर वचनों को भलीभाँति सुना, जो उन्हें अमृत-पान के सदृश आनन्ददायक प्रतीत हुए ।"

यहाँ अत्यन्ततिरस्कृत "वचनों के पान" के द्वारा व्यक्त "वचनों का श्रवण" रूप व्यङ्ग्यार्थ अत्यन्त स्फुट होने के कारण अधिक चमत्कारजनक नहीं है । अतः प्रस्तुत पद्य लक्षणामूलाध्वनि के अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य नामक भेद में व्यङ्ग्यार्थ के अगूढ होने के कारण, अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

।।3। "प्रत्यङ्गमस्यामभिकेन रक्षां कर्तुं मघोनेव निवासवज्रित ।
वज्रस्य भूषामणिभूतिधारि नियोजितं तद् धृतिकार्मुकं च ।।"

--नैषध0 7/19

प्रस्तुत पद्य में दमयन्ती के अंगो की शोभा का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" इस दमयन्ती में कामुक इन्द्र ने, प्रत्येक अंग की रक्षा करने के लिये आभूषणों में जटित मणियों के रूप को धारण करने वाला अपना अस्त्र-वज्र और उन मणियों से निकलती हुई कान्तिरूप धनुरूप अपने अस्त्र को नियुक्त कर दिया है ।"

अर्थात् पद्य में वर्णित है कि दमयन्ती के अंगों में दोषों से रक्षा के लिये इन्द्र ने दमयन्ती के मणिजटित आभूषणों के रूप में वज्र एवं उन मणियों से निकलती हुई कान्ति के व्याज से धनुष को नियुक्त कर दिया ।

"वज्र एवं धनुष के अचेतन" होने के कारण उनमें किसी की रक्षा करने की सामर्थ्य नहीं हो सकती है, अतः वाच्यार्थ बाधित-सा हो जाता है । धनुष एवं वज्र शब्द अपने अन्वय की सिद्धि के लिये "चेतन पुरुष" रूप अर्थ का भी आक्षेप कर लेते हैं । इस प्रकार यह लक्ष्यार्थ निकलता है कि "मणिजटित आभूषण एवं उनसे निकलने वाली कान्ति, वज्रायुध एवं धनुर्धारी पुरुष के समान उसके अंगों को आवृत करके रक्षा करने के लिये तत्पर होकर बैठे थे ।" प्रस्तुत वाच्यार्थ से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि " रत्नजटित आभूषण एवं मणियों की कान्ति से उसका प्रत्यंग आवृत था तथा वह दोष रहित थी ।" यहाँ लक्षणामूला-ध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य से व्यञ्जित व्यङ्ग्यार्थ के अत्यन्त स्फुट होने के कारण प्रस्तुत पद्य अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

114 । " स्तुतौ मघोनस्त्यज साहसिक्यं वक्तुं कियत्तं यदि वेद वेदः ।
तुषोत्तरं साक्षिणि हृत्सु नृणामज्ञातुर्विज्ञापि ममापि तस्मिन् ।।"

--नैषध० 6/91

प्रस्तुत पद्य में यह वर्णित है कि जब इन्द्रदूती, दमयन्ती से इन्द्रवरण का ही अनुरोध करती है, तब दमयन्ती अनुरोध का उत्तर उक्त प्रकार से देती है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" । हे दूती ।। इन्द्र की स्तुति करने का साहस छोड़ो । उस ।इन्द्र के विषय में।, कुछ ।अर्थात् असम्पूर्णतया। कहना यदि कोई जानता है , तो वेद ।जानता है। । मनुष्यों के हृदय के साक्षी अज्ञात वस्तु को भी जानने वाले, उस ।इन्द्र। के विषय में कुछ उत्तर देना व्यर्थ है ।"

प्रस्तुत पद्य मे प्रयुक्त "साक्षिणि हृत्सु नृणामज्ञातुर्विज्ञापि" पदों द्वारा अर्थापत्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य द्वारा यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित

होता है कि "सर्वान्तर्यामी एवं महामहिमशाली इन्द्र सर्वज्ञ होने के कारण यह जानते हैं कि मेरा हृदय नलासक्त है, अतः उत्तर देना व्यर्थ है।" प्रस्तुत पद्य में कवि की विवक्षा, इन्द्र की "सर्वज्ञता वर्णन" में ही है। प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा कवि के तात्पर्य की विश्रान्ति होती है तथा व्यङ्ग्यार्थ अत्यन्त स्फुट होने के कारण अधिक चमत्कारजनक नहीं है। अतः प्रस्तुत पद्य अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

बृहत्त्रयी में अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल --

आचार्य मम्मट के अनुसार "जहाँ वाक्यार्थीभूत प्रधान अर्थ, अन्य रसादि या वाच्यादि अर्थ हो और दूसरा व्यङ्ग्य रसादि अथवा संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य वस्तु या अलंकारादि व्यङ्ग्य उसका अंग हो", वह अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य कहलाता है।[1]

आचार्य मम्मट ने अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य के तीन प्रकार माने हैं --

(क) जहाँ कोई रस, भावादि प्रधान हो एवं दूसरा रस, भावादि उसका उपकारक होने के कारण अंग हो गया हो।

प्रस्तुत स्थल पर आचार्य मम्मट ने रसवदादि अलंकारों को ही अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल माना है।[2] जैसा कि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में पहले प्रतिपादित किया जा चुका है, रस के, अन्य प्रधान रसादि

1- अपरस्य रसादेर्वाच्यस्य वा (वाक्यार्थीभूतस्य) अङ्गं, रसादि, अनुरणनरूपं वा। --का०प्र०चं०उ०पृ० 199

2- एते रसवदाद्यलंकाराः। --का०प्र०चं०उ०पृ० 204

या वाक्यार्थ का अंग होने पर "रसवत्", भाव के अन्य का अंग होने पर "प्रेयस्", रसाभास एवं भावाभास के अन्य का अंग होने पर "ऊर्जस्वि" एवं भावोदय, भावसन्धि, भावशान्ति तथा भावशबलता के अन्य का अंग होने पर "समाहित" नामक अलंकार होते हैं ।[1] अत: रसादि की अपरस्याङ्गता अनेक प्रकार की होती है --

(1) जब कोई वाक्यार्थ या रसादि प्रधान हो एवं दूसरा रस उसका उपकारक हो ।

(2) जब कोई भाव, प्रधान वाक्यार्थ या रसादि का उपकारक हो ।

(3) जब रसाभास या भावाभास, प्रधान वाक्यार्थ या रसादि का का उपकारक हो ।

(4) जब भावोदय, प्रधान वाक्यार्थ या रसादि का उपकारक हो ।

(5) जब भावसन्धि, प्रधान वाक्यार्थ या रसादि का उपकारक हो ।

(6) जब भावशान्ति, प्रधान वाक्यार्थ या रसादि का उपकारक हो ।

(7) जब भावशबलता, प्रधान वाक्यार्थ या रसादि का उपकारक हो ।

अत: उपर्युक्त प्रकार से, रसादि , दूसरे का अंग होने के कारण, अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल बनते हैं ।[2]

1- यद्यपि भावोदयभावसन्धिभावशबलत्वानि नालङ्कारतया उक्तानि , तथाऽपि कश्चिद् ब्रूयादित्येवमुक्तम् ।

--का0प्र0पं0उ0पृ0 205

2- रसादिरित्यादिपदेन भावरसाभासभावाभासभावशान्तिभावोदय-भावसन्धिभावशबलतात्वस्यासंलक्ष्यक्रमस्य च ग्रहणम् ।

--का0प्र0 बालबोधिनी टीका-पं0उ0पृ0 194

(ख) जब कोई वाक्यार्थ प्रधान हो एवं उसे अपनी सिद्धि के लिये किसी दूसरे व्यङ्ग्य की अपेक्षा न हो फिर भी वस्तुरूप-व्यङ्ग्य, निरपेक्ष वाच्य का अंग हो, तब वह अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल होता है ।[1]

(ग) जब कोई वाक्यार्थ प्रधान हो एवं व्यङ्ग्य की अपेक्षा न रखता हो, फिर भी अलंकाररूप-व्यङ्ग्य वाक्यार्थ का उपकारक हो, तब वह अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल होता है ।[2]

(1) "प्रलीनभूपालमपि स्थिरायति प्रशासदावारिधि मण्डलं भुवः ।
स चिन्तयत्येव भियस्त्वदेष्यतीरहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता ।।"

--किरात0 1/23

युधिष्ठिर ने विश्वासपात्र वनेचर को ब्रह्मचारी-वेश में दुर्योधन के वृत्तान्त को जानने के लिये भेजा था । प्रस्तुत पद्य में वनेचर, युधिष्ठिर से दुर्योधन के वृत्तान्त का वर्णन कर रहा है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"शत्रुविहीन, चिरस्थायी भविष्य वाले, पृथ्वी मण्डल को समुद्र-पर्यन्त शासित करता हुआ भी, वह दुर्योधन आपकी ओर आने वाले (आपसे उत्पन्न होने वाले) भय से चिन्तित हो जाता है । अहो ! बलवानों के साथ विरोध का परिणाम बुरा होता है ।"

1- अत्र शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपो रामेण सहोपमानोपमेयभावो वाच्याङ्गतां नीतः । --का0प्र0पं0उ0पृ0 206

2- अत्र नायकवृत्तान्तोऽर्थशक्तिमूलो वस्तुरूपो निरपेक्षरविकमलिनी-वृत्तान्ताध्यारोपेणैव स्थितः । --का0प्र0पं0उ0पृ0 207

प्रस्तुत पद्य में वनेचर के द्वारा युधिष्ठिर के माहात्म्य का वर्णन किया गया कि यद्यपि दुर्योधन समुद्रपर्यन्त शासन वाला शत्रुरहित राजा है, फिर भी आप लोगों से उत्पन्न होने वाले भयों से चिन्तित हो जाता है अर्थात् वह आप लोगों को अपने से अधिक शक्तिशाली समझता है ।

इस प्रकार यहाँ " वनेचर के द्वारा युधिष्ठिर को अधिक शक्तिशाली रूप में वर्णित करने रूप " वाक्यार्थ से वनेचर रूप दूत की "युधिष्ठिर नृपविषयक रतिरूप भाव" की प्रधानतया अभिव्यक्ति होती है । शक्तिशाली, शत्रुरहित दुर्योधन के मन में युधिष्ठिर के भय से उत्पन्न " चिन्तारूप व्यभिचारी भाव का उदय " युधिष्ठिर नृपविषयक रतिरूप भाव के प्रकर्ष को और अधिक बढ़ा रहा है ।

इस प्रकार यहाँ "चिन्तारूप भावोदय", दूत के "नृपविषयक रतिरूप प्रधान भाव" का उपकारक आश्रय अंग है । अतः प्रस्तुत पद्य अपराङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

{2} "तदनघ तनुरस्तु सा सकामा व्रजति पुरा हि परासुतां त्वदर्थे ।
पुनरपि सुलभं तपोऽनुरागी युवतिजनः खलु नाप्यतेऽनुरूपः ।।"

--किरात० 10/50

प्रस्तुत पद्य में अविचल समाधि में लीन अर्जुन का तपोभंग करने के लिये सुरसुन्दरियों के द्वारा प्रयुक्त हाव-भावों का वर्णन किया गया है तथा किसी नायिका की दूती का अर्जुन से प्रति कथन है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" हे निष्पाप ! अत्यन्त क्षीणा उस नायिका का सफल मनोरथ हो जाय क्योंकि तुम्हारे कारण {वह} पहले ही मरणासन्न है,

तपश्चर्या तो बाद में भी सुलभ्ाया सम्पन्न। हो सकती है । अनुरूप प्रेमी एवं युवतीजन उपलब्ध नहीं होते हैं ।"

प्रस्तुत पद्य में " सुरसुन्दरियों की परपुरुष के प्रति प्रवृत्त रति की अनौचित्यपूर्ण प्रवृत्ति" की व्यञ्जना हो रही है, जो कि "रसाभास" कोटि में आती है ।

प्रस्तुत "रसाभास" प्रधान रूप से व्यक्त "कविनिष्ठ तपस्वी अर्जुन विषयक रतिरूप भाव" को ही प्रकर्षयुक्त बना रहा है, क्योंकि नायिकाओं के द्वारा इस प्रकार के अनौचित्यपूर्ण हावभाव प्रदर्शन एवं प्रेमयुक्त वचनों के व्यक्त करने पर भी तपस्वी अर्जुन अविचल समाधि से विरत नहीं हुए ।

इस प्रकार "रसाभास" अर्जुन की तपश्चर्या की अखण्डता को ही चारुत्वयुक्त बनाने के कारण, कविनिष्ठ "तपस्वी अर्जुन विषयक रतिरूप भाव" का अंग हो गया है । अतः प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

।3। "चिरमपि कलितान्यपारयन्त्या परिगदितुं परिशुष्यतामुखेन ।
गतघृण ! गमितानि मत्सखीनां नयनयुगैः सममार्द्रतां मनांसि ।।"

--किरात० 10/48

प्रस्तुत पद्य में तपश्चर्या में लीन अर्जुन का तपोभंग करने के लिये, अप्सराओं ने एक दूती के माध्यम से अपने अर्जुन विषय रति को व्यक्त किया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" हे कठोर हृदय ! बहुत दिनों से । संदेश भेजने के लिये । विचार किये गये ।वचनों को। भी, शुष्कोष्ठ होने के कारण व्यक्त करने

में असमर्थ , मेरी सखी के अन्तःकरण दोनों नेत्रों के साथ आर्द्रता को प्राप्त हो गये हैं ।" दूती के उक्त कथन का आशय यह है कि सखी के नेत्र एवं अन्तःकरण सभी शोकाश्रुओं से भीग गये हैं ।

प्रस्तुत पद्य में प्रयुक्त "चिरमपि कलितान्यपारयन्त्या" पदों के द्वारा नायिका के "जड़ता" रूप व्यभिचारी भाव एवं"गमितानि नयनयुगैः सममार्द्रतां मनांसि" पदों के द्वारा "विषाद" रूप व्यभिचारी भावों की सन्धि की अभिव्यक्ति होती है । इस प्रकार यहाँ पर सखी के मुख से नायिका के "जड़ता एवं विषाद रूप व्यभिचारी भावों की सन्धि" की अभिव्यक्ति की गई है ।

प्रस्तुत "भावसन्धि" , प्रधान रूप से व्यक्त कविनिष्ठ तपस्वी अर्जुन विषयक " रति रूप भाव " को और अधिक चारुत्वयुक्त बना रहा है , क्योंकि दूती के माध्यम से, सदेश रूप में अप्सरा के व्यभिचारी भावों की सन्धि की अभिव्यक्ति होने पर भी अर्जुन अविचल समाधि से विरत नहीं हुए ।

इस प्रकार यहाँ "भावसन्धि" , प्रधान रूप से व्यक्त कविनिष्ठ अर्जुन विषयक रति रूप भाव का उपकारक अतएव अंग हो गया है, अतः प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

।4। " प्रकृतमनुससार नाभिनेयं प्रविकसदङ्गुलि पाणिपल्लवं वा ।
प्रथममुपहितं विलासि चक्षुः सिततुरगे न चचाल नर्तकीनाम् ।।"

--किरात० 10/41

प्रस्तुत पद्य में वर्णित है कि अर्जुन को मोहित करने के लिये प्रेषित अप्सरायें , अर्जुन को देखकर नृत्यकाल में व्यञ्जित होने वाले हावभावों को भूल गईं । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" नर्तकियों के सुशोभित उँगलियों वाले कर-किसलय ने प्रकृत (भ्रूविक्षेपादि रूप) अभिनय का अनुसरण नहीं किया तथा अर्जुन पर प्रथम बार ही पड़े हुए उनके विलास-युक्त नेत्र वहाँ से हटे ही नहीं ।"

अर्थात् अर्जुन को लक्ष्य करके नृत्य प्रारम्भ करते ही , हावभावों एवं कटाक्षादि के प्रदर्शन में दक्ष उनके नेत्र एवं हाथ जड़तुल्य हो गये एवं वे रसाभिव्यञ्जक अभिनय न कर सकीं ।

इस प्रकार यहाँ अप्सराओं में, कामपीड़ित होने के कारण "जड़ता रूप व्यभिचारी भाव का उदय" वर्णित है, जो कि कविनिष्ठ "तपस्वी अर्जुन विषयक रतिरूप भाव" का उपकारक है एवं रतिरूप भाव को ही अधिक प्रकर्षयुक्त बना रहा है क्योंकि तपस्वी अर्जुन को देखकर अप्सराओं में ही कामपीड़ित होने के फलस्वरूप "जड़ता भाव का उदय" हो गया परन्तु अर्जुन का ध्यान नहीं भंग हुआ वे तपस्या में ही लीन रहे ।

इस प्रकार "भावोदय", के रतिरूप"भाव" का अंग होने के कारण, यह अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

(5) "अथ भूतानि वार्त्रघ्नशरेभ्यस्तत्र तत्रसुः ।
भेजे दिशः परित्यक्तमहेष्वासा च सा चमूः ।।"

--किरात० 15/1

प्रस्तुत पद्य में क्रुद्ध अर्जुन एवं शंकर की सेना का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"वहाँ (रणभूमि में) वृत्रासुराभिघाती (इन्द्र) के पुत्र (अर्जुन) के बाणों से सभी जीव-जन्तु भयभीत हो गये और वह (शंकर की) सेना

बड़े-बड़े धनुषों का परित्याग करके विभिन्न दिशाओं में भाग गईं ।"

प्रस्तुत पद्य में जीव-जन्तुओं के भयभीत होने एवं शंकर की सेना के भागने का वर्णन किया गया है, जिससे जीव-जन्तुओं एवं शंकर की सेना में "त्रास रूप व्यभिचारी भाव के उदय" की व्यञ्जना होती है ।

प्रस्तुत " त्रास रूप भावोदय", वीर अर्जुन की वीरता एवं पराक्रम के उत्कर्ष की वृद्धि कर रहा है, अतः कविनिष्ठ अर्जुन विषयक "रतिरूप भाव" प्रधान है । "त्रास रूप भावोदय", रतिरूप "भाव" का उपकारक अतएव अंग हो गया है । अतः प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

16। "द्वारि चक्षुरधिपाणि कपोलौ जीवितं त्वयि कुतः कलहोऽस्याः ।
कामिनामिति वचः पुनरुक्तं प्रीतये नवनवत्वमियाय ॥"

-- किरात0 9/43

प्रस्तुत पद्य में प्रणयकलह में कुपित प्रेमीजनों को प्रसन्न करने के लिये नायिका की सखियों द्वारा किये गये अनुनय का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"।आपकी प्रियतमा आपकी प्रतीक्षा में। द्वार पर दृष्टि लगाये रहती है, हाथों पर कपोल रख कर बैठी रहती है, ।उसका। जीवन आपके अधीन है, ।अतः। इसका आपसे कलह कहाँ सम्भव है ? इस प्रकार कामी-जनों को प्रसन्न करने के लिये ।दूती के द्वारा। कहे गये वचनों ने नवीन प्रकार के ।प्रेम-भाव को। उत्पन्न किया ।"

प्रस्तुत पद्य में दूती के द्वारा नायिका की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन किया गया है, जिससे नायिका की नायक के प्रति "शृंगाररूप रति" की प्रधान रूप से व्यञ्जना होती है । पूर्वार्द्ध

है वाच्यार्थ के द्वारा अनेक "व्यभिचारी भावों की शबलता" की व्यञ्जना होती है, जो कि "शृंगाररूप रति" की ही उत्कर्षवर्धक है ।

पूर्वार्द्ध का वाच्यार्थ इस प्रकार है -- "द्वारि चक्षुः" का वाच्यार्थ है कि "नायिका नायक के आगमन की प्रतीक्षा में द्वार पर ही दृष्टि लगाये रहती है," इससे नायिका के "औत्सुक्यरूप व्यभिचारी भाव" की व्यञ्जना होती है । -"अधिपाणि कपोलौ" का वाच्यार्थ है-- "हाथों पर कपोल रख कर बैठी रहती है", इससे "चिन्तारूप व्यभिचारी भाव" की व्यञ्जना होती है । "त्वयि जीवितम्" का वाच्यार्थ है -- "तुम्हारे बिना जीवित नहीं रह सकती है," इससे मरणरूप व्यभिचारी भाव" की व्यञ्जना होती है ।

इस प्रकार पूर्वार्द्ध के वाच्यार्थ के द्वारा व्यक्त "नायिका के औत्सुक्य, चिन्ता, एवं मरणरूप व्यभिचारी भावों की शबलता, प्रधान रूप से व्यक्त "नायिका की नायक विषयक रति अर्थात् शृंगार रस" के प्रकर्ष को और चारुत्वयुक्त बनाने के कारण अंग हो गयी है । शृंगाररस, भावशबलता से उपस्कृत होकर प्रधान रूप से व्यञ्जित हो रहा है । अतः प्रस्तुत पद्य अपराङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

87। "उज्झती शुचमिवाशु तमिस्रामन्तिकं व्रजति तारकराजे ।
दिक्प्रसादगुणमण्डनमूहे रश्मिहासविशदं मुखमैन्द्री ।।"

--किरात० 9/18

प्रस्तुत पद्य में चन्द्रमा के उदित होने का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"प्राची दिशा ने चन्द्रमा के समीप आने पर ।अर्थात् उदित होने पर।, शीघ्र ही अन्धकार को विरह दुःख के सदृश त्याग कर, निर्मलता

रूप गुणों से सुशोभित , किरणों के हास से विशद मुख ।अर्थात् अग्रभाग। को धारण किया ।"

प्रस्तुत पद्य में "प्रस्तुत दिशा एवं चन्द्रमा-परक" अर्थ के श्लिष्ट विशेषणों के माहात्म्य से, " अप्रस्तुत नायिका एवं नायक के व्यवहार " की प्रतीति होती है । विशेष्य "ऐन्द्री दिक्" एवं "तारकराजे" के श्लिष्ट न होने के कारण "दिशा एवं चन्द्रमा-परक" अर्थ वाच्य रूप एवं "नायिका-नायकपरक" वर्णन व्यङ्ग्य रूप है ।

नायिका-नायकपरक अर्थ इस प्रकार है --"जैसे किसी नायिका का मुख , नायक के समीप आने पर, विरह द्वारा उत्पन्न शोक का परित्याग करके, हास युक्त एवं प्रसन्नता के कारण विशद हो जाता है ।"

यहाँ "दिशा-चन्द्रपरक अर्थ" निरपेक्ष, स्वतः सिद्ध है एवं प्रधान है । विशेष्य श्लिष्ट न होने के कारण "नायिका-नायकपरक अर्थ" अपर्यवसित अतः अप्रधान है, यह वाच्यार्थ पर आरोपित होकर उसी की चारुत्व-वृद्धि कर रहा है । अतः व्यङ्ग्यार्थ उपकारकत्वात् अप्रधान हो गया है । प्रस्तुत पद्य "अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

।8। "सहशरधि निजं तथा कार्मुकं वपुरतनु तथैव संवर्मितम् ।
निहितमपि तथैव पश्यन्नसिं वृषभगतिरुपाययौ विस्मयम् ।।"

--किरात0 18/16

प्रस्तुत पद्य में शौर्य एवं पराक्रम से प्रसन्न , भगवान् शंकर के द्वारा, अर्जुन को गाण्डीव धनुष से युक्त करने का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

--"वृषभ की गति के सदृश गतिमान् । वह अर्जुन ।, तूणीरों के सहित अपने गाण्डीव धनुष को,सम्यक् रूप से कवच से आच्छादित अपने

शरीर को तथा पूर्ववत् स्थापित खड्ग को देखते हुए विस्मय को प्राप्त हुए ।"

अर्थात् जब भगवान् शंकर अर्जुन के शौर्य एवं पराक्रम से प्रसन्न हो गये तब वे किरातवेश का परित्याग करके, साक्षात् भस्म-युक्त शरीर एवं चन्द्रकला से युक्त होकर प्रकट हुए और उन्होंने अर्जुन को पूर्ववत् धनुष, कवच एवं खड्ग आदि से सुशोभित कर दिया ।

प्रस्तुत पद्य में अर्जुन का "भगवान् शंकर विषयक रति भाव" प्रधान रूप से व्यक्त होता है । भगवान् शंकर के माहात्म्य से अर्जुन को अपहृत धनुषादि पुनः प्राप्त हो गये अतः वह " विस्मय-भाव " से युक्त हो गये, जिससे "अद्भुत-रस" की व्यञ्जना होती है ।

प्रस्तुत "अद्भुत-रस" अर्जुन की "शंकर-विषयक रतिरूप भाव" के प्रकर्ष को और अधिक बढ़ा रहा है क्योंकि भगवान् शंकर की कृपा से ही अर्जुन को अपने शस्त्रादि पुनः प्राप्त हुए थे, अतः उन्हें शंकर की अद्भुत-शक्ति पर अधिक आश्चर्य हो रहा था । यहाँ पर भगवान् शंकर विषयक "रतिरूप भाव" प्रधान रूप से वाक्यार्थयुक्त अतः अंगी है तथा "अद्भुत-रस" उपकारकत्वात् अंग है । अतः प्रस्तुत पद्य अरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

494 "विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम् ।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती ।।"

-- किरात० 14/3

प्रस्तुत पद्य में इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या करते हुए अर्जुन

की तपस्या भंग करने के लिये, आये हुए किरात-वेषधारी शंकर की वाणी की प्रशंसा करते हुए अर्जुन कह रहे हैं । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है--

"स्फुट ।रूप से उच्चारित। वर्ण रूपी आभूषण वाली, कर्ण-प्रिय, शत्रुओं के हृदय को भी प्रसन्न करने वाली, ।सुप्तिङन्त रूप वाचक। पदों एवं अर्थगाम्भीर्य से युक्त वाणी, अकृत पुण्य कर्म वालों को नहीं प्राप्त होती है ।"

प्रस्तुत पद्य में "वाणी का वर्णन" प्रस्तुत है एवं श्लिष्ट विशेषणों के माहात्म्य से "अनुरक्त नायिका के व्यवहार" की प्रतीति होती है परन्तु "सरस्वती" विशेष्य पद श्लिष्ट नहीं है अतः व्यङ्ग्य रूप नायिका-परक अर्थ पर्यवसित नहीं है एवं वाच्यार्थ का उपकारक मात्र है ।

नायिका-परक व्यङ्ग्यार्थ इस प्रकार है -- " जिस प्रकार स्फुट अर्थात् स्पष्ट रूप से "गुण - रूप" ही जिसका आभूषण है, सुन्दर वाणी वाली ।अर्थात् मञ्जुभाषिणी।, न केवल मित्रों के हृदय को प्रसन्न करने वाली वरन् शत्रुओं के हृदय को भी प्रसन्न करने वाली, प्रसन्न ।अर्थात् निर्मल। एवं गम्भीर पदन्यास वाली श्रेष्ठ स्त्री-रत्न अकृत पुण्य कर्मों वाले व्यक्ति को नहीं प्राप्त होती है, केवल सुकृत कर्म वाले व्यक्ति को ही प्राप्त होती है ।"

प्रस्तुत पद्य में "वाणी का वर्णन" रूप अर्थ, वाच्यार्थ है, वह पर्यवसित होने के कारण प्रधान है । नायिका-परक व्यङ्ग्यार्थ, वाच्यार्थ पर ही आरोपित होकर स्थित है, उसके बिना नहीं रह सकता है, अतः अपर्यवसित है । व्यङ्ग्यार्थ, निरपेक्ष वाच्यार्थ का उपस्कारक, अतः अप्रधान हो गया है, अतः प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

।10। "अंशुतापभयादपलीनं वासरच्छविविरामपटीयः ।
संनिपत्य शनकैरथ निम्नादन्धकारमुदवाप समानि ।।"

--किरात० 9/11

प्रस्तुत पद्य में संध्या के अवसान होने पर, रात्रि के आगमन का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"।सन्ध्या के अवसान होने के। अनन्तर, प्रभातकालीन ।सूर्य के। आतप के भय से मानों कहीं छिपा हुआ, दिन की छवि को समाप्त करने में कुशल, अन्धकार धीरे-धीरे नीचे की ओर से आकर सभी स्थानों पर समान रूप से व्याप्त हो गया ।"

प्रस्तुत पद्य में "दिनश्री के अवसान होने पर, सर्वत्र अंधकार व्याप्त होने का वर्णन" वाच्य है । अन्धकार के विशेषणों के माहात्म्य से "अप्रस्तुत क्षुद्र जनों के व्यवहार" की प्रतीति होती है ।

अप्रस्तुत रूप व्यङ्ग्यार्थ इस प्रकार है --

" जिस प्रकार प्रभावशाली एवं प्रतापी राजा के राज्य में क्षुद्र जन एवं नीच पुरुष भय के कारण छिपे रहते हैं, परन्तु राजा के प्रभावहीन होने पर क्षुद्र एवं नीच जन सर्वत्र व्याप्त होकर अपना आतंक प्रारम्भ कर देते हैं उसी प्रकार दिनश्री के प्रतापयुक्त होने पर अन्धकार छिपा था परन्तु प्रभावहीन होने पर सर्वत्र व्याप्त हो गया है ।"

यहाँ पर "विशेष्य" पद की शिलष्टता के अभाव में क्षुद्र जनों का व्यवहार रूप व्यङ्ग्यार्थ पूर्णरूप से पर्यवसित नहीं है परन्तु वाच्यार्थ पर ही आरोपित हो कर स्थित है । यहाँ वाच्यार्थ निरपेक्ष है, फिर भी व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ का उपकारक है । अतः प्रस्तुत पद्य

अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

॥2॥ "सुदृशः समीपगमनाय युवभिरथ संबभाषिरे ।
शोकपिहितगलरुद्धगिरस्तरसागताश्रुजलकेवलोत्तराः ॥"

--शिशु0 15/83

प्रस्तुत पद में युद्ध-गमन की अनुमति प्राप्त करने के लिये समीप आये हुए, शूरवीरों की प्रियाओं की मनोदशा का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" इस अवसर पर युवकों ने युद्ध में जाने के लिये, शोकयुक्त कण्ठ में अवरुद्ध वचनों वाली, वेगपूर्वक निकलते हुए अश्रुजल से ही केवल उत्तर देने वाली सुनयनियों से कहा ।"

प्रस्तुत पद में नायिकाओं की शोकाकुल अवस्था का वर्णन किया गया है । " अश्रुजलकेवलोत्तराः" आदि विशेषणों से नायिकाओं के "अशक्यवक्तव्यत्व" रूप व्यङ्ग्यार्थ की व्यञ्जना होती है अर्थात् नायिकायें अत्यधिक शोकाकुल होने के कारण मुख से युद्ध में जाने का निषेध नहीं कर सकीं, परन्तु निरन्तर बहते हुये अश्रुजल से युक्त नेत्रों से मानों निषेध-सा कर रही हैं ।

इस प्रकार व्यङ्ग्य रूप " जाने का निषेध-सा करना " वाच्य रूप "शोकातिशय के कारण केवल अश्रुपूर्ण नेत्रों से उत्तर देना" को ही अधिक प्रभावयुक्त बना रहा है । व्यङ्ग्यार्थ से उपस्कृत प्रस्तुत वाच्यार्थ कि " हम लोगों के लिये आपका गमन अत्यधिक कष्टकारक है फिर भी जाना चाहते हैं तो आप जाइये" अत्यधिक चमत्कारपूर्ण है, अतः प्रधान है । व्यङ्ग्यार्थ के वाच्योपस्कारक होने के कारण प्रस्तुत पद अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

।।3। "महदपि स्वेच्छया कार्यं प्रकीर्णमभिधीयते ।
अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः ।।"

--शिशु0 2/73

प्रस्तुत पद्य का वर्ण्य-विषय यह है कि बलराम जी के द्वारा, श्रीकृष्ण को शिशुपाल के प्रति शीघ्रातिशीघ्र अभियान करने की सम्मति दिये जाने पर, उद्धव जी अपनी तर्कपूर्ण उक्तियों के द्वारा उनकी सम्मति का खण्डन करते हैं। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"अपनी प्रतिभा के अनुसार ।नीतिशास्त्र विरुद्ध। असंगत-वचन यथेष्ट-मात्रा में कहा जा सकता है, परन्तु कार्य की संगति न छोड़ने वाला सन्दर्भ ।वचन। कठिनाई । या दुःख। से कहा जा सकता है।"

प्रस्तुत पद्य में यह वर्णित है कि नीतिशास्त्रज्ञ उद्धव जी को बलराम की सम्मति उचित नहीं प्रतीत हुई परन्तु उन्होंने स्पष्ट शब्दों में उनके मत का विरोध नहीं किया, वरन् तर्कपूर्ण उक्तियों द्वारा अपने मत का प्रतिपादन किया। इस प्रकार उन्होंने प्रकट रूप में यह कहा कि "बलराम जी ने उचित ही कहा" इस रूप में उनकी "स्तुति" की, परन्तु व्यङ्ग्य रूप से उनकी निन्दा व्यञ्जित होती है कि "उन्होंने असंगत, नीतिशास्त्र विरुद्ध वचन कहे हैं, अतः उन्होंने उचित सम्मति नहीं प्रस्तुत की है।"

इस प्रकार यहाँ प्रारम्भ में प्रतीत होने वाली स्तुति का निन्दा में पर्यवसान हो रहा है परन्तु व्यङ्ग्य निन्दा से अपेक्षा वाच्य रूप "व्याजस्तुति" ही अधिक चमत्कारपूर्ण होने के कारण प्रधान है। प्रस्तुत व्याजस्तुति के द्वारा उद्धव का "राजविषयक रतिरूप भाव" व्यङ्ग्य रूप से व्यञ्जित होता है, जो वाच्यरूप व्याजस्तुति का उपकारक है। अतः प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

॥3॥ " यां यां प्रियः प्रैक्षत कातराक्षी सा सा ह्रिया नम्रमुखी बभूव ।
निःशङ्कमन्याः सममाहितेर्ष्यास्तत्रान्तरे जघ्नुरमुं कटाक्षैः ॥"

--शिशु0 3/16

प्रस्तुत पद्य में द्वारका से प्रस्थान करते हुए श्रीकृष्ण को देखकर नगरवासिनी स्त्रियों की दशा का वर्णन किया गया है --

" प्रिय श्रीकृष्ण ने जिस-जिस रमणी को देखा, वह-वह ॥रमणी॥ संकोच के कारण कातर नेत्रों वाली ॥होकर॥ लज्जावश नम्र मुख वाली हो गयी । इस बीच ईर्ष्या युक्त, अन्य रमणियों के द्वारा निःशङ्क होकर एक साथ इस कृष्ण पर कटाक्षपात किया गया ।"

प्रस्तुत पद्य में कवि ने श्री कृष्ण की लोकप्रियता एवं नगरवासियों में कृष्ण के प्रति प्रेम को प्रधान रूप से व्यक्त किया है । नगरवासिनी स्त्रियों का कृष्ण-विषयक प्रेम "अनौचित्य-पूर्ण" होने के कारण "रसाभास" कहलायेगा, जिसकी यहाँ प्रधान रूप से व्यञ्जना हो रही है । श्रीकृष्ण को देखकर स्त्रियों में "लज्जा एवं ईर्ष्या रूप व्यभिचारी भावों का उदय" उनके कृष्णविषयक प्रेम की तीव्रतर व्यञ्जना कराता है । स्त्रियाँ कृष्ण-विषयक प्रेम के कारण साथ जाने की इच्छुक थी । "प्रैक्षत" पद से व्यक्त होता है, कि जिस रमणी को श्रीकृष्ण ने देखा उसे साथ जाने की अनुमति मिल गई, अतः वह लज्जावश नम्र मुख वाली हो गई । इसी बीच अन्य स्त्रियों ने भी साथ जाने की इच्छा से, ईर्ष्यावश कृष्ण पर कटाक्षपात किया । स्त्रीजनों के द्वारा व्यक्त "लज्जा" एवं ईर्ष्यारूप व्यभिचारी-भावों का उदय" उनके कृष्ण-विषयक प्रेम को और अधिक पुष्ट करता है । इस प्रकार यहाँ "रसाभास" प्रधान है एवं "भावोदय" "रसाभास" का ही उत्कर्षवर्धक होने के कारण अंग हो गया है अतः प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

।4। "शठ नाकलोकललनाभिरविरतरतं रिरंससे ।
तेन वहसि मुदमित्यवदद्रणराभिमं रमणमीर्ष्ययाऽपरा ।।"

--शिशु० 15/88

प्रस्तुत पद्य में भावी विरह की आशंका से रमणी, परोक्ष रूप से पति से युद्ध में न जाने का अनुरोध कर रही है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" किसी स्त्री ने युद्ध के लिये उत्साह-युक्त, पति से इस प्रकार ईर्ष्या-युक्त होकर कहा -- हे धूर्त !, तुम ।युद्ध में मरकर। स्वर्ग-लोक की स्त्रियों के साथ अविच्छिन्न रति करते हुए रमण करने की इच्छा करते हो, इसी कारण से प्रसन्न हो रहे हो ।"

प्रस्तुत पद्य में युद्ध के लिये उत्साह-युक्त पति के भावी विरह की आशंका के कारण दुःखी रमणी का प्रसंग होने के कारण "करुण-रस" प्रधान रूप से आस्वाद्य है ।

प्रस्तुत वर्णन से रमणी में "असूयारूप व्यभिचारी-भाव का उदय" व्यङ्ग्य रूप से प्रतीत हो रहा है । इसी ईर्ष्या-भाव के कारण वह पति को "धूर्त" कहते हुए अप्सराओं के साथ रमण करने के प्रसंग को कह रही है, जिससे व्यङ्ग्य रूप से यह अर्थ व्यञ्जित होता है कि "युद्ध में तुम निश्चित रूप से मृत्यु को प्राप्त करके, अप्सराओं के समीप स्वर्ग-लोक पहुँच जाओगे, यह विरह मैं सहन नहीं कर पाऊँगी ।"

यहाँ "असूया भावोदय", "करुण-रस" का उपकारक है, इस प्रकार ईर्ष्यारूप असूया व्यभिचारी भाव के उदय के द्वारा रमणी के शोकातिशय की प्रतीति होती है और करुण-रस ही प्रधान रूप से चारुत्व-युक्त है । अतः भावोदय के, करुण-रस का अंग होने के कारण प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूत-व्यङ्ग्य का स्थल है ।

॥5॥ "ध्रियमाणमप्यगलदश्रु बलाति दयिते नतभ्रुवः ।
स्नेहमकृतकरसं दधतामिदमेव युक्तमतिमुग्धचेतसाम् ॥"

-- शिशु0 15/89

प्रस्तुत पद्य में पति विरह से आशंकित रमणी की मन: स्थिति का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" प्रिय के प्रस्थान करने पर नम्रभ्रु वाली रमणी का धारण किया हुआ अश्रु गिर पड़ा , अकृत्रिम अनुराग को धारण करते हुए, अत्यन्त सरल हृदय वाली रमणियों के लिये यही उचित है ।"

प्रस्तुत पद्य में वर्णित है कि युद्ध के लिये उत्साह-युक्त पति प्रस्थान कर रहा है, रमणी हृदय से अत्यधिक दु:खी होते हुए भी अमंगल के भय से किसी प्रकार अपने आँसुओं को रोके हुए थी परन्तु पति के प्रस्थान करते ही शोकातिशय के कारण अपने को नियन्त्रित करने में असमर्थ हो गई और उसके नेत्रों से आँसु गिर पड़ा ।

प्रस्तुत पद्य में "ध्रियमाणमप्यगलदश्रु" पद के द्वारा रमणी के "धैर्यरूप व्यभिचारी भाव के नष्ट होने की व्यञ्जना होती है अर्थात् रमणी अमंगल के भय से किसी प्रकार धैर्य धारण करके आँसु रोके हुए थी परन्तु पति के प्रस्थान करते ही शोकातिशय के कारण उसका धैर्य समाप्त हो गया ।

इस प्रकार यहाँ "करुण-रस" प्रधान रूप से वर्णित है एवं "धैर्य-रूप" व्यभिचारी भाव की शान्ति" करुण-रस का उपकारक होने के कारण, शोक के उत्कर्ष को और अधिक बढ़ा रहा है । इस प्रकार यहाँ भावशान्ति करुण-रस का उपकारक अत: अंग हो गया है । अत: प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

॥6॥ " भ्रूभङ्गसादमसमत्वमविशददृश: कपोलयो: ।
वाक्यमसकलमपास्य मदं विदधुस्तदीयगुणमात्मना शुच: ॥"

--शिशु0 15/82

प्रस्तुत पद्य में किसी राजपत्नी की शारीरिक अवस्थाओं का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"(भावी पति-विरह की आशंका से उत्पन्न) शोक ने अप्रसन्न दृष्टि वाली (भार्या के, मद्यपान से उत्पन्न) मद को छोड़ कर अत्यधिक अंगों की शिथिलता कपोलों की लालिमा एवं वाक्य कीअसमाप्ति रूप (पूरी बात न कहा जाना), मदिरा के गुणों (अर्थात मद्यपान से उत्पन्न कार्यों) को स्वयं धारण कर लिया ।"

प्रस्तुत पद्य में किसी नायिका में मद्यपान से उत्पन्न क्रियाओं के समान, क्रियाओं का वर्णन किया गया है, परन्तु इस नायिका में उपर्युक्त क्रियायें मद्यपान के कारण नहीं वरन् पति के भावी-विरह की आशंका से उत्पन्न हुई हैं । इस प्रकार यहाँ नायिका में उत्पन्न"श्रृंगारिक क्रियाओं" का वर्णन किया गया है, जिससे "श्रृंगार-रस" की व्यञ्जना होती है । यहाँ पति के भावी-विरह की आशंका से दु:खी नायिका का प्रसंग है, अत: "करुण-रस" प्रधान रूप से चारुत्व-युक्त है, श्रृंगार-रस के द्वारा , प्रधानीभूत "शोकातिशय रूप करुण-रस" कीचारुत्व-वृद्धि की जा रही है क्योंकि नायिका में उपर्युक्त श्रृंगारिक-क्रियायें मद्यपान के कारण नहीं उत्पन्न हुई थीं , मद को छोड़कर मद्यपान के सभी गुणों को शोकातिशय ने ही प्राप्त कर लिया था ।

इस प्रकार यहाँ श्रृंगार-रस, प्रधानीभूत करुण-रस का उपकारक होने के कारण गौण हो गया है । अत: प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूत-व्यङ्ग्य का स्थल है ।

।17। "स्पृशन्सशङ्कः समये शुचावपि स्थितः कराग्रैरसमग्रपातिभिः ।
अघर्मघर्मोदकबिन्दुमौक्तिकैरलञ्चकारास्य वधूरहस्करः ।।"

--शिशु0 1/58

प्रस्तुत पद्य में ग्रीष्म ऋतु के सूर्य का वर्णन किया गया है, जो रावण के भय से उसकी रानियों को अधिक सन्तप्त नहीं करता है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"सूर्य ग्रीष्म काल में स्थित होने पर भी, संकुचित किरणाग्रों से सशंकित होकर स्पर्श करते हुए, । इस रावण के भय से । उसकी वधुओं को शीतल स्वेद-बिन्दु रूपी मोतियों से अलंकृत करता है ।"

यहाँ " प्रस्तुत सूर्य" के श्लिष्ट विशेषणों के माहात्म्य से, "अप्रस्तुत शुद्धाचरण वाले सचिव के व्यवहार" की प्रतीति होती है । यहाँ अप्रस्तुत रूप नर्म सचिव सम्बद्ध अर्थ इस प्रकार व्यञ्जित होता है --

" जिस प्रकार कोई शुद्धाचरण वाला नर्म सचिव राजा के भय से संकुचित हस्ताग्रों से सशंकित होकर स्पर्श करता हुआ, रानियों को मोतियों से अलंकृत करता है, उसी प्रकार सूर्य संकुचित किरणाग्रों से रावण की रानियों को स्वेद-बिन्दुओं से अलंकृत करता था ।"

यहाँ "विशेष्य अहस्कर: पद श्लिष्ट नहीं है, अतः "अप्रस्तुत शुद्धाचरण वाले नर्मसचिव के व्यवहार" की व्यञ्जना, रूप व्यङ्ग्यार्थ स्वात्म-विश्रान्त नहीं है एवं निरपेक्ष वाच्य रूप, सूर्य- एवं रावण-वधुओं के व्यवहार पर आरोपित होकर ही स्थित है । इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ, वाच्यार्थ का उपकारक अतः अप्रधान है, वाच्यार्थ, व्यङ्ग्यार्थ से उपस्कृत होकर अधिक चारुत्व युक्त है । प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

।।9। "छायामयः प्रैक्षि कयापि हारे निजे स मध्ये न्य नैषधमाणः ।
तच्चित्तयान्तर्निरवापि पाश्र्वस्तथैव तन्व्या हृदयं प्रविष्टः ।।"

--नैषध0 6/30

प्रस्तुत पद्य में अदृश्य रूप से दमयन्ती के महल में प्रविष्ट नल के सौन्दर्य एवं उन्हें देखकर एक सुन्दरी की अवस्था का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" किसी स्त्री ने अपने हार में प्रतिबिम्बित नल को देखा ।फिर अन्यत्र। जाते हुए नहीं देखा । तब उस ।नल। में अनुरक्त चित्त वाली कृशाङ्गी ने "मेरे ही हृदय में प्रविष्ट हो गया" इस प्रकार का ठीक ही निश्चय किया है ।"

प्रस्तुत पद्य में कवि का "राजविषयक रति रूप भाव" प्रधान रूप से वर्णित है, जो कि नल के प्रभावातिशय एवं सौन्दर्यातिशय वर्णन द्वारा व्यक्त होता है ।

प्रस्तुत पद्य के उत्तरार्द्ध के द्वारा "कृशाङ्गी का नल के प्रति अनुरक्त होना एवं कामपीड़ित होना" व्यञ्जित होता है, जिससे कृशाङ्गी की नल के प्रति "रति-भावना" व्यञ्जित होती है, जो कि परपुरुष के प्रति प्रवृत्त होने के कारण " शृंगार-रसाभास" की कोटि में आती है ।

प्रस्तुत शृंगार-रसाभास, प्रधान रूप से वर्णित राजा नल के सौन्दर्यातिशय एवं प्रभावातिशय रूप वर्णन को और अधिक प्रभावयुक्त बना रहा है क्योंकि अपने मणिनिर्मित हार में प्रतिबिम्बित नल के सौन्दर्य को देखकर कृशाङ्गी उस नल पर अत्यधिक आसक्त होकर कामपीड़ित हो गई ।

यहाँ "शृंगार-रसाभास", कविनिष्ठ राजविषयक रति रूप "भाव" का उपकारक होने के कारण अंग हो गया है । अतः प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

(17) "तस्माददृश्यादपि नातिबिभ्युस्तच्छायरूपाहितमोहलोलाः ।
मन्वन्त स्मारकृतमन्मथाज्ञाः प्राणानपि स्वान्तृणतुल्यानि ।।"

--नैषध० 6/32

प्रस्तुत पद्य में दूतकर्म के लिये, दमयन्ती के महल में, अदृश्य रूप में स्थित नल के सौन्दर्य को देखकर एक सुन्दरी की अवस्था का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"(अन्तः पुरवासी) सुन्दर स्त्रियाँ उस प्रतिबिम्बित नल के सौन्दर्य से उत्पन्न मोह से च चल होती हुई, उस अदृश्य नल से भी नहीं डरीं । कामदेव की आज्ञा के अधीन होती हुई (उन्होंने) अपने प्राणों को भी तृण ही समझा ।"

प्रस्तुत पद्य में अन्तःपुरवासी सुन्दर स्त्रियों के प्रतिबिम्बित नल के प्रति कामाभिलाष का वर्णन किया गया है । स्त्रियों का परपुरुष के प्रति कामाभिलाष होना "शृंगाररसाभास" की कोटि में आता है । पद्य में वर्णित है कि प्रतिबिम्बित नल के सौन्दर्य से जनित मोह से उत्पन्न चञ्चलता के कारण अदृश्य होने पर भी उनका "भय समाप्त हो गया ।" अतः स्त्रियों के "त्रासरूप व्यभिचारी-भाव की शान्ति" व्यञ्जित होती है ।

प्रस्तुत पद्य में व्यञ्जित "त्रास भाव की शान्ति" स्त्रियों के प्रधान रूप से व्यक्त नलविषयक "शृंगार रसाभास" को ही अधिक चारुत्व युक्त बना रहा है क्योंकि नल के प्रति कामाभिलाष होने के कारण ही स्त्रियाँ अदृश्य नल से नहीं डरीं । "शृंगाररसाभास" प्रधान एवं "त्रास-भाव-शान्ति" उसका उपकारक है, अतः प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूत-व्यङ्ग्य का स्थल है ।

12D। "अदस्तदाकर्णि फलाढ्यजीवितं दृशोर्द्वयं नस्तदवीक्षि चाफलम् ।
इति स्म चक्षुः श्रवसां प्रिया नले स्तुवन्ति निन्दन्ति हृदा तदात्मनः ॥"

--नैषध0 1/28

प्रस्तुत पद्य में नागाङ्गनाओं का राजा नल के प्रति, अभिलाषपूर्ण रूप में वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" हम लोगों के यह दोनो नेत्र उस । नल विषयक चरित। को सुनने के कारण सफल जीवन वाले हो गये हैं और उनका न देख सकने के कारण निष्फल हो गये हैं, इस प्रकार से नागाङ्गनायें नल के विषय में, हृदय से अपने नेत्रों की स्तुति एवं निन्दा करती है ।"

प्रस्तुत पद्य में प्रधान रूप से राजा नल -विषय कथाओं का महात्म्य एवं उनके सौन्दर्य का वर्णन किया गया है, जिससे कविनिष्ठ "राजविषयक रतिरूप भाव" प्रधान रूप से व्यञ्जित होता है ।

नागाङ्गनायें, जो नेत्रों से देखती भी हैं एवं सुनती भी हैं, उन नेत्रों की इसलिये प्रशंसा कर रही हैं क्योंकि इन्हीं नेत्रों से नल की अमृत के सदृश पुण्यफलदायिनी कथा का श्रवण सम्भव होने के कारण उनका जीवन सफल हो गया तथा इन नेत्रों से पाताल लोक में निवास करने के कारण, मर्त्यलोकवासी, प्रभावशाली, सौन्दर्ययुक्त राजा नल का दर्शन न कर सकीं , इस कारण नेत्रों की निन्दा करती हैं ।

प्रस्तुत स्तुति एवं निन्दा से नागाङ्गनाओं की नल विषयक रति की व्यञ्जना होती है । वे नल के प्रति "कामाभिलाषपूर्ण" होने के कारण नल का दर्शन एवं नल-कथा का श्रवण करने की इच्छा करती हैं, नागाङ्गनाओं की "रतिवासना" पर-पुरुष के प्रति प्रवृत्त होने के कारण "शृंगार-रसाभास" कहलायेगी ।

प्रस्तुत "शृंगार-रसाभास", प्रधानीभूत कविनिष्ठ "राजविषयक रतिरूप भाव" को और अधिक-प्रकर्ष युक्त बना रहा है क्योंकि मर्त्यलोक में ही नहीं वरन् पाताल-लोक एवं देव-लोक में भी सुन्दरियाँ, राजा नल के सौन्दर्य पर मुग्ध हैं। अतः कविनिष्ठ "रतिरूप भाव" प्रधान है एवं शृंगार-रसाभास उपकारक होने के कारण गौण हो गया है। इस प्रकार प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

।21। "श्रियास्य योग्याहमिति स्वमीक्षितुं करे तमालोक्य सुरूपया धृतः ।
विहाय भैमीमपदर्पया कया न दर्पणः श्वासमलीमसः कृतः ? ॥"

--नैषध0 1/31

प्रस्तुत पद्य में राजा नल के सौन्दर्यातिशय एवं प्रभावातिशय का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" उस।नल। को देखकर, "सौन्दर्य के कारण मैं इसके योग्य हूँ", इस प्रकार से अपने को देखने के लिये हाथ में धारण किया गया दर्पण, दमयन्ती को छोड़कर, किस सुन्दरी के द्वारा ।सौन्दर्याभिमान रहित होने के कारण। निःश्वास से मलिन नहीं किया गया ?"

यहाँ सौन्दर्यातिशय एवं प्रभावातिशय के वर्णन के कारण, कविनिष्ठ राजविषयक रतिरूप भाव प्रधान रूप से वर्णित है।

लोकत्रय में उत्पन्न, अत्यन्त सुन्दर नारियाँ, सौन्दर्याभिमान के कारण यह सोचती है कि मैं राजा नल के सर्वथा योग्य हूँ, परन्तु जब वे तुलनात्मक दृष्टि से, नल के सौन्दर्य के साथ अपने सौन्दर्य की तुलना करती हैं, तो अपने को नल से कम सुन्दर पाने पर, सर्वथा अयोग्य समझकर, गर्व-रहित हो जाती हैं, अतः दुःखपूर्ण निःश्वास के द्वारा हाथ में धारण किये गये दर्पण को मलिन कर देती हैं।

इस प्रकार यहाँ पर सुन्दरियों में "मदीय मद नामक व्यभिचारी भाव की शान्ति" का वर्णन किया गया है, जो कविनिष्ठ प्रधान "राजविषयक रतिरूप भाव" का उपकारक एवं चारुत्वधर्षक होने के कारण, अप्रधान हो गया है। अतः प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

।22। "कथाप्रसङ्गेषु मिथःसखीमुखात्तृणेऽपि तन्व्या नलनामनि श्रुते।
द्रुतं विधूयान्यदभूयतानया मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया॥"

--नैषध० 1/35

प्रस्तुत पद्य में दमयन्ती के नल-विषयक श्रवणानुराग का वर्णन किया गया है। यद्यपि दमयन्ती ने नल का दर्शन नहीं किया है, केवल चारण-बन्दी जनों एवं कथा प्रसङ्गों में उसके रूप एवं यश का श्रवण किया है, फिर भी उन्हीं वर्णना के आधार पर दमयन्ती स्वयं अपने को, नल के सर्वथा योग्य समझ कर उससे अनुराग करती है।

प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है -- "कथा-प्रसङ्गों में सखी के मुख से, "तृण" अर्थ में भी प्रयुक्त " नल " नाम को सुनकर वह ।दमयन्ती। शीघ्र ही अन्य कार्यों को छोड़कर । उस "नल" शब्द से राजा नल का स्मरण करके । हर्ष से, उस कथा को दत्त-कर्ण होकर सुनने लगती थी।"

यहाँ पर दमयन्ती के " हर्ष एवं औत्सुक्य भावों की शबलता का वर्णन किया गया है क्योंकि "तृण" के अर्थ में प्रयुक्त "नल" शब्द से राजा नल का स्मरण होने से हर्षित हो जाती थी अतः पहले "हर्ष" रूप व्यभिचारी भाव की प्रतीति होती है, उसके अनन्तर उसे उत्सुकता होती थी कि नल के विषय में क्या चर्चा हो रही है, अतः "औत्सुक्य" रूप व्यभिचारी की अभिव्यक्ति होती है।

इस प्रकार यहाँ व्यक्त "हर्ष" एवं औत्सुक्य भावों की शबलता", दमयन्ती के - नल-विषयक अनुरागरूप रति" के उत्कर्ष को बढ़ाने के कारण, गुणीभूत अतः अंग हो गया है । भावों की शबलता से, दमयन्ती के नल विषयक रति की प्रधान रूप से व्यञ्जना होती है, अतः प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूत-व्यङ्ग्य का स्थल है ।

(23) "परस्परस्पर्शरसोर्मिसेकात्तयोः क्षणं क्षामति विप्रलम्भः ।
स्नेहातिदानादिव दीपिकार्चिर्निमज्य किञ्चिद्द्विगुणं दिदीपे ॥"

--नैषध० 6/55

प्रस्तुत पद्य में राजा नल एवं दमयन्ती के चित्त में स्थित, विरह के कारण उद्दीप्त, भावों की एक साथ सन्धि का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" उन दोनों (नल एवं दमयन्ती) के चित्त में स्थित विरह परस्पर स्पर्श रस की अधिकता से सिञ्चित होने के कारण क्षणमात्र शान्त होकर, तत्काल अधिक स्नेह (प्रेम, पक्षान्तर में तेल) देने से दीपक की लौ के समान द्विगुणित हो कर उद्दीप्त होने लगा ।"

प्रस्तुत पद्य में नल एवं दमयन्ती की विरहावस्था की तुलना दीपक की लौ के साथ की गई है जिस प्रकार दीपक की लौ अधिक तेल से सिंचित होने के कारण पहले कुछ बुझती-सी होकर, पुनः द्विगुणित होकर जलने लगती है, उसी प्रकार नल-दमयन्ती का विरह, अधिक प्रेम के सुख से सिञ्चित होने के कारण पहले कुछ "शान्त" होकर, तत्काल द्विगुणित रूप से "उद्दीप्त हो गया ।

इस प्रकार प्रस्तुत वर्णन से यहाँ नल-दमयन्ती की विरहावस्था की व्यञ्जना होती है, जिससे "विप्रलम्भ-शृंगार" प्रधान रूप से चारुत्व-युक्त

है । नल-दमयन्ती के चित्त में उत्पन्न विरह के "सुप्त एवं विबोध" रूप व्यभिचारी भावों की सन्धि" का एक साथ वर्णन किया गया है ।

प्रस्तुत "भावसन्धि", नल-दमयन्ती विषयक "विप्रलम्भ-श्रृंगार रस" को और अधिक प्रकर्ष-युक्त बनाने के कारण उपकारक अतः अंग हो गया है । अतः प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

।24। "जीवितावधि वनीयकमात्रैर्याच्यमानमखिलैः सुलभं यत् ।
अर्थिने परिवृढाय सुराणां किं वितीर्य परितुष्यतु चेतः ।।"

--नैषध० 5/81

प्रस्तुत पद्य में वर्णित है कि नल को दमयन्ती के स्वयम्बर में सम्मिलित जानकर, ईर्ष्यायुक्त इन्द्र नल के समीप याचक बनकर उपस्थित हुए । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" जब समस्त याचकों को प्राण-पर्यन्त याचना की गई वस्तु सुलभ है, तो देवताओं में श्रेष्ठ याचक ।इन्द्र। को क्या देकर चित्त सन्तुष्ट होवे ?"

अर्थात् जब सामान्य याचक को मैं सरलता से प्राण भी दे सकता हूँ, तब अत्यन्त उत्तम पात्र देवराज इन्द्र को प्राणों से भी उत्तम वस्तु देना उचित है, परन्तु प्राणों से उत्तम वस्तु का अभाव दिखाई पड़ने पर, नल के चित्त में "चिन्ता रूप व्यभिचारी भाव का उदय" हो गया कि "इन्द्र को क्या वस्तु देकर सन्तुष्ट करूँ ?"

इस प्रकार यहाँ नलनिष्ठ "देव-विषयक रतिरूप भाव" की प्रधान रूप से व्यञ्जना हो रही है एवं "चिन्ता भावोदय" "देव-विषयक रति रूप भाव" के प्रकर्ष कोबढ़ाने के कारण उपकारक अतः अंग हो गया है । अतः प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

|25| "विचिन्त्य नानाभुवनागतांस्तानमर्त्यलङ्कीर्त्यचरित्रगोत्रान् ।
कथा: कथङ्कारममी तुतायामिति व्यधादि श्चितियेन तेन ।।"

नैषध0 10/68

प्रस्तुत पद्य में स्वयम्वर में सम्मिलित होने वाले राजाओं के चरित्र-वर्णन के विषय में राजा भीम की चिन्ता व्यक्त की गई है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" वह राजा भी अनेक लोकों |देशों| से आये हुए उन |राजाओं| को देवताओं के द्वारा वर्णनीय चरित्र एवं गोत्र वाला विचार कर, "ये |राजगण| पुत्री दमयन्ती को किस प्रकार से वर्णित किये जायेंगे"? इस कारण से चिन्तित हो गये ।"

प्रस्तुत पद्य में राजा भीम की अन्य "नृपादि विषयक रति" प्रधान रूप से वर्णित है, क्योंकि अन्य श्रेष्ठ राजाओं का चरित्र एवं गोत्र वर्णन, मनुष्यों के द्वारा सम्भव न होकर, देवताओं के द्वारा ही वर्णन किया जा सकता है, अतएव वे महान् हैं ।

इन राजाओं के वंश एवं चरित्र को पूर्णतया दमयन्ती से किस प्रकार वर्णन किया जाय एवं बिना पूर्ण ज्ञान के वह कैसे किसी का वरण करेगी ? अत: उन राजाओं के वर्णन के विषय में राजा भीम चिन्तित हो उठे, इस प्रकार यहाँ "चिन्ताख्य व्यभिचारी भाव के उदय" की व्यञ्जना होती है ।

प्रस्तुत "चिन्ताख्य भाव का उदय" अन्य नृपादि विषयक "रति रूप भाव" के प्रकर्ष को और अधिक बढ़ा रहा है क्योंकि राजा भीम की चिन्ता से राजाओं की श्रेष्ठता बढ़ जाती है । इस प्रकार यहाँ "राजविषयक रति रूप भाव" प्रधान है एवं "चिन्ता भावोदय"

रतिरूप भाव का उपकारक होने के कारण अंग हो गया है, अतः प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

(26) "ममापि हा हा विरहात् क्षुधाकुलाः कुलायकूलेषु विलुठ्य तेषु ते ।
चिरेण लब्धा बहुभिर्मनोरथैर्गताः क्षणेनास्फुटितेक्षणा मम ।।"

--नैषध0 1/141

प्रस्तुत पद्य में राजा नल द्वारा पकड़े गये हंस का, पुत्र-विषयक प्रेम वर्णित है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" हे प्रिये ! बहुत दिनों के बाद, बहुत मनोरथों से प्राप्त अस्फुटित नेत्रों वाले, वे (बच्चे) मेरे तथा तुम्हारे विरह से, भूख से व्याकुल हो उन घोंसलों में लोटकर क्षणमात्र में मर जायेंगे । हाय, हाय (अत्यधिक दुःख है) ।"

जब राजा नल ने क्रीडा सरोवर में स्थित सुवर्ण हंस को पकड़ लिया, तब बहुत अनुनय-विनय के बाद भी राजा नल के हंस को न छोड़ने पर, हंस अपना अन्त समय निकट समझ कर, प्रिया हंसी को सम्बोधित करके, विलाप कर रहा है, कि मेरे वियोग में हंसी के भी मर जाने पर अबोध शिशु भी भूख के कारण मर जायेंगे ।

प्रस्तुत पद्य में हंस अपना अन्त समय निकट समझ कर विलाप कर रहा है अतः "करुण-रस" प्रधान है, उसके विलाप में उसका अपने अबोध शिशुओं के प्रति उक्त प्रकार से व्यक्त "रति रूप भाव" उसके शोक को तीव्र बनाता हुआ, "करुण रस" का पोषण कर रहा है ।

इस प्रकार हंस के विलाप से व्यक्त "हंसनिष्ठ, "पुत्र विषयक रतिरूप भाव", प्रधान "करुण-रस" का पोषक होने के कारण अंग हो गया है । अतः प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

।27। "प्रियं न मृत्युं न लभे त्वदीप्सितं तदेव न स्यान्मम यत्त्वमिच्छसि ।
वियोगमेवेच्छ मनः ! प्रियेण मे तव प्रसादान्न भवत्यसौ मम ।।"

--नैषध० 9/92

दूतकर्म करते हुए नल, दमयन्ती को इन्द्रादि दिग्पालों का वरण करने का उपदेश देते हैं, जिससे वे क्रुद्ध हो कर शाप न दे दें । अतः नल-प्राप्ति, समागम एवं दर्शन की आशा नष्ट हो जाने पर, दमयन्ती विलाप करते हुए, अपने मन से नल-विरह की कामना करती हैं । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" हे मन ! मैं तुम्हारे अभीष्ट प्रिय ।नल। को नहीं प्राप्त कर रही हूँ ।एवं। मृत्यु को भी नहीं प्राप्त कर रही हूँ । तुम मेरे जिस कार्य की इच्छा करते हो, वही सिद्ध नहीं होता है । ।अतएव,तुम। मेरे प्रिय।नल। के साथ वियोग की ही इच्छा करो, ।जिससे। तुम्हारी कृपा से मेरा वह ।नल-विरह। न हो ।"

अर्थात् दमयन्ती अपने मन से उपालम्भनापूर्वक कहती है, कि तुम मेरे अभीष्ट कार्य के विरुद्ध, कार्य को ही सिद्ध करते हो । न नल समागम, न मरण ही होने देते हो, अतः अब तुम नल-विरह की कामना करो जिससे उसके विपरीत, मेरा "नल-संयोग" रूप कार्य सिद्ध हो जाये ।

दिग्पालों के शाप के भय से दमयन्ती को नल-प्राप्ति एवं दर्शन की आशा समाप्त हो गई थी । "रत्यात्मक अवस्था विच्छिन्न हो जाने के कारण उसका निन्दात्मक विलाप करुण-रसाभिव्यञ्जक है ।" अतः प्रधान रूप से "करुण-रस" कीअभिव्यक्ति हो रही है ।

करुण-विलाप करते हुए भी दमयन्ती अपने मन से नल-विरह के विपरीत अर्थात् "नल-संयोग" रूप कार्य को सिद्ध करने के लिये अनुरोध

करती है, एवं नल-प्राप्ति न होने पर, नल-वियोग में मरण की ही इच्छा करती है, जो दमयन्ती के "नल-विषयक अनुराग की दृढ़ता" की व्यञ्जना करता है। अतः यहाँ "श्रृंगार-रस" की व्यञ्जना हो रही है।

दमयन्ती के वियोग-जन्य दुःख को और अधिक उद्दीप्त करने के कारण प्रस्तुत श्रृंगार रस करुण रस का पोषक अतएव अंगरूप हो गया है। इस प्रकार "नल-विषयक रति से उद्दीप्त करुण-रस" ही प्रधान रूप से आस्वाद्य है। अतः प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

॥29॥ " प्रकाममादित्यमवाप्य कण्टकैः करम्बिताऽऽमोदभरं विवृण्वती।
धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा दिवा सरोजिनी यत्प्रभवाऽप्सरायिता ॥"

--नैषध0 1/115

प्रस्तुत पद्य में राजा नल के उद्यान के क्रीडा सरोवर में उत्पन्न कमलिनी का अप्सरा के साथ उपमानोपमेयभाव शब्द शक्ति के द्वारा व्यङ्ग्य रूप से स्वयं ही प्रतीत हो रहा है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"जिस ।सरोवर। में उत्पन्न, दिन में सूर्य को सम्यक् प्रकार से प्राप्त करके, कण्टकों से व्याप्त, सुगन्धि-समूह को फैलाती हुई, विकसित शोभा स्थान रूप शरीर को स्फुट रूप से धारण करती हुई कमलिनी, विशिष्ट कामयुक्त अदिति-पुत्र इन्द्र को प्राप्त करके, रोमाञ्चों से व्याप्त, हर्षातिशय को प्रकट करती हुई तथा दिवा ।अर्थात् स्वर्ग से, ।स्फुटश्रीगृहम् उज्ज्वल-शोभास्पदं विग्रहो देहो यस्याः सा। स्फुट रूप से धारण किये गये प्रकाशमान शोभा-स्थान रूप शरीर वाली अप्सरा के समान, आचरण करती है।"

प्रस्तुत पद्य में कमलिनी के विशेषण "प्रकाममादित्यमवाप्य कण्टकैः करम्बिताऽऽमोदभरं विवृण्वती धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा" परिवृत्यसह

हैं, इसी कारण यहाँ पर श्लिष्ट विशेषणों के द्वारा व्यक्त उपमानोपमेयभाव शब्दशक्तिमूलक है ।

यहाँ सम्पूर्ण पद्य में श्लिष्ट विशेषणों के द्वारा "कमलिनी" का "अप्सरा" के साथ उपमानोपमेयभाव व्यङ्ग्य है परन्तु अन्तिम चरण में कवि ने " सरोजनी यत्प्रभवा प्सरायिता" कह कर व्यङ्ग्य उपमानोपमेय -भाव को वाच्य का अंग बना दिया है ।

इस प्रकार यहाँ पर "संलक्ष्यक्रम- व्यङ्ग्य शब्दशक्तिमूलक उपमा," वाच्य का अंग बन रही है, अतः प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

।29। "स सिन्धुजं शीतमहःसहोदरं हरन्तमुच्चैः श्रवसः श्रियं हयम् ।
जिताखिलक्ष्माभृदनल्पलोचनस्तमारुरोह क्षितिपाकशासनः ।।"

--नैषध0 1/64

प्रस्तुत पद्य में राजा नल का देवराज इन्द्र के साथ एवं नल के घोड़े का, इन्द्र के घोड़े के साथ, उपमानोपमेय-भाव शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य द्वारा व्यञ्जित हो रहा है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"समस्त राजाओं के विजेता ।इन्द्र पक्ष में -सर्वपर्वत विजेता।, विशाल नेत्रों वाले ।अर्थात् विशाल ज्ञान रूप नेत्रों वाले ।,।इन्द्रपक्ष में - सहस्त्र नेत्रों वाले । पृथ्वी के इन्द्र वह नल, सिन्धु देश । इन्द्र घोड़े के पक्ष में --समुद्र। में उत्पन्न ।अतएव। चन्द्रमा के सहोदर ।अर्थात् चन्द्रमा के समान।,श्वेत वर्ण तथा उच्चैश्रवा ।इन्द्र के घोड़े। की शोभा का हरण करने वाले।उस घोड़े पर आरूढ हुए ।"

प्रस्तुत पद्य में राजा नल का इन्द्र के साथ तथा घोड़े का इन्द्र के घोड़े के साथ "उपमानोपमेय-भाव" व्यञ्जित हो रहा है । राजा नल एवं घोड़े के समस्त विशेषण शिलष्ट एवं परिपूर्णप्रतह है परन्तु अन्त में "क्षितिपाखण्डलसत:" एवं " उच्चैः श्रवसः श्रियं हरन्तम्" पदों के प्रयोग के द्वारा व्यङ्ग्य उपमानोपमेय-भाव को वाच्य का अंग बना दिया गया है । यद्यपि वाच्यार्थ निरपेक्ष है, फिर भी व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ पर आरोपित होकर स्थित है तथा वाच्यार्थ का ही शोभावर्धक है । अतः प्रस्तुत पद्य "संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य शब्दशक्तिमूलक अलंकारध्वनि" की वाच्याङ्गता का उदाहरण है ।

(30) " नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मकरन्दशीकरैः ।
दृशा नृपेण स्मितशोभिकुड्मला दरादराभ्यां दरकम्पिनी पपे ।।"

--नैषध० 1/85

प्रस्तुत पद्य में वर्णित है कि राजा नल ने, उद्यान में स्थित नवीन पल्लवों एवं कलिकाओं से युक्त लता का दर्शन किया । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" वायु के द्वारा चुम्बित (अर्थात् स्पृष्ट) मकरन्द कणों के कारण रोमाञ्चित शरीर वाली, कुछ-कुछ विकसित एवं शोभायमान कलिकाओं वाली, कुछ कम्पायमान एवं नवीन पल्लवों से युक्त, लता को, (वियोगियों के लिये दुःखद होने के कारण) भय तथा (सुन्दरता के कारण) आदर युक्त नेत्रों से राजा नल ने (उसी प्रकार) देखा ।"

अप्रस्तुत नायिका-परक व्यङ्ग्यार्थ इस प्रकार है --

जिस प्रकार (कस्तूरी चन्दनादि की) सुगन्ध से युक्त, (नायक के द्वारा) चुम्बित, प्रिय-स्पर्श से रोमाञ्चित अंगो वाली, थोड़ा

स्मित करती हुई (लज्जिका-भाव उत्पन्न होने के कारण) कुछ-कुछ कम्पन-युक्त नायिका को (परस्त्री होने के कारण) भयपूर्वक एवं (सुन्दरी होने के कारण) आदरपूर्वक कोई नायक देखता है ।

प्रस्तुत पद्य में, " प्रस्तुत लता" के श्लिष्ट विशेषणों के माहात्म्य से, " अप्रस्तुत नायिका के व्यवहार" की व्यङ्ग्य रूप से प्रतीति हो रही है । " विशेष्य लता" पद श्लिष्ट नहीं है, अतः व्यङ्ग्यार्थ पूर्ण रूप से पर्यवसित नहीं है, वरन् वाच्यार्थ पर अध्यारोपित होकर, निरपेक्ष वाच्यार्थ का उपकारक तथा शोभावर्द्धक होने के कारण अंग हो गया है ।

यहाँ अर्थशक्तिमूलक वस्तुध्वनि रूप "नायिका व्यवहार की प्रतीति", वाच्यभूत निरपेक्ष "लता व्यवहार" पर अध्यारोप द्वारा स्थित होने के कारण वाच्य का अंग बन गया है । अतः प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्यक का स्थल है ।

(31) "घननीरवया यया निशि श्रितवप्रावलियोगपट्टया ।
मणिवेश्ममयं स्म निर्मलं किमपि ज्योतिरबाह्यमीक्षते ।।"

--नैषध० 2/78

प्रस्तुत पद्य में राजा भीम की कुण्डिन नगरी का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"रात्रि में एकमात्र निःशब्द तथा चहारदिवारी रूप योगपट्ट को धारण की हुई, जो कुण्डिन नगरी मणिनिर्मित महल रूप निर्मल एवं अनिर्वचनीय आभ्यन्तर प्रकाश को देखती है ।"

प्रस्तुत वाच्यार्थ से, अप्रस्तुत योगिनी के व्यवहार रूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है -- "इसी प्रकार कोई भी योग-साधना

करने वाली योगिनी कुछ समय तक मौन धारण करके, योगपट्ट को धारण करके अवाङ्मनसगोचर निर्मल, आभ्यन्तर ज्योति को देखती है।"

प्रस्तुत उदाहरण में " वाच्य-रूप कुण्डिन नगरी" के श्लिष्ट विशेषणों के माहात्म्य से "अप्रस्तुत, व्यङ्ग्य रूप योगिनी के व्यवहार" की प्रतीति होती है। "यथा मणिदेवकामं" "विवेक" पद श्लिष्ट नहीं है, अतः योगिनी के व्यवहार की प्रतीति रूप व्यङ्ग्यार्थ, अविवक्षित होने के कारण, वाच्य पर अध्यारोप द्वारा स्थित है तथा निरपेक्ष वाच्यार्थ का उपकारक होने के कारण अंगरूप है। अतः प्रस्तुत पद्य अपराङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

<u>बृहत्त्रयी में वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल --</u>

आचार्य मम्मट के अनुसार " जहाँ व्यङ्ग्यार्थ के उपकार के बिना, वाच्यार्थ की सिद्धि सम्भव नहीं होती है,[1] वहाँ व्यङ्ग्यार्थ, सापेक्ष वाच्यार्थ की सिद्धि का आवश्यक अंग होता है,[2] अतः वह अप्रधान व्यङ्ग्य, वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य कहलाता है।"

1- वाच्यसिद्ध्यङ्गं वाच्यस्य वाच्यार्थस्य सिद्धिः, निष्पन्नितान, अङ्गं निदानम् वाच्यस्य सिद्धिरेव यदधीना तदिति।

--का०प्र०बा०बो०टी० पृ० 190

2- यत्र पुनर्व्यङ्ग्यं विना वाच्यमेवात्मानं न लभते तत्र वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वमिति व्यङ्ग्यसापेक्षनिरपेक्षसिद्धिभ्यामनयोर्भेद इति।

--का०प्र०बा०बो०टी० पृ० 205

आचार्य मम्मट ने वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य के दो भेद माने हैं --

(क) एकवक्तृगत वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य -- जहाँ वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ के वक्ता एक हों, वहाँ एकवक्तृगत वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य होता है ।

(ख) भिन्नवक्तृगत वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य -- जहाँ व्यङ्ग्यार्थ एवं सापेक्ष वाच्यार्थ के वक्ता भिन्न हों, वहाँ भिन्नवक्तृगत वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य होता है ।

(1) "गुणापवादेन तदन्यरोपणाद् भृशाधिरूढस्य समञ्जसं जनम् ।
द्विधेव कृत्वा हृदयं निगूहतः स्फुरन्नसाधोर्विवृणोति वागसिः ।।"

--किरात० 14/12

प्रस्तुत पद्य में अर्जुन किरातवेशधारी शंकर से कह रहे हैं कि, अप्रत्यक्ष बुद्धि कूट व्यक्ति का निश्चय करवाती है क्योंकि अत्यन्त कूटता के कारण वाणी उसका अनुकरण करती है एवं बुद्धि से भी कूटता का अनुमान किया जा सकता है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" दुर्जन व्यक्ति, सज्जन व्यक्ति के विद्यमान गुणों के अवगुण्ठन के द्वारा, (उनके स्थान पर) अन्य (अविद्यमान) अवगुणों के आरोप के द्वारा अत्याधिक मात्रा में अतिक्रमण करके स्थित रहता है एवं अपने हृदय में प्रयुक्त (अवगुणों को) छिपाता है, (फिर भी) वाणी रूपी तलवार हृदय को दो भागों में विभक्त करके (अर्थात् हृदय को विदीर्ण करके, हृदयस्थ अवगुणों को) प्रकट कर देती है ।"

प्रस्तुत पद्य में "वाणी एवं तलवार" में अभेद का आरोप रूप "रूपक" वर्णित है । "विभक्त करके किसी वस्तु को प्रकट करना" तलवार

का धर्म है वाणी का नहीं । "द्विधेव कृत्वा" का वाच्यार्थ है, "दो भागों में विभक्त करके" इस प्रकार उत्तरार्द्ध की पंक्ति से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि " जैसे तलवार आवरण को छिन्न करके अन्दर गुप्त रूप से किसी वस्तु का स्पष्ट रूप से प्रकट कर देती है, उसी प्रकार वाणी हृदय रूपी आवरण को छिन्न करके हृदयस्थ अवगुणों को प्रकट कर देती है ।"

इस प्रकार "द्विधेव कृत्वा" पद से व्यञ्जित व्यङ्ग्यार्थ, "हृदय को छिन्न करके या विदीर्ण करे", । जो कि तलवार द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है वाणी द्वारा नहीं । "वाणी पर तलवार के अभेद रूप रूपक की सिद्धि" करता है । प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ के उपस्कार के बिना वाच्यार्थ सिद्ध नहीं हो सकता है । प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ, सावेय रूपक रूप वाच्यार्थ की सिद्धि का आवश्यक अंग है, अतः प्रस्तुत पद्य वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूत-व्यङ्ग्य का स्थल है ।

।2। "विपाण्डुभिर्ग्लानतया पयोधरैश्च्युताचिराभागुणहेमदामभिः ।
इयं कदम्बानिलभर्तुरत्यये न दिग्वधूनां कृशता न राजते ।।"

-- किरात० 4/24

प्रस्तुत पद्य में शरद-ऋतु में दिशाओं की सुन्दरता का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" वर्षा-ऋतु रूपी पति के चले जाने पर, जल-रहित ।पक्ष-दुर्बल। होने के कारण श्वेत वर्ण के , विद्युल्लता रूपी सुवर्ण सूत्र-निर्मित आभूषणों की कान्ति से रहित मेघों ।स्तनमण्डलों। से उपलक्षित दिग्वधुओं की कृशता नहीं सुशोभित होती है, ऐसा नहीं है ।"

प्रस्तुत पद्य में "वर्षा-ऋतु पर पति का अभेदारोप एवं दिशाओं पर वधुओं का अभेदारोप", वाच्य रूप "रूपक", तब तक नहीं सिद्ध होता

है, जब तक "पयोधरों" का "मेघों से अभिन्न स्तन-मण्डल" रूप अर्थ व्यञ्जित न हो ।

यहाँ शरद ऋतु का प्रसंग होने के कारण "मेघ" रूप अर्थ में अभिधा नियन्त्रित हो जाती है, अतः "स्तन-मण्डल रूप अर्थ व्यङ्ग्यार्थ" है । प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ के व्यञ्जित होने पर ही दिशाओं पर वधुओं का अभेदारोप वाच्य-रूप "रूपक" सिद्ध होता है । अतः व्यङ्ग्यार्थ, वाच्य-रूपक की सिद्धि का आवश्यक अंग है तथा व्यङ्ग्यार्थ उपस्कारक होने के कारण गौण हो गया है । अतः प्रस्तुत पद्य वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

।3। "अंशुपाणिभिरतीव पिपासुः पद्मजं मधु भृशं रसयित्वा ।
क्षीबतामिव गतः क्षितिमेष्यल्लोहितं वपुरुवाह पतङ्गः ।।"

--किरात० 9/3

प्रस्तुत पद्य में सायंकाल का मनोहारी चित्रण किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" सूर्य ने अत्यधिक तृषार्त होकर, किरण रूपी हाथों से कमल से उत्पन्न मकरन्द रूपी मधु का अत्यधिक पान करके मानों मदमत्त हुए की भाँति, पृथ्वी पर लोटते हुए, अरुण-वर्ण के शरीर को धारण किया ।"

प्रस्तुत पद्य में कवि ने यह उत्प्रेक्षा की है " मानों सूर्य अत्यधिक मद्यपान के कारण मदमत्त पुरुष की भाँति लाल वर्ण का होकर पृथ्वी पर लोट रहा है ।" सूर्य के विषय में प्रयुक्त , उपर्युक्त उत्प्रेक्षालंकार तब सिद्ध नहीं हो सकती है, जब तक "मधु" पद से, "मधु से अभिन्न मद्य रूप व्यङ्ग्यार्थ" न व्यञ्जित हो एवं "पद्मजं मधु" पदों के व्यस्त होने के कारण "व्यङ्ग्य रूपक" न सिद्ध हो ।

सुरापिता का प्रसंग होने के कारण "मधु" पद का सूर्य पक्ष में अर्थ है " पुष्प-पराग रूप मधु". प्रस्तुत अर्थ में अभिधा के नियन्त्रित हो जाने के कारण "मधु" पद का "मद्य" रूप अर्थ व्यङ्ग्य रूप है। प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा उत्प्रेक्षा की सिद्धि इस रूप में होती है --

" सूर्य किरण रूपी हाथों से कमलों से उत्पन्न मकरन्द रूपी मद्य का खूब पान करके मानों मदमत्त की भाँति पृथ्वी पर लोटते हुए लाल रंग के शरीर को धारण कर रहा है।"

इस प्रकार प्रस्तुत "मद्य रूप व्यङ्ग्यार्थ", वाच्य रूप "उत्प्रेक्षा" की सिद्धि का आवश्यक अंग है एवं वाच्यार्थ का उपकारक होने के कारण गुणीभूत हो गया है अतः प्रस्तुत पद्य वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

।4। " अक्षत्रुवन् सोढुमधीरलोचनः सहस्ररश्मेरिव यस्य दर्शनम्।
प्रविश्य हेमाद्रिगुहागृहान्तरं निनाय बिभ्यद्दिवसानि कौशिकः ।।"

--शिशु0 1/53

प्रस्तुत पद्य में रावण के तेजस्वी प्रताप का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"अस्थिर नेत्रों वाला इन्द्र ।पक्ष0-उल्लू नाम का पक्षी।, सहस्ररश्मि-सूर्य के समान ।परम तेजस्वी।, जिस ।रावण। के दर्शन को सहने में असमर्थ होते हुए, हिमालय पर्वत की गुफा रूपी गुहान्तर में प्रवेश करके, भयभीत होते हुए दिन व्यतीत करता था।"

प्रस्तुत पद्य में रावण की तुलना "सूर्य" के साथ की गई है। "कौशिक" पद के "इन्द्र एवं उल्लू नाम पक्षी" दोनों अर्थ होते हैं। "रावण-इन्द्र" का प्रसंग होने के कारण "कौशिक" पद के "इन्द्र" अर्थ में अभिधा-नियन्त्रित हो जाती है एवं "कौशिक" पद से व्यञ्जित "उल्लू

नामक पक्षी" रूप अर्थ व्यङ्ग्यार्थ है । प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ ही "सहस्र-रश्मेरिव" रूप उपमान की सिद्धि करता है । व्यङ्ग्यार्थ से उपस्कृत उल्लू पक्षी-परक अर्थ इस प्रकार है --

"जिस प्रकार अस्थिर नेत्रों वाला उल्लू पक्षी सूर्य को देखने में असमर्थ होकर, हिमालय की गुफा में प्रवेश करके डरता हुआ दिन व्यतीत करता है, उसी प्रकार अस्थिर नेत्रों वाला इन्द्र परम तेजस्वी रावण के प्रताप को सहने में असमर्थ होता हुआ, अमरावती को छोड़कर हिमालय की गुफा में प्रवेश करके डरता हुआ दिनों को व्यतीत करता था ।'

इस प्रकार प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ, रावण का सूर्य के साथ औपम्य रूप वाच्यार्थ की सिद्धि का आवश्यक अंग है एवं व्यङ्ग्यार्थ, सापेक्ष वाच्यार्थ का उपस्कारक होने के कारण गुणीभूत हो गया है, अतः प्रस्तुत पद्य वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

(5) "विशदप्रभापरिगतं विबभावुदयाचलव्यवहितेन्दुवपुः ।
मुखमप्रकाशदशनं शनकैः सविलासहासमिव शक्रदिशः ।।"

--शिशु० 9/26

प्रस्तुत पद्य में उदित होते हुए चन्द्रमा का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"शुभ्र चाँदनी से व्याप्त, उदयाचल के कारण छिपे हुये, चन्द्र-मण्डल वाला पूर्व दिशा का मुख, (दिशा पक्ष में -अग्रभाग, दिशा रूपिणी नायिका के पक्ष में -मुख) अप्रकाशित दन्त पंक्तियों वाले, विलास-पूर्वक किये गये मन्द-हास के समान सुशोभित हो गया ।"

प्रस्तुत पद्य में "उदित होते हुए चन्द्र-मण्डल वाले पूर्व दिशा के अग्रभाग का", "अप्रकाशित दन्त-पंक्तियों वाले, विलास-पूर्वक किये गये मन्द हास" के साथ "औपम्य-वर्णित" किया गया है। प्रस्तुत वाच्य रूप "औपम्य" की तब तक सिद्धि नहीं होती है, जब तक "दिशा का नायिका के साथ अभेदारोप, रूप व्यङ्ग्य-रूपक" व्यञ्जित न हो जाय। "मुख" पद का "मुख" एवं "अग्रभाग" दोनों अर्थ सम्भव होते हैं, यहाँ "चन्द्र-दिशा" का प्रसंग होने के कारण "मुख" पद के "अग्रभाग" रूप अर्थ में अभिधा द्वारा नियन्त्रित हो जाने के कारण "{नायिका} मुख" रूपी अर्थ व्यङ्ग्य रूप है।

प्रस्तुत "व्यङ्ग्य-रूपक" एवं मुख पद से व्यञ्जित "नायिका-मुख" रूपी व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा ही वाच्यार्थ इस प्रकार सिद्ध होता है -- "शुभ्र चाँदनी से व्याप्त, उदयाचल के कारण छिपे हुये चन्द्र - मण्डल वाले पूर्व दिशा का अग्रभाग, {दिशा रूपी नायिका के मुख के} अप्रकाशित दन्त पंक्तियों वाले विलास-पूर्वक किये गये मन्दहास के समान सुशोभित हो गया।"

इस प्रकार यहाँ व्यङ्ग्य-रूपक एवं व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा ही वाच्यार्थ सिद्ध होता है। व्यङ्ग्यार्थ, सापेक्ष वाच्यार्थ का उपकारक होने के कारण गुणीभूत हो गया है, अतः प्रस्तुत पद्य वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

{6} "अनुरागवन्तमपि लोचनयोर्दधतं वपुः सुखमतापकरम्।
निरकासयद्रविमपेतवसुं वियदालयादपरदिग्गणिका॥"

--शिशु० 9/10

प्रस्तुत पद्य में अस्त होते हुए सूर्य का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया गया है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" दूसरी दिशा ।अर्थात् पश्चिमी दिशा। रूपी गणिका ने अनुराग ।सूर्य पक्ष में लालिमा, पक्षां0 में --स्नेह। से युक्त, दोनों नेत्रों के लिये सुखद एवं शीतल ।पक्षां0 में -- सुखकर स्पर्श वाले। शरीर को धारण करते हुए भी, समाप्त हुए किरणों वाले ।पक्षां0 में -समाप्त हुए धन वाले।,सूर्य ।रूपी प्रेमी नायक। को आकाश रूपी घर से निकाल दिया ।"

प्रस्तुत पद्य में प्रयुक्त "श्लिष्ट विशेषणों के द्वारा पश्चिमी दिशा के साथ गणिका का अभेदारोप" रूप, वाच्य-रूपक तब तक सिद्ध नहीं हो सकता है, जब तक "सूर्य का नायक के साथ अभेदारोप, रूप रूपक" सिद्ध न हो जाय चूंकि "सूर्य का नायक के साथ अभेदारोप" "वाच्य-रूप" से नहीं कहा गया है, अतः प्रस्तुत "रूपक व्यङ्ग्य" रूप होगा ।

इस प्रकार प्रस्तुत "व्यङ्ग्य-रूपक" के द्वारा ही पश्चिमी दिशा पर गणिका का आरोप, रूप "वाच्य-रूपक" सिद्ध होकर, वाच्यार्थ उपपन्न होगा -- "जिस प्रकार गणिका निर्धन धनी नायक में अनुरक्त होकर उसका अनुवर्तन करती है एवं उसी के धन रहित हो जाने पर उसे निष्कासित कर देती है । उसी प्रकार प्रकार पश्चिमी दिशा ने सूर्य के लालिमा-युक्त होने पर भी, तेजस्वी किरणों से रहित हो जाने पर आकाश रूपी घर से निकाल दिया ।"

इस प्रकार व्यङ्ग्य रूपक वाच्यार्थ एवं वाच्य-रूपक की सिद्धि का आवश्यक अंग है । व्यङ्ग्यार्थ, सापेक्ष वाच्यार्थ का उपकारक होने के कारण गुणीभूत हो गया है, अतः प्रस्तुत पद्य वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

(7) "निजरजः पटवासमिवाकिरद् धृतपटोपमवारिमुचां दिशाम् ।
प्रियवियुक्तवधूजनचेतसामनवनी नवनीपवनावलिः ॥"

--शिशु० 6/37

प्रस्तुत पद्य में कदम्ब के पराग से सुवासित वर्षा ऋतु का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" प्रिय से वियुक्त (विरहिणी) स्त्रीजनों के चित्त की रक्षा न करने वाली (अर्थात् दुःख प्रदान करने वाली) नये कदम्बों के वन की श्रेणी ने, धारण किये गये कपड़े के सदृश, मेघों से आच्छादित (नायिका रूपी) दिशा के लिये अपने पराग को, कपड़े रूप मेघ को मानों सुवासित करने के लिये विकीर्ण कर दिया ।"

प्रस्तुत पद्य में कवि ने यह उत्प्रेक्षा की है, कि "मानों कदम्ब के वृक्षों ने दिशाओं द्वारा धारण किये गये वस्त्रों के सदृश मेघ मण्डल को सुवासित करने के लिये अपने पराग को विकीर्ण कर दिया ।"

प्रस्तुत पद्य में प्रयुक्त "पटवासमिवाकिरद्" पद में उत्प्रेक्षा है, वस्त्रों का धारण करना चेतन का धर्म है, अचेतन दिशायें भला कैसे वस्त्रों को धारण कर सकती हैं ? अतः प्रस्तुत उत्प्रेक्षा तब तक सिद्ध नहीं हो सकती है, जब तक "दिशाओं पर नायिकाओं का अभेदारोप" न किया जाय, प्रस्तुत रूपक शब्दतः उक्त न होने के कारण वाच्य-रूप न होकर, व्यङ्ग्य - रूप है ।

प्रस्तुत व्यङ्ग्य-रूपक के द्वारा ही प्रस्तुत उत्प्रेक्षा सिद्ध हो सकती है --" धारण किये गये वस्त्रों के सदृश मेघों से आच्छादित, नायिका रूपिणी दिशा के वस्त्रों को मानों सुगन्धित करने के लिये कदम्ब ने अपने पराग को विकीर्ण कर दिया ।"

इस प्रकार यहाँ व्यङ्ग्य-रूपक के द्वारा, वाच्य-उत्प्रेक्षा की सिद्धि होकर, वाच्यार्थ उपपन्न होता है । यहाँ व्यङ्ग्य-रूपक, सापेक्ष वाच्य-उत्प्रेक्षा का उपस्कारक होने के कारण गुणीभूत हो गया है, अतः प्रस्तुत पद वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

(8) "ससम्भ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुलं सरः प्रपद्योत्कतयाऽनुकम्पिताम् ।
तमूर्मिलोलैः पतगग्रहान्नृपं न्यवारयद्वारिरुहैः करैरिव ।।"

--नैषध० 1/126

प्रस्तुत पद्य में राजा नल के द्वारा सरोवर में स्थित राज-हंस के पकड़े जाने का वर्णन किया गयाहै । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"(स्वजातीय हंस के पकड़े जाने पर) भय से उड़े हुए पक्षि-समूह से व्याप्त, (अतएव पक्षियों के उड़ने से उत्पन्न वायु से) और उछलते हुए जल से कम्पन को प्राप्त, वह तड़ाग तरंगों के द्वारा चञ्चल बनाये गये कमल रूपी हाथों के द्वारा पक्षी पकड़ने से, मानों राजा नल को मना-सा कर रहा था ।"

प्रस्तुत पद्य में वर्णित है, कि "जब राजा नल ने सरोवर में स्थित स्वर्ण हंस को पकड़ा, तो वहाँ पर विद्यमान अन्य पक्षी भयातुर होकर, एक साथ उड़ चले, फलस्वरूप सरोवर का जल कम्पन हो उठा, जिसके परिणाम-स्वरूप उस सरोवर में स्थित कमल हिल उठे", इस पर कवि ने यह उत्प्रेक्षा की है कि "मानों सरोवर ने अपने कमल रूपी करों से राजा नल को हंस पकड़ने से निवारित किया ।"

प्रस्तुत पद्य में "न्यवारयत्- इव" अंश में उत्प्रेक्षा है, जो कि

वाच्य-रूप है, किन्तु निवारण चेतन का धर्म है, जड़ कमल भला कैसे निवारण का कार्य करेंगे ? इसलिये प्रस्तुत उत्प्रेक्षा की सिद्धि तब तक नहीं हो पाती है, जब तक "पारिरुहों पर कमलों का आरोप" न किया जाय ।

प्रस्तुत पद्य में "पारिरुह" (उपमेय) तथा "कर" (उपमान) दोनों ही शब्दतः उपात्त हैं, किन्तु दोनों व्यस्त हैं, अतएव "मयूर-व्यंसकादयश्च" सूत्र से समास के अभाव में यहाँ पर अभेद अथवा रूपित का आरोप वाच्य नहीं कहा जा सकता है ।

इस प्रकार "पारिरुहैः करैः" अंश में रूपक-व्यङ्ग्य है, जो वाच्य-उत्प्रेक्षा का उपस्कारक होने के कारण गुणीभूत हो गया है । अतः प्रस्तुत पद्य वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

(9) "स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य सङ्गरे ।
निजस्य तेजश्शिखिनः परश्शता वितेनुरङ्गारमिवायशः परे ।।"

—नैष० 1/9

प्रस्तुत पद्य में राजा नल के शौर्य, पराक्रम एवं दिग्विजय का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है —

"शताधिक शत्रुओं ने, युद्धभूमि में प्रयुक्त धनुष के टंकार वाले, उस नल रूपी मेघ के वेगगामी प्रगल्भ बाणों की वर्षा से बुझी हुई, अपनी प्रतापाग्नि के अंगार की भाँति मानों अपने अपयश को फैला दिया ।"

प्रस्तुत पद्य में युद्ध स्थल का प्रसंग प्राकरणिक है । युद्ध-भूमि में न तो वर्षा हो रही है, न अग्नि प्रज्ज्वलित हो रही है, जो अंगार

बन कर फैल जाय । यहाँ "चितेनुरङ्गारमिवायशः" पदों में उत्प्रेक्षा प्रयुक्त है , कवि ने यह उत्प्रेक्षा की है कि "मानों शत्रुओं ने प्रतापाग्नि के अंगार के समान अपने अपयश को फैला दिया ।"

प्रस्तुत वाच्य रूप उत्प्रेक्षा तब तक सिद्ध नहीं हो सकती है जबतक पूर्वार्द्ध के "प्रगल्भवृष्टि" पद से " अत्यधिक जल वर्षण" रूप व्यङ्ग्यार्थ न व्यञ्जित हो । चूँकि युद्ध का प्रसंग है अतः "प्रगल्भवृष्टि" पद का वाच्यार्थ है "अत्यधिक बाणों का प्रहार", अतः अभिधा नियन्त्रित हो जाने के कारण"जलवर्षण" रूप अर्थ, व्यङ्ग्यार्थ ही होगा । इस प्रकार , व्यङ्ग्यार्थ के उपकार से वाच्यार्थ की सिद्धि सम्भव है --

"जिस प्रकार मेघों की जल-वृष्टि के द्वारा अग्नि बुझ कर अंगार-मात्र फैल जाते हैं , उसीप्रकार राजा नल के प्रगल्भ बाणों के प्रहार से शताधिक शत्रु पराजित हो गये , जिससे उनका प्रताप बुझ गया एवं चारों ओर अपयश फैल गया ।"

इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा ही वाच्य-रूप उत्प्रेक्षा की सिद्धि होती है अतः प्रस्तुत पद्य वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूत-व्यङ्ग्य का स्थल है ।

॥10॥ "दिगीशवृन्दांशविभूतिरीशिता दिशां स कामप्रसरावरोधिनीम् ।
बभार शास्त्राणि दृशं द्वयाधिकां निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम् ॥"

--नैषध0 1/6

प्रस्तुत पद्य में कवि ने राजा नल का देवांशत्व सिद्ध किया है एवं राजा नल की भगवान् शंकर से तुलना की है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"(इन्द्रादि आठों) दिक्पालों के समूह के अंश से उत्पन्न (विभूति वाले), आठों दिशाओं के स्वामी, उस राजा नल ने, काम (अर्थात् इच्छा, पक्षा0- कामदेव) की प्रबलता को रोकने वाले तथा अपने को त्रिनेत्र भगवान् शंकर के अवतार का बोध कराने वाले, शास्त्र रूपी तृतीय नेत्र को धारण किया।"

प्रस्तुत पद्य में राजा नल की भगवान् शंकर से तुलना करने के लिये, उन्हें दिक्पालों से अधिक प्रभुता-सम्पन्न कहा गया, क्योंकि प्रत्येक दिक्पाल एक-एक दिशा के स्वामी हैं, परन्तु राजा नल, तीनों लोकों के स्वामी भगवान् शंकर कीभाँति समस्त दिशाओं के स्वामी हैं। राजा नल में समस्त गुणों के होते हुए भी "वाच्य-रूप भगवान् शंकर के अवतारत्व का बोध" तब तक सिद्ध नहीं होसकता है, जब तक उनका "त्रिनेत्रत्व-स्वरूप" सिद्ध नहीं होता है।

लोक में किसी के तृतीय नेत्र न होने के कारण, वाच्यार्थ बाधित-सा लग रहा है। राजा नल पर "शास्त्र रूपी तृतीय नेत्र" रूप, रूपक की सिद्धि व्यङ्ग्यार्थ सापेक्ष है।

प्रस्तुत पद्य में राजा नल का प्रसंग होने के कारण, पद्य में प्रयुक्त "कामप्रभावरोधिनीम् दृशाधिकां" पद का नल के पक्ष में अर्थ होगा-- "काम रूपी इच्छा-शक्ति की प्रबलता को रोकने वाले (शास्त्र ज्ञान रूपी) तृतीय नेत्र"। इस प्रकार ("काम" पद के इच्छा-शक्ति रूपी अर्थ में अभिधा द्वारा नियन्त्रित हो जाने के कारण, भगवान् शंकर के पक्ष में व्यञ्जित "कामदेव", की प्रबलता को रोकने वाले तृतीय नेत्र, रूप अर्थ, व्यङ्ग्यार्थ होगा एवं प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ ही राजा नल के "शास्त्र रूपी तृतीय नेत्र" रूप, रूपक की इस प्रकार सिद्धि करता है --

" जिस प्रकार भगवान् शंकर ने तृतीय नेत्र से कामदेव की प्रबलता को रोका था, उसी प्रकार राजा नल शास्त्रज्ञ होने के कारण, शास्त्र को ही अपना तृतीय नेत्र मानकर, शास्त्र विरुद्ध कार्यों को करने में अपनी इच्छा-शक्ति को सदैव रोकते थे ।"

इस प्रकार उपर्युक्त व्यङ्ग्यार्थ के व्यञ्जित होने पर ही, वाच्यार्थ-बाध दूर होकर, राजा नल पर भगवान् शंकर का अवतार, साध्य-रूप "त्रिनेत्रत्व" रूपक की सिद्धि होती है ।

इस प्रकार यहाँ वाच्यार्थ-बाध, व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा दूर होने पर ही, वाच्यार्थ उपपन्न होता है । यहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ का उपकारक होने के कारण गुणीभूत हो गया है, अतः प्रस्तुत पद्य वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

(11) "सितांशुवर्णैर्वयति स्म तद्गुणैर्महासिवेम्नः सहकृत्वरी बहुम् ।
दिगङ्गनाङ्गाभरणं रणाङ्गणे यशः पटं तद्भटचातुरी तुरी ।।"

--नैषध० 1/12

प्रस्तुत पद्य में राजा नल के योद्धाओं की संग्राम वीरता एवं नल के दिगन्त-व्यापी यश का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" उन (राजा नल) के सैनिकों की महान तलवार रूपी वेमा का साथ करने वाली, चतुरता रूपिणी तुरी, संग्राम रूपी आंगन में, चन्द्रमा के समान उज्ज्वल, उन (राजा नल) के गुणों से (यहाँ० में --सूतों से) दिशा रूपी अङ्गनाओं के यश रूपी वस्त्र को अत्यधिक मात्रा में बुनती थी ।"

प्रस्तुत पद्य में "राजा नल के सैनिकों की रणनीति-कुशलता के फलस्वरूप दिगन्त-व्यापी नल की यशःकीर्ति", का "तुरी-वेमा के सहयोग से अङ्गनाओं के वस्त्र बुनने के साथ" अभेद रूप से वर्णन किया गया है । प्रस्तुत वाच्य-रूपक, तब तक सिद्ध नहीं हो सकता है, जब तक "गुण" पद से अङ्गना-परक अर्थ व्यञ्जित न हो ।

यहाँ दिग्विजय का प्रसंग होने के कारण "गुण" पद का नल-पक्ष में अर्थ होगा -- "शौर्यादि गुण" एवं एक अर्थ में अभिधा-नियन्त्रित हो जाने के कारण, अङ्गना-पक्ष में व्यञ्जित " तन्तु या सूत" रूपी अर्थ, व्यङ्ग्यार्थ रूप होगा ।

इस प्रकार यहाँ "गुण" पद से रूपी अत "तन्तु या सूत रूपी व्यङ्ग्यार्थ" के व्यञ्जित न होने पर तलवार रूपी वेमा, चतुरता रूपी तुरी, दिशा रूपी अङ्गना एवं यश रूपी वस्त्र का बुनना" वाच्य-रूप साङ्ग रूपक सिद्ध नहीं हो सकता है तथा "शौर्यादि गुण रूपी तन्तुओं" से ही "यश रूपी वस्त्रों का बुनना" सम्भव होने के कारण वाच्यार्थ उपपन्न हो जाता है ।

यहाँ व्यङ्ग्यार्थ, सापेक्ष वाच्यार्थ की सिद्धि का आवश्यक अंग होने के कारण उपकारक अतः गुणीभूत हो गया है, अतः प्रस्तुत पद्य वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

॥2॥ "अनेन भैमीं घटयिष्यतस्तथा विधेरबन्ध्येच्छतया व्यलासि तत् ।
अभेदि तत्तादृगनङ्गमार्गणैर्यदस्य पौष्पैरपि धैर्यकञ्चुकम् ॥"

--नैषध0 1/46

प्रस्तुत पद्य में दमयन्ती के प्रति अनुरक्त, कामपीड़ित नल के धैर्य-भंग होने का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" इस ।नल। के साथ , दमयन्ती का संयोग कराने वाले विधि के अभिफल संकल्प का ही ऐसा विलास था, कि उस प्रकार के अनङ्ग (शरीरशून्य कामदेव) के पुष्पमय(अत्यन्त कोमल) बाणों के प्रहार से , ।राजा नल का । वह ।अर्थात्प्रसिद्ध एवं दुर्भेद्य। धैर्य रूपी कवच विदीर्ण । अर्थात् नष्ट। हो गया ।"

प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ कुछ बाधित-सा प्रतीत होता है , "कि जिस नल का धैर्य कवच के समान दुर्भेद्य है , वह शरीरशून्य कामदेव के अत्यन्त कोमल बाणों के प्रहार से कैसे विदीर्ण हो गया ?"

प्रस्तुत पद्य के "विधेरबन्ध्येच्छतया व्यलासि तत्" रूप पूर्वार्द्ध के वाच्यार्थ से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि "भाग्य के अनुकूल होने पर कोई भी कार्य दुष्कर नहीं है अर्थात् दैव की प्रबल इच्छा को कोई नहीं टाल सकता है ।"

इस प्रकार प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ , वाच्यार्थ -बाध को दूर करता है -- "चूँकि दैव की यही इच्छा थी कि नल का दुर्भेद्य धैर्य भी नष्ट हो जाय , तो वह शरीर-शून्य कामदेव के पुष्पमय बाणों के प्रहार से ही नष्ट हो गया एवं नल दमयन्ती के गुणों को सुनकर काम-पीड़ित होने से अधीर हो गये ।"

इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ , वाच्यार्थ-बाध को दूर करके "धैर्यकञ्चुक" रूप , "रूपक" को सिद्ध करता है । व्यङ्ग्यार्थ , वाच्योपस्कारक है तथा वाच्य की सिद्धि व्यङ्ग्य के अधीन है । अतः प्रस्तुत पद्य वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

।13। "फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते ।
स्थितैः समाधाय महर्षिवार्द्धकाद्ने तदातिथ्यमशिक्षि शाखिभिः ।।"

--नैषध0 1/77

प्रस्तुत पद्य में वन के वृक्षों के द्वारा नल का स्वागत करने का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" अत्यधिक पक्षियों के उड़ने के कारण उत्पन्न वायु से ॥पक्षा0-- अत्यधिक वृद्धावस्था के कारण उत्पन्न वात -दोष से॥ कम्पित , पल्लव रूपी हाथों में फल और फूल लेकर स्थित, वन के वृक्षों ने मानों महर्षियों के वृद्ध समूहों से उस राजा नल का आतिथ्य करना सीखा ।"

अर्थात् राजा नल के वन में उपस्थित होने पर फलों एवं पुष्पों से युक्त शाखायें , पक्षियों के समूह के उड़ने से उत्पन्न वायु के कारण हिल उठीं , जिसे देखकर कवि ने यह उत्प्रेक्षा की है किमानों वृक्ष महर्षियों के वृद्ध समूहों से आतिथ्य करना सीख कर , नल का आतिथ्य कर रहे हैं ।

प्रस्तुत पद्य में प्रयुक्त "महर्षिवार्द्धकादेन" पद से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि " उक्त विलास-वन में वृद्ध महर्षियों का समूह निवास करता था ।"

प्रस्तुत पद्य के उत्तरार्द्ध में कवि ने यह उत्प्रेक्षा की है कि "मानों वृक्षों ने महर्षियों के वृद्ध-समूहों से आतिथ्य करना सीखा ।" आतिथ्य करना चेतन का धर्म है भला अचेतन वृक्ष कैसे आतिथ्य कर सकते हैं ? अतः प्रस्तुत वाच्यार्थ तब तक सिद्ध नहीं होता है , जबतक " पल्लवों पर करों" का आरोप न किया जाय । पद्य में " पल्लवे करे" ॥उपमेय एवं उपमान॥ दोनों ही पद शब्दतः उपात्त हैं , किन्तु व्यस्त हैं , अतएव "मयूर व्यंसकादयश्च" सूत्र से समास के अभाव में यहाँ अभेद का आरोप वाच्य नहीं व्यङ्ग्य है ।

इस प्रकार यहाँ "व्यङ्ग्य रूपक" (पल्लव रूपी हाथों) के द्वारा ही वृक्षों की शाखाओं के द्वारा राजा नल का आतिथ्य" रूप वाच्यार्थ सिद्ध होता है। इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ एवं व्यङ्ग्य-रूपक, ही वाच्यार्थ को सिद्ध करते हैं। व्यङ्ग्यार्थ, सापेक्ष वाच्यार्थ का उपकारक अतः गुणीभूत हो गया है, अतः प्रस्तुत पद्य वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

बृहत्त्रयी में अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल --

आचार्य मम्मट के अनुसार " सहृदय-मात्र संवेद्य व्यङ्ग्य ही चमत्कार -जनक होने के कारण ध्वनि-काव्य" कहलाता है, परन्तु जिस व्यङ्ग्य की प्रतीति सहृदयों को भी सरलता से न हो[1], वह व्यङ्ग्य अस्फुट अर्थात् अत्यन्त गूढ़ होने के कारण चमत्कार-जनक नहीं होता है, वरन् व्यङ्ग्य की अपेक्षा वाच्य ही अधिक चमत्कार-जनक होता है। अतः ऐसे अस्फुट व्यङ्ग्य के स्थलों को गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य कहा जाता है।

(1) "श्च्योतन्मयूखेऽपि हिमद्युतौ मे न निर्वृतं निर्वृतिमेति चक्षुः ।
समुज्झितज्ञातिवियोगखेदं त्वत्संनिधावुच्छ्वसितीव चेतः ।।"

--किरात० 3/8

प्रस्तुत पद्य में युधिष्ठिर व्यास-मुनि के आगमन पर अपनी

1- अस्फुटं सहृदयानामपि दुःखसंवेद्यम् । सहृदयैरपि झटित्यसंवेद्यमिति यावत् ।

--का०प्र०बालबोधिनी टीका पं०उ०पृ० 190

प्रसन्नता व्यक्त कर रहे हैं । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" अमृतस्रावी किरणों से ﴾युक्त होने पर भी﴿ शीतल ज्योतिसम्पन्न चन्द्रमा ﴾ के दर्शन से﴿ मेरे नेत्र तृप्त नहीं होते थे, वे ﴾आज﴿ आपके सामीप्य से (अर्थात् दर्शन से) तृप्त हो गये हैं । सम्बन्धियों के वियोग से उत्पन्न दुःख का परित्याग करके ﴾मेरा﴿ चित्त ﴾इस समय﴿ मानों पुनः जीवित हो उठा है ।"

प्रस्तुत पद्य में वर्णित है कि " जो नेत्र शीतल ज्योति सम्पन्न एवं अमृतस्रावी किरणों वाले चन्द्रमा के दर्शन से तृप्त नहीं होते थे, वे आज आपके दर्शन से तृप्त हो गये हैं ।" यहाँ पर "चन्द्र-दर्शन में नेत्र-तृप्ति के" समस्त कारणों के विद्यमान रहने पर भी, "नेत्र-तृप्ति" रूपी कार्य नहीं हो रहा है, परन्तु आज आपके दर्शन से नेत्र-तृप्त हो गये हैं, वर्णन द्वारा "नेत्र-तृप्ति" का कारण अनुक्त है ।

उपर्युक्त वाच्यार्थ से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि "आपका दर्शन, चन्द्र-दर्शन से भी अधिक आनन्ददायक है, इस कारण मेरे नेत्र तृप्त हो गये हैं ।" प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ अत्यन्त गूढ़ होने के कारण, शीघ्र प्रतीति गम्य नहीं है, अतः अधिक चारुत्व-युक्त नहीं है । प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा " चन्द्र-दर्शन से अतृप्त नेत्र, आपके दर्शन से तृप्त हो गये हैं " रूप वाच्यार्थ ही अधिक चमत्कार-युक्त है । अतः प्रस्तुत पद्य अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

﴾2﴿ "स्नपितनवलतातरुप्रवालैरमृतलवस्रुतिशालिभिर्मयूखैः ।
सततमसितयामिनीषु शम्भोरमलयतीह वनान्तमिन्दुलेखा ।।"

--किरात० 5/44

प्रस्तुत पद्य में यक्ष, अर्जुन से हिमालय पर्वत का वर्णन कर रहा है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"इस ।हिमालय पर्वत। पर भगवान् शंकर की शिर: स्थित चन्द्र कला, अमृत-बिन्दुस्रावी किरणों से नवीन लताओं एवं छोटे-छोटे वृक्ष-समूहों का सिञ्चन करती है, ।एवं। निरन्तर कृष्ण-पक्ष की रात्रियों में वन-प्रदेश का धवलित करती है।"

अर्थात् यहाँ वर्णित है कि "हिमालय पर्वत भगवान् शंकर की चन्द्र-कला से युक्त है, अत: अन्यत्र कृष्ण-पक्ष की रात्रियों में अन्धकार रहता है, परन्तु हिमालय पर्वत कृष्ण-पक्ष की रात्रियों में भी प्रकाश-युक्त रहता है।

इस प्रकार यहाँ वर्णित " उपमेय " "भगवान शंकर की शिर: स्थित चन्द्रकला", का "उपमान" -- "आकाश में स्थित चन्द्रमा" से व्यतिरेक की विलम्ब से प्रतीति होती है। उपर्युक्त व्यतिरेक से व्यञ्जित "भगवान् शंकर की शिर: स्थित चन्द्र-कला से युक्त, होने के कारण "हिमालय पर्वत की श्रेष्ठता", जो कृष्ण-पक्ष की रात्रियों में भी प्रकाश-युक्त रहता है" रूप व्यङ्ग्यार्थ, अत्यन्त गूढ़ होने के कारण शीघ्र सहृदय-प्रतीति-गम्य नहीं है। अत: प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वाच्य ही अधिक चारुत्वयुक्त होने के कारण प्रधान है। अत: प्रस्तुत पद्य अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

।3। " दर्शतते हृदयं तप: परिभूतस्य मे परै:।
यदमर्ष: प्रतीकारं भुजालम्बं न लम्भयेत्।।"

--किरात० 11/57

इन्द्रकील पर्वत पर तपस्यारत अर्जुन की परीक्षा लेने के लिये उपस्थित, कपट-वेशधारी इन्द्र ने जब यह प्रश्न किया कि, तुम यानी पुरुष होते हुए भी तिरस्कृत हो कर कैसे जीवित हो, तब इसके उत्तर में

प्रयुक्त, प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" शत्रुओं के द्वारा तिरस्कृत, मेरा हृदय शीघ्र ही (खण्ड-खण्ड होकर) ध्वस्त हो जाता है, यदि क्रोध प्रतीकार स्वरूप भुजा का अवलम्बन नहीं ग्रहण करता।"

अर्थात् मानी पुरुष मानहानि की अपेक्षा प्राणहानि को ही श्रेयस्कर समझता है, अतः दुर्योधन से तिरस्कृत होकर मैं भी मरण को श्रेयस्कर समझता परन्तु वीर पुरुष होने के कारण मेरे क्रोध को प्रतीकार का अवलम्बन मिल गया।

इस प्रकार उपर्युक्त वाच्यार्थ से अत्यन्त अस्फुट यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि" मैं निर्लज्ज होने के कारण नहीं जीवित हूँ परन्तु मानी पुरुष होने के कारण प्रतीकार लेने की इच्छा से जीवित हूँ।" यद्यपि प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ चारुत्व-युक्त है परन्तु सहृदय प्रतीति में अत्यन्त क्लिष्ट होने के कारण, वाच्य की अपेक्षा कम चारुत्व-युक्त है। अतः इसकी अपेक्षा वाच्यार्थ ही अधिक चारुत्व-युक्त है, अतः प्रस्तुत पद्य अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(4)" सच्छिन्नमूले पुञ्जकृतानि यत्र भ्रामान्तैरम्बुभिरम्बुराशिः।
लोलैरलोलद्युतिभाञ्जि मुञ्चन् रत्नानि रत्नाकरतामवाप ।।"

--शिशु० 3/38

प्रस्तुत पद्य में द्वारका-नगरी के चारों ओर स्थित समुद्र का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" जिस द्वारका पुरी में मन्दिरों में राशीकृत, स्थिर कान्ति वाले रत्नों को, नालियों से बहकर आने वाले चञ्चल जलों

के द्वारा चुराता हुआ अम्बुराशि " रत्नाकर" बन बैठा ।"

समुद्र स्वतः ही रत्नों की खान होने के कारण रत्नाकर कहलाता है परन्तु यहाँ कवि ने अतिशयोक्ति द्वारा यह वर्णन किया है कि, द्वारका नगरी की मण्डियों में यत्र-तत्र मणियाँ एवं रत्न बिखरे रहते हैं, वे ही रत्न नालियों के जलों के साथ बह कर समुद्र में चले जाते हैं, जिससे समुद्र में प्रचुर-मात्रा में रत्न एकत्रित हो गये हैं एवं द्वारका नगरी के रत्नों को चुराकर ही समुद्र "रत्नाकर" आख्या से सुशोभित है ।

प्रस्तुत वाच्यार्थ द्वारा अत्यन्त गूढ़ यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि " द्वारका-नगरी अतिशय समृद्ध है एवं वहाँ की नालियों के जलों के साथ भी प्रचुर रत्न एवं मणियाँ बहती रहती हैं ।"

प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ, शीघ्र सहृदय-प्रतीति-गम्य न होने के कारण अधिक चमत्कार-जनक नहीं है, इसकी अपेक्षा "नालियों के जलों से रत्नों को चुराकर समुद्र का रत्नाकर बनना" रूप वाच्यार्थ ही अधिक चमत्कारपूर्ण होने के कारण प्रधान है । अतः प्रस्तुत पद्य अस्फुट गुणीभूत-व्यङ्ग्य का स्थल है ।

(5) "यदङ्गनारूपसरूपतायाः कञ्चिद् गुणं भेदकमिच्छतीभिः ।
आराधितोऽद्धा मनुरप्सरोभिश्चक्रे प्रजाः स्वाः सनिमेषचिह्नाः ।।"

--शिशु० 3/42

प्रस्तुत पद्य में द्वारका नगरी की अङ्गनाओं की अप्सराओं से तुलना की गई है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"जहाँ की सुन्दरियों के सौन्दर्य के साथ सादृश्य के कारण, (अपने में सौन्दर्य) भेदक किसी गुण को चाहने वाली, अप्सराओं के

द्वारा प्रार्थना किये गये मनु ने अपनी सन्तानों को निमेष-चिह्न से युक्त बना दिया । यही यथार्थ है । "

प्रस्तुत पद्य में "अप्सराओं की प्रार्थना पर द्वारका-पुरी की अङ्गनाओं को, मनु के द्वारा निमेष-चिह्न से युक्त बनाने " का वर्णन किया गया है, जिससे यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि "द्वारकापुरी की अङ्गनायें भी अप्सराओं के समान अमानवीय सौन्दर्य से युक्त थीं । अप्सराओं एवं अङ्गनाओं में केवल यह अन्तर था कि अप्सरायें निमेषचिह्न से रहित थी एवं अङ्गनायें निमेषचिह्न से युक्त नेत्रों वाली थीं ।"

इस प्रकार यहाँ व्यञ्जित " अङ्गनाओं का अमानवीय सौन्दर्य" रूप व्यङ्ग्यार्थ अत्यन्त गूढ़ होने के कारण अधिक चमत्कारजनक नहीं है, इसकी अपेक्षा "अप्सराओं की प्रार्थना पर अपनी सन्तानों को निमेष-चिह्न से युक्त बनाना" रूप वाच्यार्थ अधिक चमत्कार-पूर्ण होने के कारण प्रधान है । अतः प्रस्तुत पद्य अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

(6) "परस्परस्पर्धिपरार्ध्यरूपाः पौरस्त्रियो यत्र विधाय वेधाः ।
श्रीनिर्मितिप्राप्तघुणक्षतैकवर्णोपमावाच्यमलं ममार्ज ।।"

--शिशु0 3/58

प्रस्तुत पद्य में कवि ने द्वारकापुरी की स्त्रियों के सौन्दर्य का वर्णन किया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" जिस (द्वारका-नगरी) में परस्पर स्पर्धा रखने वाली तथा श्रेष्ठ रूप सौन्दर्य वाली नगरवासिनी स्त्रियों का निर्माण करके विधाता ने लक्ष्मी के निर्माण से प्राप्त घुण द्वारा उत्कीर्ण एक अक्षर के साथ होने वाली उपमा से जन्य, निन्दा को भलीभाँति मिटा दिया ।"

प्रस्तुत वाच्यार्थ से अत्यन्त गूढ़ यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि -- " यहाँ की नगरवासिनी स्त्रियाँ लक्ष्मी के समान अत्यन्त सुन्दर थीं ।" प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ शीघ्र प्रतीति-गम्य न होने के कारण अधिक चमत्कार-जनक नहीं है । व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा "लक्ष्मी को बनाने से घुणाक्षर न्याय से जन्य निन्दा को मिटाना" रूप वाच्यार्थ अधिक चमत्कार-जनक होने के कारण प्रधान है । अतः प्रस्तुत पद्य अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

17। " प्रालेयशीतमचलेश्वरमीश्वरोऽपि
सान्द्रेभचर्मवसनावरणोऽधिशेते ।
सर्वर्तुनिर्वृतिकरे निवसन्नुपैति
न द्वन्द्वदुःखमिह किञ्चिदकिञ्चनोऽपि ।।"

--शिशु0 4/64

प्रस्तुत पद्य में हिमालय पर्वत एवं रैवतक पर्वत की तुलना की गई है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"भगवान् शंकर भी हिम से शीतल पर्वतराज हिमालय पर गाढ़े गजचर्म रूपी वस्त्र को ओढ़ कर सोते हैं । सभी ऋतुओं में सुखकर इस रैवतक पर्वत पर निवास करता हुआ दरिद्र कुछ भी शीत-उष्ण आदि दुःखों (के सन्ताप) को नहींप्राप्त करता है ।"

प्रस्तुत वाच्यार्थ से अत्यन्त गूढ़ यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि " हिमालय पर अत्यन्त हिम के कारण ठंडक होती है परन्तु रैवतक पर्वत सभी ऋतुओं में सम-शीतोष्ण होने के कारण हिमालय पर्वत से भी श्रेष्ठ है ।" प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ शीघ्र ही सहृदय-प्रतीति-गम्य न होने के कारण अधिक चमत्कार-जनक नहीं है ।

प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा , वाच्यार्थ ही अधिक चमत्कार-जनक होने के कारण प्रधान है । अतः प्रस्तुत पद्य अस्फुट गुणीभूत व्यङ्ग्य का स्थल है ।

{8} "तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा ।
तनोति भानोः परिवेषकैतवात्तदा विधिः कुण्डलनां विधोरति ॥"

--नैषध0 1/14

प्रस्तुत पद्य में राजा नल के तेज एवं यश का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" उस राजा नल के तेज {अर्थात् प्रताप} एवं यश के विद्यमान रहने पर यह दोनों {सूर्य एवं चन्द्रमा} व्यर्थ हैं , इस प्रकार ब्रह्मा जब-जब मन में विचार करते हैं , तब सूर्य एवं चन्द्रमा के परिवेश के छल से व्यर्थता-सूचक कुण्डलना बना देते हैं ।"

प्रस्तुत वाच्यार्थ से अत्यन्त गूढ़ यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि " राजा नल सूर्य एवं चन्द्र से भी अधिक तेजस्वी एवं यशस्वी हैं , उनके विद्यमान रहने पर सूर्य एवं चन्द्र भी कान्ति-हीन हो जाते हैं ।" प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ शीघ्र , सहृदय-प्रतीति-गम्य न होने के कारण अधिक चमत्कार-जनक नहीं है इसकी अपेक्षा "सूर्य एवं चन्द्र के मण्डल को व्यर्थता-सूचक कुण्डलना कहना" रूप वाच्यार्थ अधिक चमत्कार-युक्त होने के कारण प्रधान है । अतः प्रस्तुत पद्य अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

{9} " रसालसालः समदृश्यतामुना स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः ।
समीरलोलैर्मुकुलैर्वियोगिने जनाय दित्सन्निव तर्जनाभियम् ॥"

--नैषध0 1/89

प्रस्तुत पद्य में भ्रमण करते हुए नल के द्वारा , मञ्जरी-युक्त आम के वृक्ष को देखने का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है--

" इस (नल) के द्वारा , भ्रमण करते हुए भ्रमरों के समन्ततः गुञ्जार रूपी हुंकार वाले , मन्द वायु के द्वारा चञ्चल मञ्जरियों के द्वारा वियोगीजनों को मानों तर्जित कर डराते हुए आम के वृक्ष को देखा गया ।"

प्रस्तुत वाच्यार्थ से अत्यन्त गूढ़ यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि " मञ्जरी-युक्त आम का वृक्ष वसन्तागमन का सूचक है , अतः वह कामपीड़ित विरहिजनों को और अधिक सन्तप्त एवं दुःखी बना रहा है ।" प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ शीघ्र प्रतीति-गम्य न होने के कारण अधिक चमत्कार-जनक नहीं है । इसकी अपेक्षा " चञ्चल मञ्जरियों के द्वारा विरहिजनों को तर्जित कर डराना" रूप वाच्यार्थ अधिक चमत्कार-जनक होने के कारण, प्रधान है । अतः प्रस्तुत पद्य अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

(10) " पाणये बलरिपोरथ भैमीशीतकोमलकरग्रहणार्हम् ।
भेषजं चिरचिताग्निनिपातव्यापदामुपदिदेश रतीशः ।।"

-- नैषध० 5/45

नारद-मुनि ने भगवान् इन्द्र से अत्यन्त सुन्दर दमयन्ती का विवाह सम्पन्न होने की सूचना दी , जिसमें समस्त राजगण एवं देवगण आमन्त्रित थे । यहाँ नारद के जाने के पश्चात् इन्द्र की अवस्था का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" इस (नारद मुनि के जाने) के अनन्तर , कामदेव ने इन्द्र के हाथ के लिये , चिरकाल से सञ्चित प्रणयाग्नि के सम्पर्क से उत्पन्न रोग के योग्य , दमयन्ती के शीतल एवं कोमल हाथ का ग्रहण (अर्थात् विवाह करना) ही उचित औषधि बताई ।"

प्रस्तुत वाच्यार्थ से, अत्यन्त क्लिष्टता से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि -- " दमयन्ती के विवाह की सूचना मिलने पर, इन्द्र दमयन्ती को पाने के लिये अत्यन्त कामपीड़ित हो गये।" प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ भी सुन्दर है, परन्तु सरलतापूर्वक सहृदय-प्रतीति-गम्य न होने के कारण अधिक चमत्कार-जनक नहीं है। व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा " वज्राग्नि से उत्पन्न दाह के लिये दमयन्ती के शीतल हाथ के ग्रहण को औषधि बताना" रूप वाच्यार्थ ही अधिक चमत्कार-जनक होने के कारण प्रधान है। प्रस्तुत पद्य में व्यङ्ग्यार्थ अत्यन्त गूढ़ होने के कारण गुणीभूत अतएव अप्रधान हो गया है। अतः प्रस्तुत पद्य अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

॥11॥ "तच्छायसौन्दर्यनिपीतधैर्याः प्रत्येकमालिङ्गदमू रतीशः ।
रतिप्रतिद्वन्द्वितमासु नूनं नासुष्ठु निर्णीतरतिः कथञ्चित् ॥"

--नैषध० 6/31

प्रस्तुत पद्य में इन्द्रादि दिक्पालों के दूतकर्म के लिये, अदृश्य रूप में दमयन्ती के भवन में प्रविष्ट नल को देखकर, वहाँ स्थित सुन्दरियों की अवस्था का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" कामदेव ने (मणिनिर्मित भित्ति एवं हारों में प्रतिबिम्बित) उस नल के सौन्दर्य से नष्ट हुए धैर्य वाली प्रत्येक स्त्री का आलिङ्गन किया, (क्योंकि) रति की प्रतिद्वन्द्विनी उन स्त्रियों के मध्य किसी भी प्रकार " यह रति है" ऐसा निश्चय नहीं कर सका।"

प्रस्तुत वाच्यार्थ से अत्यन्त क्लिष्टता से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि "मणिनिर्मित भित्ति एवं हारों में प्रतिबिम्बित नल

के सौन्दर्य को देखकर , महल में स्थित स्त्रियाँ कामपीड़ित हो गईं ।"
प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ सुन्दर है , परन्तु शीघ्र प्रतीतिगम्य न होने के
कारण वाच्यार्थ की अपेक्षा कम चारुत्व-युक्त है । इसकी अपेक्षा
"धैर्यविहीन प्रत्येक स्त्री का कामदेव द्वारा आलिंगन" रूप वाच्यार्थ
अधिक चमत्कार-जनक होने के कारण प्रधान है । अतः प्रस्तुत पद्य
अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

॥2॥ " चिलेखितुं भीमभुवो निषीषु सख्याऽतिविख्यातिभृताऽपि यत्र ।
आस्यकि लीलाकमलं न पाणिमयारि कर्णोत्पलमक्षि नैव ॥"

--नैषध० 6/64

प्रस्तुत पद्य में, दमयन्ती -सभा में चित्रकारी करती हुई
दमयन्ती की सखियों का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ
इस प्रकार है --

" जिस ।दमयन्ती की सभा। में चित्रकारी में अत्यन्त निपुण
भी कोई सखी दमयन्ती के लीला कमल का चित्र बनाने में समर्थ होने पर
भी पाणि । का चित्र। नहीं बना सकी , कर्णभूषण रूप कमलों का चित्र
बना देने पर भी नेत्र । का चित्र । नहीं बना सकी ।"

प्रस्तुत वाच्यार्थ से , अत्यन्त विलम्बता से यह व्यङ्ग्यार्थ
व्यञ्जित होता है कि -- " दमयन्ती के हाथ एवं नेत्र कमल-तुल्य होने
पर भी अलौकिक सुन्दर थे , इसी कारण लौकिक वस्तुओं की चित्रकारी
में निपुण सखी दमयन्ती के हाथ एवं नेत्र का चित्र नहीं बना सकी"।
प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ सुन्दर है , परन्तु शीघ्र प्रतीतिगम्य न होने के कारण ,
वाच्यार्थ की अपेक्षा कम चारुत्व-युक्त है । व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा
"चित्रकारी में निपुण सखी, दमयन्ती के हाथ एवं नेत्र का चित्र न बना
सकी" रूप वाच्यार्थ अधिक चमत्कार-जनक होने के कारण प्रधान है ।

अतः प्रस्तुत पद्य अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

॥3॥ " भर्मत दासीङ्गिताविद् विदर्भजामितो ननु स्वामिनि [पश्य कौतुकम् ।
यदेष सौधाग्रनटे पटाञ्चले चलेऽपि काकस्य पदार्पणग्रहः ॥"

--नैषध0 12/31

प्रस्तुत पद्य में दमयन्ती की दासी स्वयम्बर में सम्मिलित पाण्ड्य राजा का उपहास करती हुई, व्यङ्ग्य द्वारा काक का दुराग्रह वर्णित कर रही है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" दमयन्ती के अभिप्राय को जानने वाली दासी ने दमयन्ती से कहा -- हे स्वामिन् [" सुधा-धवलित महल के ऊपर नट रूप कम्पन वस्त्र के अग्रभाग पर काक के पादन्यास रूप हठ का यह कौतुक देखो" ।"

दमयन्ती की दासी, दमयन्ती के अभिप्राय को जानती थी, अतः वह काक के प्रसंग के द्वारा अन्योक्ति रूप वचनों से पाण्ड्य राजा का उपहास कर रही है । प्रस्तुत वाच्यार्थ अत्यन्त गूढ़ यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि --" जिस प्रकार महल के ऊपर फहराते हुए अतएव कम्पन दवज पर काक का पैर रखनेका उपक्रम व्यर्थ हो जाता है, उसी प्रकार नलानुरक्त दमयन्ती को प्राप्तकरने का दुराग्रह व्यर्थ है ।" साथ ही दासी ने काक से राजा की तुलना करके राजा के प्रति दमयन्ती के " अनादर-भाव" को भी व्यक्त किया है । प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ शीघ्र प्रतीति-गम्य न होने के कारण अधिक चारुत्वयुक्त नहीं है । व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा " काक के उपक्रम का उपहास" रूप वाच्यार्थ अधिक चमत्कार-जनक होने के कारण प्रधान है तथा व्यङ्ग्यार्थ अप्रधान होने के कारण गुणीभूत हो गया है । अतः प्रस्तुत पद्य अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

बृहत्त्रयी में सन्दिग्धप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल --

आचार्य मम्मट के अनुसार " जहाँ साधक-बाधक प्रमाणों के अभाव में वाच्य एवं व्यङ्ग्य में से किसी एक के प्राधान्य का निश्चय न हो सकने के कारण यह सन्देहास्पद हो कि चमत्कार वाच्य के कारण उत्पन्न हुआ है अथवा व्यङ्ग्य के कारण, वहाँ सन्दिग्धप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य होता है ।"[1] ऐसे स्थलों पर चूँकि वाच्य एवं व्यङ्ग्य में से किसी एक का प्राधान्य विवक्षित होता है, अतः दूसरा अर्थ अप्रधान होता है, परन्तु दोनों में से किसका प्राधान्य है, यह अनिश्चयात्मक होने के कारण ही, यह सन्दिग्धप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल होता है ।

(1) "गम्यतामुपगते नयनानां लोहितायति सहस्रमरीचौ ।
आससाद विरहय्य धरित्रीं चक्रवाकहृदयान्यभितापः ॥"

--किरात० 9/4

प्रस्तुत पद्य में अस्त होते हुए सूर्य का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

---

1.1- यद्वा सन्दिग्धं । चमत्कारजनने वाच्यव्यङ्ग्ययोः सन्देहविषयभूतं प्राधान्यं यत्र तत् । वाच्यकृतो व्यङ्ग्यकृतो वा चमत्कार इति सन्देहः ।

--का०प्र० बालबोधिनी टीका, पं०उ०पृ० 190

1.2- साधकबाधकप्रमाणाभावेनोभयोश्चमत्कारप्रयोजकत्वादिति ।

--का०प्र० बालबोधिनी टीका, पं०उ०पृ० 209

" सहस्त्रांशु सूर्य के लाल वर्ण का हो जाने पर एवं नेत्रों के लिये दर्शनीयता को प्राप्त हो जाने पर , सन्ताप ने पृथ्वी को छोड़ कर चक्रवाकों के हृदय को प्राप्त किया अर्थात् चक्रवाकों के हृदय में प्रवेश किया ।"

प्रस्तुत पद में वर्णित है कि " सूर्य-किरणों द्वारा उत्पन्न सन्ताप , जो दिन में पृथ्वी को सन्तप्त करता है , सूर्य के अस्त-वर्ण के हो जाने पर चक्रवाकों के हृदय में संक्रमित हो कर उन्हें सन्तप्त करने लगा ।" इस प्रकार पृथ्वी में उत्पन्न सन्ताप एवं चक्रवाकों के हृदय में उत्पन्न " विरह रूप सन्ताप " में भेद होते हुए भी " अभेद-वर्णन" रूप वाच्य के चमत्कार-युक्त होने पर , प्राधान्य प्रतीत होता है ।

उत्तरार्द्ध में वर्णित " आससाद . . . . चक्रवाकहृदयान्यभिताप:" रूप वर्णन द्वारा व्यञ्जित व्यङ्ग्यार्थ " जिस प्रकार सूर्य की तीव्र किरणों से पृथ्वी सन्तप्त होती है , उसी प्रकार सूर्य के अस्त होते ही चक्रवाकों के हृदय में , परस्पर वियोग-जन्य सन्ताप उत्पन्न हो गया " अर्थात् सूर्य के अस्त होते ही चक्रवाक पक्षी परस्पर वियुक्त होने के कारण सन्तप्त होने लगे, भी चमत्कार-युक्त होने के कारण प्रधान है ।

यहाँ वाच्य अथवा व्यङ्ग्य में से किसी एक का प्राधान्य विवक्षित है परन्तु " अभेद-वर्णन" रूप वाच्य की प्रतीति के अनन्तर "चक्रवाकोंके विरह-सन्ताप के वर्णन" रूप व्यङ्ग्य की प्रतीति हो रही है । साधक-बाधक प्रमाणों के अभाव में यह निश्चय नहीं हो पा रहा है कि व्यङ्ग्य के कारण चमत्कार उत्पन्न हुआ है अथवा वाच्य के कारण क्योंकि दोनों ही चमत्कारपूर्ण है । अतः प्रस्तुत पद्य सन्दिग्धप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

।2। "निमीलदाकेकरलोलचक्षुषां प्रियोपकण्ठं कृतगात्रवेपथुः ।
निमज्जतीनां श्वसितोद्धतस्तनः श्रमो नु तासां मदनो नु पप्रथे ।।"

--किरात० 8/53

प्रस्तुत पद्य में गन्धर्वों के साथ जलक्रीडा करती हुई सुराङ्गनाओं का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" प्रिय के समीप जल-विहार करती हुई , बन्द होते हुए आकेकर तथा चञ्चल नेत्रों वाली उन ।रमणियों। में , शरीर में कम्प उत्पन्न करने वाला तथा श्वासों के द्वारा स्तनों को उद्धत करने वाला श्रम उत्पन्न हुआ अथवा काम ।"

प्रस्तुत पद्य में जल-विहार करती हुई रमणियों का प्रसंग होने के कारण "शरीर कम्पन एवं तीव्र निःश्वास से स्तनों का उत्पतित होना श्रम-जन्य है , अथवा काम-जन्य" इस " सन्देह का जनक ", वाच्यार्थ चमत्कारपूर्ण है ।

साथ ही पद्य में प्रयुक्त " प्रियोपकण्ठम्" पद से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यक्त होता है कि चूँकि रमणियाँ प्रिय के समीप ही विहार कर रहीं थीं, "अतः वे कामाभिभूत हो गईं" , " अतः शरीर-कम्पन एवं तीव्र निःश्वास से हृदय धड़कना मदन-जन्य है" । प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ भी चमत्कारपूर्ण है ।

वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ दोनों पूर्ण रूप से स्वतः विश्रान्त नहीं हैं । वाच्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो रही है , परन्तु दोनों चमत्कारपूर्ण-पूर्ण हैं , अतः साधक-बाधक प्रमाणों के अभाव में दोनों का प्राधान्य सन्देहास्पद है । अतः प्रस्तुत पद्य सन्दिग्धप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

(3) "अग्रसानुषु नितान्तपिशङ्गैर्भूरुहान्मृदुकरैरवलम्ब्य ।
अस्तशैलगहनं नु विवस्वानाविवेश जलधिं नु महीं नु ।।"

--किरात० 9/7

प्रस्तुत पद्य में अस्ताचल की ओर उन्मुख सूर्य के विषय में उत्पन्न अनेक प्रकार के सन्देहों का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" सूर्य अत्यन्त अरुण वर्ण की मृदु किरण रूपी हाथों से, अस्ताचल के शिखरों पर उत्पन्न वृक्षों का सहारा लेकर, अस्ताचल के गहन (जंगलों), अथवा समुद्र में, अथवा पृथ्वी में प्रविष्ट हो गया है ।"

प्रस्तुत पद्य में अस्ताचल पर आरूढ़ सूर्य का प्रसंग होने के कारण " सूर्य के अस्ताचल पर उत्पन्न वृक्षों का अरुण वर्ण की किरण रूपी हाथों से सहारा लेकर जंगल में, पृथ्वी में अथवा समुद्र में प्रविष्ठ होने " रूप " सन्देह का जनक होने के कारण " वाच्यार्थ चमत्कार-पूर्ण है अतएव प्रधान हो सकता है ।

प्रस्तुत पद्य में प्रयुक्त " अग्रसानुषु नितान्तपिशङ्गैः मृदुकरैरवलम्ब्य" पदों से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि " सूर्य अत्यन्त शीघ्रता से अस्ताचल पर अस्त हो गया, शीघ्रता के कारण ही यह भान नहीं हो सका कि सूर्य जंगल, पृथ्वी में अथवा समुद्र में से किसमें प्रविष्ट हो गया है।"

यहाँ वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ पृथक-पृथक विश्रान्त नहीं है, वाच्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो रही है, परन्तु दोनों चमत्कारपूर्ण हैं अतः साधक-बाधक प्रमाणों के अभाव में, वाच्य एवं व्यङ्ग्य में से किसी एक के प्राधान्य का निश्चय नहीं हो पा रहा है । अतः प्रस्तुत पद्य सन्दिग्धप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

(4) "सविनयमपराभिसृत्य साचि स्मितसुभगैकलसत्कपोललक्ष्मीः ।
श्रवणनियमितेन तं निदध्यौ सकलमिवासकलेन लोचनेन ।।"

--किरात0 10/57

प्रस्तुत पद्य में तपश्चर्या में लीन अर्जुन का तपोभंग करने के लिये, प्रेषित एक सुरसुन्दरी के क्रिया-कलापों का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" एक (सुरसुन्दरी ने) विनय-पूर्वक, तिर्यक्-गति से समीप जाकर, सुभग मन्द-हास के कारण सुशोभित होते हुए कपोलों की कान्ति वाली होकर, कर्णपर्यन्त विस्तृत अर्द्धनिमीलित नेत्रों से उस (मुनि अर्जुन) को मानों सम्पूर्ण प्राप्त (वस्तु) के समान (अर्थात् ध्यानपूर्वक) देखा ।"

प्रस्तुत पद्य में अर्जुन का तपोभंग करने के लिये प्रेषित सुरसुन्दरी की क्रियाओं का वर्णन किया गया है, वह कामोद्दीपक क्रियाओं से अर्जुन का धैर्य-भंग करने का प्रयत्न कर रही है । "उसके हाव-भावों के प्रदर्शन से, अर्जुन का धैर्य-भंग करने रूप, उसके उद्देश्य की प्रतीति हो रही है" अतः वाच्यार्थ चमत्कार-पूर्ण है ।

प्रस्तुत पद्य के उत्तरार्द्ध में प्रयुक्त " तं निदध्यौ सकलमिवासकलेन लोचनेन" पदों के द्वारा यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि सुर-सुन्दरी अर्जुन का तपोभंग करने का प्रयत्न कर रही थी किन्तु विलास पूर्ण क्रियाओं का प्रदर्शन करते-करते तथा अर्जुन को देखने से वह स्वयं कामपीड़ित हो गई । अतः उत्तरार्द्ध के द्वारा व्यञ्जित " सुरसुन्दरी का कामपीड़ित होने के फलस्वरूप अर्जुन के पराधीन होना" रूप व्यङ्ग्यार्थ अत्यन्त चमत्कारपूर्ण होने के कारण प्रधान है ।

यहाँ वाच्य अथवा व्यङ्ग्य में से किसी एक का प्राधान्य विवक्षित है परन्तु दोनों के ही चमत्कार-पूर्ण होने के कारण साधक-बाधक प्रमाणों के अभाव में यह निश्चय नहीं हो पा रहा है कि "सुरसुन्दरी ने अर्जुन को धैर्यच्युत करने के लिये अर्धनिमीलित नेत्रों से देखा" रूप वाच्यार्थ प्रधान है, अथवा "सुरसुन्दरी स्वयं अर्जुन को देखकर कामपीड़ित हो गई" रूप व्यङ्ग्यार्थ प्रधान है ।

इस प्रकार यहाँ वाच्य एवं व्यङ्ग्य का प्राधान्य सन्देहास्पद है, अतः प्रस्तुत पद सन्दिग्धप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

।5। "अथवाऽऽध्वमेव ननु यूयमगणितमरुद्गणौजसः ।
वस्तु कियदिदमयं न मृधे मम केवलस्य मुखमीक्षितुं क्षमः ।।"

--शिशु0,15/64

प्रस्तुत पद्य में क्रुद्ध शिशुपाल स्वपक्षी राजाओं को युद्ध करने में समर्थ एवं कृष्ण को वध के योग्य बता रहा है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"अथवा देवताओं के पराक्रम को भी न गिनने वाले आप लोग ठहरें, ।चुप रहें। यह ।कृष्ण का वध रूप कार्य। क्या वस्तु है ? यह ।कृष्ण। युद्ध में केवल मेरा ही मुख देखने में समर्थ नहीं है ।"

प्रस्तुत पद्य में प्रयुक्त "अगणितमरुद्गणौजसः" पदों से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि " शिशुपाल पक्षीय राजा, देवताओं से भी अधिक पराक्रमी हैं ।" प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ चमत्कारपूर्ण होने के कारण प्रधान हो सकता है ।

प्रस्तुत पद्य के उत्तरार्द्ध में प्रयुक्त " मम केवलस्य मुखमीक्षितुः" पदों से व्यक्त वाच्यार्थ चमत्कार-पूर्ण है क्योंकि यह शिशुपाल की गर्वोक्ति

है कि, "कृष्ण मेरा ही मुख देखने में समर्थ नहीं है" अर्थात् कृष्ण का वध मेरे लिये ही अत्यन्त साधारण कार्य है । इस प्रकार प्रस्तुत वाच्यार्थ "मन की गर्वता का व्यञ्जक" होने के कारण चमत्कार-जनक है ।

यहाँ वाच्य अथवा व्यङ्ग्य में से किसी एक के प्राधान्य में कवि की विवक्षा है, परन्तु दोनों ही चमत्कार-जनक प्रतीत हो रहे हैं । अतः साधक-बाधक प्रमाणों के अभाव में, यह सन्देहास्पद है कि कवि की विवक्षा "शिशुपाल के ही कृष्ण-वध में समर्थ होने" रूप वाच्यार्थ में है, अथवा "शिशुपाल-पक्षीय राजाओं के देवताओं से अधिक पराक्रमी होने" रूप व्यङ्ग्यार्थ में है ।

इस प्रकार यहाँ व्यङ्ग्य एवं वाच्य का प्राधान्य सन्देहास्पद है, परन्तु वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ की समकालिक प्रतीति नहीं हो रही है वरन् वाच्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो रही है, अतः तुल्यप्राधान्य न होकर, प्रस्तुत पद्य सन्दिग्धप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

।6। "पटलमम्बुमुचां पथिकाङ्गना सपदि जीवितसंशयमेष्यती ।
सनयनाम्बुसखीजनसंभ्रमाद्विधुरबन्धुरबन्धुरमैक्षत ॥"

--शिशु० 6/29

प्रस्तुत पद्य में विरहियों को सन्तप्त करने वाली वर्षा-ऋतु का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"शीघ्र ही मरण को प्राप्त होती हुई ।अर्थात् आसन्नमरणा।, किसी प्रोषित-पतिका ने, अश्रु-पूर्ण नेत्रों वाली सखी जनों एवं क्षोभ के कारण व्याकुल बन्धु जनों वाली होती हुई, मेघों के समूह को, दीनता

के साथ देखा ।"

प्रस्तुत पद्य में किसी आसन्न-मरणा नायिका का प्रसंग होने के कारण प्रस्तुत वाच्यार्थ " दीनता-पूर्वक मेघ-समूह को देखा" चमत्कार-पूर्ण है , क्योंकि आसन्न-मरण व्यक्ति दीनता-पूर्वक आर की ओर देखता है । इस प्रकार प्रस्तुत वाच्यार्थ से "मरण का स्वाभाविक वर्णन सम्भव होने के कारण", चमत्कार-पूर्ण है ।

प्रस्तुत पद्य में प्रयुक्त " पटलमम्बुमुचां पथिकाङ्गना सपदि जीवितसंशयमेषती" पदों से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि " विरह-वेदना को सहने में असमर्थ नायिका की प्रस्तुत मरणावस्था मेघों के कारण ही हुई है , अतः उसने रोष-पूर्वक मेघों को देखा ।"

प्रस्तुत पद्य में वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ दोनों को समान रूप से कहने में कवि की विवक्षा नहीं है , अतः दोनों का तुल्यप्राधान्य नहीं है , परन्तु वाच्य एवं व्यङ्ग्य दोनों चमत्कार-पूर्ण हैं अतः साधक-बाधक प्रमाणों के अभाव में यह निश्चय नहीं हो पाता है कि यहाँ वाच्य अथवा व्यङ्ग्य में से किसका प्राधान्य विवक्षित है ।

इस प्रकार यहाँ चमत्कार-पूर्ण वाच्यार्थ के अनुसार प्रतीत होने वाले , चमत्कार-पूर्ण व्यङ्ग्यार्थ में से किसी एक की प्राधानता निश्चित न हो सकने के कारण , प्रस्तुत पद्य सन्दिग्धप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

171 "प्रचलतः सुतरामुदकम्पयद्विदलकन्दलकम्पनलालिताः ।

नमयति स्म वनानि मनस्विनीजनमनोनमनो घनमारुतः ॥"

—शिशु० 6/30

प्रस्तुत पद्य में वर्षा-ऋतु में प्रवाहित होने वाली तीव्र वायु

का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"विकसित कन्दली के पुष्पों को कम्पित करने से उपस्कृत, मनस्विनी जनों के मन को झुकाने वाली, मेघवायु ने प्रवासियों को अत्यधिक कम्पित करते हुये वन के वृक्षों को झुका दिया ।"

प्रस्तुत पद्य में, वर्षा ऋतु में प्रवाहित होने वाली तीव्र वायु का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य में प्रयुक्त " प्रवसतः सुतरामुदकम्पयत्" पदों से यह वाच्यार्थ निकलता है, कि " जो वायु कन्दली-पुष्पों को कम्पित कर वन के वृक्षों को झुका देती है, वही वायु अत्यधिक तीव्र एवं शीतल होने के कारण प्रवासियों को भी कम्पित कर देती है ।" इस प्रकार प्रस्तुत वाच्यार्थ " वायु की तीव्रता एवं शीतलता को व्यञ्जित" करने के कारण चमत्कार-जनक है अतः प्रधान हो सकता है ।

प्रस्तुत पद्य में प्रयुक्त " प्रवसतः सुतरामुदकम्पयत्" पदों से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि, " अत्यधिक तीव्र एवं शीतल वायु प्रियतमाओं से वियुक्त प्रवासियों को कामोन्मत्त बनाने के कारण, उन्हें व्याकुल बना देती है ।" प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ विरही-जनों के भावों को व्यक्त करने में समर्थ होने के कारण चमत्कार-जनक है, अतः प्रधान हो सकता है ।

प्रस्तुत पद्य में चमत्कार-पूर्ण वाच्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर, "कामोन्मत्तता के कारण प्रवासियों को व्याकुल बनाना" रूप चमत्कार-पूर्ण व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है । यहाँ पर वाच्य अथवा व्यङ्ग्य में से किसी एक का प्राधान्य व्यक्त करने की, कवि की विवक्षा है, परन्तु साधक-बाधक प्रमाणों के अभाव में किसी एक के प्राधान्य का निश्चय न हो सकने के कारण, प्रस्तुत पद्य सन्दिग्धप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

(8) " किमन्यदद्यापि यदस्त्रतापितः पितामहो वारिजमाश्रयत्यहो ।
स्मरं तनुच्छायतया तमात्मना शशाक शङ्के स न लङ्घितुं नलः ॥"

—नैषध० 1/47

प्रस्तुत पद्य में नल के शारीरिक-सौन्दर्य का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"और अधिक क्या (कहा जाय), जिस (कामदेव के अस्त्रों) से सन्तप्त पितामह ब्रह्मा आज भी (सन्ताप निवारणार्थ) कमल का आश्रय लेते हैं, अपने शरीर की छाया (प्रतिबिम्ब) होने के कारण उस कामदेव का, वह राजा नल मानों उल्लंघन करने में समर्थ नहीं हो सके ।"

प्रस्तुत पद्य के उत्तरार्द्ध में वर्णित वाच्यार्थ का यह तात्पर्य है कि " राजा नल का शारीरिक सौन्दर्य कामदेव की अपेक्षा अधिक है और कामदेव सौन्दर्य में नल की परछाईं स्वरूप है ।" यह जगत्प्रसिद्ध है कि स्वच्छाया अनुल्लङ्घनीय होती है । इस प्रकार " तनुच्छायतया" पद के द्वारा व्यक्त "नल का कामदेव की अपेक्षा अधिक सौन्दर्य" रूप वाच्यार्थ चमत्कार-जनक होने के कारण, प्रधान हो सकता है ।

इसी प्रकार पद्य के पूर्वार्द्ध में वर्णित है कि " जिस कामदेव के बाणों से सन्तप्त पितामह ब्रह्मा आज भी कमल का आश्रय लेते हैं", जिससे यह व्यङ्ग्यार्थ ध्वनित होता है कि -- " जिस कामदेव ने पितामह ब्रह्मा को भी इतना अधिक सन्तप्त किया कि वे आज भी सन्ताप निवारण के लिये, शीतल एवं ताप-निवारक कमल का आश्रय लेते हैं, वही कामदेव अपने प्रतिद्वन्द्वी नल को क्यों नहीं सन्तप्त करेगा ?" अर्थात् " जब कामदेव ने विधि को भी अत्यधिक सन्तप्त कर दिया,

तो राजा नल भले ही कितने धैर्यवान् हों, कामदेव के बाणों के प्रहार से अवश्य ही काम-सन्तप्त हो जायेंगे ।"

यहाँ वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ दोनों चमत्कारजनक होने के कारण प्रधान प्रतीत हो रहे परन्तु यहाँ वाच्य अथवा व्यङ्ग्य में से किसी एक का प्राधान्य कवि-विवक्षित है । साधक-बाधक प्रमाणों के अभाव में यह सन्देहास्पद है कि यहाँ वाच्यार्थभूत "कामदेव की अपेक्षा नल के अधिक शारीरिक-सौन्दर्य" का प्राधान्य है अथवा "ब्रह्मा के समान काम-सन्तप्त होना" रूप व्यङ्ग्यार्थ का प्राधान्य है । अतः प्रस्तुत पद्य सन्दिग्धप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

39। "लिपिं दृशा भित्तिविभूषणं त्वां नृपः पिबन्नादरनिर्निमेषम् ।
चक्षुर्भिरर्पितमात्मचक्षुरागं स धत्ते रचितं त्वया नु ॥"

-- नैषध 3/103

प्रस्तुत पद्य में राजहंस दमयन्ती को भी नल में अनुरक्त जानकर, दमयन्ती से नल की "चक्षु प्रीति" का वर्णन करते हुए कहता है कि राजा नल भी दमयन्ती में अत्यधिक अनुरक्त है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" वह राजा नल दीवार की अलंकार-स्वरूप, चित्रमयी (दीवार पर चित्रित) तुमको आदर-पूर्वक निर्निमेष नेत्रों से देखते हुए, (देखने के कारण) बहते हुए आँसुओं के द्वारा मानों तुमसे रचित आत्म-चक्षुराग (नेत्रों में उत्पन्न लालिमा) को धारण करते हैं ।"

प्रस्तुत पद्य में कवि ने उत्प्रेक्षा की है कि "दीवार पर चित्रित दमयन्ती को अपलक नेत्रों से देखने के कारण नल के अश्रुपूर्ण एवं

लालिमा युक्त नेत्रों में मानों दमयन्ती ने ही अनुराग के कारण लालिमा उत्पन्न कर दी है।" इस प्रकार "चित्र को निर्निमेष नेत्रों से देखने के कारण नेत्रों का अश्रुपूर्ण एवं लालिमा युक्त होना" रूप वाच्यार्थ चमत्कार-पूर्ण है।

प्रस्तुत चमत्कार-पूर्ण वाच्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर "राजा नल का दमयन्ती के प्रति अनुरागाधिक्य" रूप व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है, अर्थात् चित्रित दमयन्ती के प्रति भी अनुरागाधिक्य के कारण राजा नल के नेत्र अश्रुपूर्ण एवं लालिमा-युक्त हो गये। इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ भी चमत्कार-जनक है।

यहाँ वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ की समकालिक प्रतीति नहीं हो रही है। वाच्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो रही है। यहाँ व्यङ्ग्यार्थ का साधक प्रमाण कि "अनुरागाधिक्य के कारण ही नेत्र अश्रुपूर्ण एवं लालिमा-पूर्ण हैं, तथा वाच्यार्थ का बाधक प्रमाण कि -"निर्निमेष नेत्रों से चित्र को देखने के कारण, नेत्र अश्रुपूर्ण एवं लालिमापूर्ण नहीं हैं" प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है क्योंकि निर्निमेष नेत्रों से चित्र को देखने के कारण भी नेत्र अश्रुपूर्ण एवं लालिमा युक्त हो सकते हैं तथा अनुरागाधिक्य के कारण भी, चित्रित दमयन्ती को देखने के कारण नेत्र अश्रुपूर्ण एवं लालिमा युक्त हो सकते हैं।

इस प्रकार यहाँ यह,सन्देहास्पद है कि वाच्यार्थ का प्राधान्य है, अथवा व्यङ्ग्यार्थ का, अतः प्रस्तुत पद्य सन्दिग्धप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

॥10॥ "दृशौ किमस्याश्चपलस्वभावे न दूरमाक्रम्य मिथो मिलेताम् ।
न चेत्कृतः स्यादनयोः प्रयाणे विघ्नः श्रवः कूपनिपातभीत्या ।"

—नैषध0 7/34

प्रस्तुत पद्य में दमयन्ती के नेत्रों एवं कानों की सुन्दरता का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" इस दमयन्ती के चञ्चल स्वभाव वाले नेत्र दूर तक जाकर परस्पर मिल क्यों नहींजाते ? (अर्थात् अवश्य मिल जाते) यदि इन नेत्रों के जाने में, कान रूपी कुएं में गिरने का भय बाधा नहीं उत्पन्न करता ।"

प्रस्तुत पद्य के उत्तरार्द्ध में कवि ने उत्प्रेक्षा की है कि, "मानों कान रूपी कुएं में गिरने के भय से नेत्र आगे नहीं बढ़ रहे हैं ।" इस प्रकार प्रस्तुत वाच्य-भूता उत्प्रेक्षा के द्वारा "कानों का कूपवत् गाम्भीर्य" व्यक्त होता है, अतः वाच्यार्थ चमत्कार-जनक है ।

प्रस्तुत वाच्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर, यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि, "दमयन्ती के नेत्र कर्णान्त विशाल एवं चञ्चल हैं ।" प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ भी चमत्कार-जनक है ।

प्रस्तुत पद्य में वाच्य एवं व्यङ्ग्य दोनों चमत्कार-जनक प्रतीत हो रहे हैं, परन्तु साधक-बाधक प्रमाणों के अभाव में यह सन्देहास्पद है कि यहाँ " कानों का कूपवत् गाम्भीर्य" रूप वाच्यार्थ का प्राधान्य है, अथवा "नेत्रों की कर्णान्त विशालता एवं चञ्चलता" रूप व्यङ्ग्यार्थ का प्राधान्य है । अतः किसी एक के प्राधान्य का निश्चय न होने के कारण प्रस्तुत पद्य सन्दिग्धप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

बृहत्त्रयी में तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल --

आचार्य मम्मट के अनुसार " जहाँ चमत्कार को उत्पन्न करने में वाच्य एवं व्यङ्ग्य दोनों समान रूप से समर्थ होते हैं, वहाँ

वाच्य एवं व्यङ्ग्य की समान रूप से प्रधानता होती है,[1] अतः ऐसे स्थलों को तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल माना जाता है।"

ऐसे स्थलों पर चूंकि वाच्य एवं व्यङ्ग्य दोनों समान रूप से कवि-विवक्षित होते हैं[2], दोनों की समकालिक प्रतीति है, अतः वाच्य एवं व्यङ्ग्य दोनों को तुल्यप्राधान्य माना जाता है।[3]

ध्वनि-काव्य में केवल व्यङ्ग्य का ही प्राधान्य होता है, वाच्य व्यङ्ग्य का उपकारक होने के कारण अप्रधान होता है। अतः व्यङ्ग्य के समान वाच्य के भी प्रधान होने पर तुल्यप्राधान्य के स्थल, गुणीभूत-व्यङ्ग्य के स्थल माने जाते हैं।

।1। "अनुरत्युपहन्ति विग्रहः प्रभुमन्तः प्रकृतिप्रकोपजः ।
अखिलं हि हिनस्ति भूधरं तरुशाखान्तनिघर्षजोऽनलः ॥"

--किरात० 2/51

प्रस्तुत पद्य में वर्णित है कि क्रुद्ध भीम ने राज्य-प्राप्ति के लिये अवधि-समाप्ति की प्रतीक्षा किये बिना पुरुषार्थ करने के लिये

1- तुल्यप्राधान्यं तु तुल्यमधिकाप्येन समानं प्राधान्यं यत्र तत् ।
चमत्कारजनने वाच्यव्यङ्ग्ययोर्द्वयोरपि समत्वेन तुल्यता बोध्या ।

--का०प्र० बालबोधिनी टीका पृ० 190

2- समं प्राधान्यमिति । विग्रहवत् संवरप्यनर्थनिवारकत्वेन विवक्षितत्वादिति भावः ।

--का०प्र० बालबोधिनी टीका पृ० 210

3- वाच्यस्य . . . . व्यङ्ग्यस्य च समकालप्रतीत्या तुल्यं प्राधान्यमित्यर्थः ।

--का०प्र०बालबोधिनी टीका
--का०प्र० बाल चित्तानुरञ्जनी टीका पृ० 160

युधिष्ठिर को प्रोत्साहित किया , तब युधिष्ठिर ने समझाया कि असमय क्रोध करना अनुचित है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"अन्तरंग अमात्यादिकों के क्रोध से प्रादुर्भूत अल्प-मात्र भी विरोध (अर्थात् वैर) राजा का विनाश कर देता है , जैसे वृक्षों की शाखाओं के परस्पर संघर्ष से उत्पन्न अग्नि सम्पूर्ण पर्वत- प्रदेश को भस्म कर देती है ।"

प्रस्तुत पद्य में " अमात्यादिकों के क्रोध से उत्पन्न विरोध के कारण राजा का विनाश" रूप उपमेय वाक्य दार्ष्टान्तिक-वाक्य है एवं "शाखाओं के परस्पर संघर्ष से उत्पन्न अग्नि से भू-प्रदेश का भस्म होना" रूप उपमान वाक्य दृष्टान्त-वाक्य है, दोनों वाक्यों में सभी का बिम्ब -प्रतिबिम्ब भाव है । अतः वाच्यभूत "दृष्टान्त अलंकार" चमत्कार-जनक है ।

इस प्रकार वाच्यार्थ रूप दार्ष्टान्तिक वाक्य से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि " अहंकारी एवं मदोन्मत्त दुर्योधन के, अमात्यों के क्रोध से प्रादुर्भूत विरोध के कारण, दुर्योधन का विनाश अवश्यंभावी है ।"

यहाँ वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ पृथक-पृथक विश्रान्त हैं । वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ की समकालिक प्रतीति होती है , एवं वाच्य-व्यङ्ग्य दोनों समान रूप से चमत्कार-जनक हैं , अतः दोनो का समान रूप से प्राधान्य विवक्षित है । अतः प्रस्तुत पद्य तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

(2) "रम्या नवद्युतिरपैति न शाद्वलेभ्यः श्यामीभवन्त्यनुदिनं नलिनीवनानि ।
अस्मिन्विचित्रकुसुमस्तबकाचितानां शाखाभृतां परिणमन्ति न पल्लवानि ॥"

—किरात० 5/37

प्रस्तुत पद्य में हिमालय पर्वत की महिमा का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

" इस (पर्वत) पर तृण समूह अभिनव रमणीयता का परित्याग नहीं करता है , नीलकमल के वन अनुदिन (अर्थात् प्रतिदिन) नीलिमा की वृद्धि करते हैं , विविध प्रकार के पुष्प समूहों से समन्वित वृक्षों के पत्ते जीर्ण नहीं होते हैं ।"

अर्थात् हिमालय पर्वत पर प्रत्येक वस्तु की कान्ति , वृक्षों की हरीतिमा एवं पुष्प समन्वित होना रूप स्थिरता दिखाई पड़ती है ।

यहाँ पर " प्रस्तुत", प्रत्येक वस्तुगत कान्ति, वृक्षों की हरीतिमा एवं पुष्प समन्वित होना "स्थिरता" रूप "कार्य के वर्णन" से प्रस्तुत की भाँति, व्यङ्ग्य रूप "अप्रस्तुत-कारण", "कैलाश-पर्वत की असाधारण महिमा" का भी बोध होता है , अर्थात् प्रत्येक वस्तु सदैव कान्तियुक्त तथा वृक्ष सदैव फल , पुष्प एवं पल्लवों से युक्त नहीं रहते हैं परन्तु इसके विपरीत हिमालय पर्वत पर असम्भव कार्य दिखाई पड़ते हैं । अतः इसके पीछे अवश्य ही कोई न कोई महत्त्वपूर्ण कारण होगा । अतः प्रत्येक वस्तु के सदैव नवीनता-युक्त रूप में विद्यमान रहने के "कार्य-वर्णन" के समकालिक ही व्यङ्ग्य "कैलाश-पर्वत की असाधारण महिमा" का बोध होता है ।

प्रस्तुत पद्य में वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ की समकालिक प्रतीति हो रही है तथा दोनों का समान रूप से प्राधान्य विवक्षित होने के कारण,

प्रस्तुत पद्य गुणप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है ।

(3) "प्रतिबोधजृम्भणविभिन्नमुखी पुलिने सरोरुहदृशा ददृशे ।
पतदच्छमौक्तिकमणिप्रकरा गलदश्रुबिन्दुरिव शुक्तिवधूः ॥"

--किरात० 6/12

प्रस्तुत पद्य में वर्णित है कि तपस्या करने के लिए अर्जुन इन्द्रकील पर्वत पर पहुँचे , पर्वत की रमणीयता ने अर्जुन को मन्त्रमुग्ध कर दिया । प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है --

"कमल के सदृश नेत्र वाले अर्जुन ने , पुलिन प्रदेश में , निद्रा परित्याग के कारण जम्हाई लेती हुई अतएव विवृत मुख वाली चारों ओर फैलती हुई मौक्तिक मणि की किरणों वाली अतएव , मानों प्रवाहित होते हुए अश्रु बिन्दु (ओस-कणों) वाली सीप रूपी वधू को देखा ।"

प्रस्तुत पद्य में मणि की कान्ति से देदीप्यमान सीप का वर्णन किया गया है, जिसका वधू के साथ साम्य प्रस्तुत किया गया है । यहाँ "शुक्तिवधूः" पद में "उपमा एवं रूपक अलंकार" का सन्देह है । साधक-बाधक प्रमाणों के अभाव में किसी भी अलंकार की स्थिति स्पष्ट नहीं है कि , किस अलंकार को वाच्य एवं किस अलंकार को व्यङ्ग्य माना जाय । यहाँ पर "शुक्तिः एवं वधूः" इस प्रकार विग्रह करने पर शुक्ति पर वधू का अभेदारोप रूप रूपक एवं " शुक्ति वधूः इव" इस प्रकार विग्रह करने पर " शुक्ति का वधू के साथ औपम्य" रूप , उपमा अलंकार हो सकता है ।

प्रस्तुत पद्य में कुछ विशेषण " पूर्वपद-प्रधान उपमा" के पक्ष में एवं कुछ विशेषण " उत्तरपद-प्रधान रूपक" के पक्ष में घटित होते हैं , साथ